ऋग्वेद में गो-तत्त्व

(Conception of Cow in the Rigveda)

[राज. विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक

डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

१९७६

अर्चना प्रकाशन, अजमेर

ऋग्वेद में गो-तत्त्व

(Conception of Cow in the Rigveda)

[राज. विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक

डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

१९७६

अर्चना प्रकाशन, अजमेर

ऋग्वेद में गो-तत्त्व

*

मूल्य—[illegible]सौ रुपये मात्र

*

प्रकाशन वर्ष 1976

*

प्रकाशक
डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

*

वितरक
अर्चना प्रकाशन, अजमेर,

*

मुद्रक
अर्चना प्रकाशन,
1, काला बाग, अजमेर [राजस्थान]

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

विषय-परिचय

वेद को विश्वात्मक ज्ञान कहा गया है। उसमें प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर सृष्टि प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया गया है। इस कार्य के लिए कहीं मानव प्रतीकवाद का आश्रय लिया है और कहीं पशु-प्रतीकवाद का। वैदिक दृष्टिकोण से पुरुष, अश्व, गो, अजा और अवि-ये पाँच पशु मेध्य-पवित्र हैं; परन्तु सृष्टि प्रक्रिया में इनमें से केवल पुरुष, अश्व और गो को ही प्रतीक के रूप में अपनाया गया है। पुरुष को प्रतीक मान कर सर्वहुत्-यज्ञ के रूप में सृष्टिविद्या का व्याख्यान किया गया है तो अश्व को प्रतीक मान कर अश्वमेध द्वारा सृजन-प्रक्रिया का वर्णन हुआ है। इसी तरह सृजनमात्र को गति मान कर गो प्रतीक द्वारा सृष्टि का वर्णन भी वेद का विषय है। गति का व्यंजक गो शब्द ही वहां प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। गो शब्द पशुविशेष के अर्थ में भी रूढ़ हो गया है। अत: व्यावहारिक दृष्टि से कहीं-कहीं गोपशु को भी प्रतीक माना जा सकता है। ऐसा करने पर गो शब्द द्वारा संकेतित गति के जिन सूक्ष्म रूपों की ओर साधारणतया ध्यान नहीं जा पाता, पशु-गो के वस्तुप्रतीक द्वारा वे भी बोधगम्य हो जाते हैं। इस प्रबन्ध में अद्यावधि प्राप्त प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में प्रयुक्त गो शब्द के प्रतीकात्मक स्वरूप का अध्ययन किया गया है

ऋग्वेद में कुछ स्थलों पर दृष्टान्तादि के रूप में अन्य लौकिक-पदार्थों की तरह गो को भी लिया गया है। ऐसे स्थलों को छोड़ कर शेष सर्वत्र गो प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। प्रतीकात्मक अर्थों के साथ-साथ उन स्थानों पर गो-पशु की महिमा भी कभी-कभी व्यंजित हुई है। गो की भारतीय लोक-जीवन में प्रतिष्ठा को देखते हुए गो के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाले ऋग्वेद के इन स्थलों का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार गो-विषयक प्रस्तुत प्रबन्ध में तीन उद्देश्य अध्येता के सामने रहे हैं—1, स्पष्ट रूप से अथवा व्यंजना से गो की महिमा पर प्रकाश डालने वाले सभी स्थलों का अध्ययन करना और इस प्रकार परवर्ती-साहित्य व लोक जीवन में गो की पवित्रता, पूजनीयता आदि के विषय में चले आने वाले विश्वास का मूल आर्यजाति के आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद में से निकाल कर प्रस्तुत करना; 2. ऋग्वेद में गो के प्रतीकात्मक स्वरूप का विवेचन करना और 3. गोप्रतीक द्वारा व्याख्यात वैदिक-सृष्टिविद्या का अध्ययन करना।

इस प्रबन्ध में अध्ययन को ऋग्वेद तक ही सीमित रक्खा गया है, परन्तु ऋग्वेद की विचारधारा की पुष्टि में अन्य संहिताओं—विशेषतया अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों और पुराणों से यथास्थान सहायता ली गई है।

विषय का महत्त्व तथा उसके अध्ययन की आवश्यकता

गाय की पवित्रता में विश्वास भारतीयता की प्रमुख विशेषता है। भारत में गाय को राष्ट्रीय-एकता का प्रतीक तक मान लिया गया है। परिवार में वह पारिवारिक-सदस्य के समान ही आदर की अधिकारिणी होती है, समाज में उसे मातृत्व का सम्मान मिला है, धार्मिक कार्यों में गोदुग्ध, दधि, घृत, गोमयादि का प्रचुर रूप में प्रयोग होता है। गोदान के बिना कोई भी धर्म-कार्य पूर्ण नहीं माना जाता। गो की इस लोक में पोषण करने वाली माता व स्वर्ग प्राप्ति में सहायक होने वाले-देवता के रूप में लोकमानस में प्रतिष्ठा हो चुकी है। भारत की तरह ईरान में भी गो को पवित्रतम पशु मान कर, धर्मकार्यों में गव्यों का उपयोग होता है। पारसी लोग निरंगदीन उत्सव में वृषभमूत्र को अभिमन्त्रित करते हैं और उसकी पूँछ के बाल को अंगूठी में रख कर कर्मकाण्ड में प्रयुक्त करते हैं। उनमें 'गओमस्त जस्त' अर्थात् घी, दूध आदि से भरे हुए हाथ के लिए कामना की जाती है। भारत और ईरान इन दोनों ही स्थानों पर गो के विषय में चले आने वाले इन विचारों का मूल स्रोत ऋग्वेद ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद के समान ही पारसियों के धर्मग्रन्थ 'ज़ेन्द अवस्ता' में गो को जीवन की आत्मा और सम्पूर्ण विश्व की जीवन सत्ता का प्रतीक माना गया है। अतः गो की दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन भारत की सांस्कृतिक विचारधारा को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

आधुनिक काल में गो पर पर्याप्त लिखा गया है। इसका सूत्रपात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'गोकरुणानिधि' नामक छोटी सी पुस्तिका में गो के आर्थिक महत्त्व पर प्रकाश डालकर किया। इस विषय पर गो सेवी-संस्थाओं की ओर से सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र लेख प्रकाशित होते रहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के गो महिमा को प्रकाशित करने वाले स्थलों की व्याख्या भी कल्याण आदि धार्मिक पत्रों में होती रहती है। गो पर निकलने वाले विशेषांकों में विषय-सामग्री की दृष्टि से कल्याण का गोअंक अपना विशेष स्थान रखता है। गो सम्बन्धी सामग्री के संकलन का ऐसा ही महत्त्वपूर्ण कार्य 'गोसंवर्द्धन संस्था, पूना' द्वारा हुआ है जिसके फलस्वरूप पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का 'गोज्ञानकोश' प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में वैदिक संहिताओं में आये हुए गो सम्बन्धी सभी उल्लेखों का संकलन है। दो खण्डों में प्रकाशित यह ग्रन्थ पशु-गो के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। 'वेदवाणी,' वैदिक 'धर्म' आदि पत्रों में भी गो-विषयक लेख प्रकाशित हुए हैं।

गो के रहस्यवादी व प्रतीकात्मक स्वरूप की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, पं० मधुसूदन झा, पं० मोतीलाल शर्मा डा० फतहसिंह, पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, डा० सुधीर कुमार

गुप्त, पं० जयदेव विद्यालंकार, श्री कपालिशास्त्री आदि विद्वानों ने गो शब्द के धात्वर्थ गति, गतितत्त्व, सर्जन और गति की अभिन्नता, गो सम्बन्धी रहस्यवाद, गो के मातृत्व आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने उरुज्योति, वेदविद्या, कल्पवृक्ष, Sparks from the Vedic fire तथा Vision in the Long Darkness आदि ग्रन्थों व अनेक निबन्धों में गो के रहस्य पर प्रकाश डाला है। उन्होंने वेदाध्ययन की एक विशेष-परम्परा की ओर भी संकेत किया है, जिसमें किसी विशेष प्रतीक का आश्रय लेकर स्वतंत्र-विद्या के रूप में अध्ययन किया जाता था। ऐसी विद्याओं में गो-प्रतीक को लेकर चलने वाली विद्याएँ गोविद्या, विराज्विद्या, अदिति विद्या, गोष्टोम विद्या आदि थीं।

म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, सर जॉन वुडरफ आदि ने तंत्र-शास्त्र पर विचार करते समय गो, अदिति आदि को ब्रह्म की सर्जन शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। डा० फतहसिंह ने भी 'वैदिक-दर्शन' तथा A Quest into the mysteries of Vak in Vedic Literature' ग्रन्थों में यही दृष्टिकोण अपनाया है।

वेदार्थ के आधुनिक सम्प्रदाय में ऋग्वेद में गाय को एक मात्र पशु रूप में लिया जाता है। इस दृष्टि के प्रतीकात्मक दृष्टि से भेद को देख कर दोनों की यथार्थता को आँकने की एक आकुल जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वैसे भी गो पर सम्पन्न हुआ उपर्युक्त कार्य क्रमबद्ध और सर्वाङ्गीण नहीं है। इस कारण गो विषयक समन्वयात्मक, क्रमबद्ध, सर्वाङ्गीण अध्ययन की आवश्यकता थी जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्ण करता है।

अपि च, वेद की विचारधारा को समझने के लिए उसकी प्रतीकात्मक शैली को समझना बड़ा आवश्यक है. गो, अश्व, पुरुष आदि प्रमुख प्रतीकों को आधार मान कर वैदिक संहिताओं का अध्ययन करने पर प्रतीकात्मक-शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से सृष्टि-विद्या पर भी प्रभूत प्रकाश पड़ता है। दर्शन की बहुत सी गुत्थियों का भी प्रतीकों का स्वरूप स्पष्ट होने पर सुलझना सम्भव है।

अतः वैदिक दर्शन के अध्येताओं को यह आवश्यकता भी सतत अनुभव हुई है कि वैदिक-पशु-प्रतीकवाद का सम्यक् अध्ययन हो। विद्वानों का कहना है कि वेदों के विषय में अब तक जो विविध-दृष्टिकोण सामने आये हैं, वे सम्पूर्ण रूप से वैदिक विचारधारा को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं, कभी-कभी तो वे परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। अतः वैदिक प्रतीकवाद के अध्ययन से इस विषय में प्रामाणिक सामग्री की उपलब्धि की और वेदों के विषय में एक तथ्यपूर्ण समन्वयात्मक दृष्टिकोण के विकास की परम आवश्यकता है। प्रस्तुत निबन्ध इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक प्रयास है।

विषय की मौलिकता

यद्यपि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है बहुत से विद्वानों ने गो के स्वरूप पर

प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है; परन्तु वैदिक संहिताओं का क्रमिक-अध्ययन करके गोतत्त्व पर विचार करने का कार्य अभी तक नहीं हुआ है। इस दृष्टि से प्रथम बार इस प्रबन्ध में ऋग्वेद संहिता का गो को केन्द्र मान कर अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त—

1 इस प्रबन्ध में ही सर्वप्रथम गो के वैदिक स्वरूप का व्यापक अध्ययन किया गया है।

2 इसी प्रबन्ध में सर्वप्रथम पशु रूप में गो के विषय में ऋग्वेदिक ऋषियों की विचारधारा का क्रमबद्ध वर्णन दिया गया है।

3 इसी में सर्वप्रथम गो के वाणी, इन्द्रिय, पृथिवी, रश्मि आदि अर्थों की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संगति दिखाई गई है।

ऋग्वेद के गोसूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए इसी प्रबन्ध में सर्व-प्रथम अत्यन्त विस्तार से गो से अन्य देवों के सम्बन्ध का वर्णन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

5 इसी प्रबन्ध में सर्वप्रथम गो के रहस्यात्मक-पक्ष को व्यक्तिकरण सहित उपस्थित किया गया है।

6 यज्ञ और गो के सम्बन्ध को अद्यावधि इसी प्रबन्ध में सविस्तार दिया गया है। इस अध्ययन में यह भी व्यक्त हुआ है कि गो से प्राप्त पदार्थों का ही यज्ञ में उपयोग अभीष्ट है।

7 इस ग्रन्थ में प्रतीकों का स्वरूप-विवेचन करते हुए शब्द-प्रतीक के महत्त्व को भी प्रस्तुत किया गया है। ध्वनि, अक्षर या स्वर के श्लेष से शब्द-प्रतीक में अर्थ गौरव आ जाता है। अत: गो को शब्द प्रतीक ही माना गया है यद्यपि व्याव-हारिक-दृष्टि से उसे वस्तुप्रतीक भी यत्रतत्र स्वीकार कर लिया गया है।

8 इस प्रबन्ध में ही सर्वप्रथम गो को वैदिक-साहित्य में सृजन-क्रिया की प्रतीक के रूप में स्वीकार करके उसके शब्द प्रतीक व वस्तु प्रतीक से व्यंजित अर्थों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

9 इसी प्रबन्ध में सर्वप्रथम स्वायंभुवी-गो, विराज्-गो, विष्णुगवी या कामगवी, सौरी-गो, रौद्री गो, आग्रेयी-वासवी गो, पंचनाम्नी गो, यज्ञपदी गो, सहस्राक्षरा गो, महाधेनु आदि के स्वरूप का तत्त्व व्यक्त किया गया है। यहां गो के दोहनों पर भी विस्तार से विवेचन किया गया है।

10 एक परिशिष्ट में अवेस्ता के गो सम्बन्धी प्रसंगों को उपस्थित करते हुए यह दिखाया गया है कि अवेस्ता में भी गो को सर्जक शक्ति का प्रतीक माना गया है।

11 अन्य परिशिष्टों में अथर्ववेद के वशा, विराज्; ब्रह्मगवी, विश्वरूपा, शतौदना, अनड्वान् आदि के सूक्तों का अध्ययन करते हुए सर्वप्रथम यह सिद्ध किया गया है कि अथर्ववेद के इन सूक्तों के रहस्यात्मक-वर्णन का आधार ऋग्वेद है।

इस विषय से वर्तमान ज्ञान की अभिवृद्धि

इस प्रबन्ध में दिखाया गया है कि गो शब्द पृथिवी, वाक्, इन्द्रिय, प्राण, प्रकृति आदि का प्रतीक है। गति सृजन का ही रूप है और गति से शब्द होता है। अतः प्रत्येक प्रकार का सृजन गति और वाक् से अभिन्न है। इस रूप में गो ब्रह्म की शक्ति की द्योतक है। सृजन के क्षेत्र पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड हैं जिनमें शक्ति समानान्तर स्तर पर विविध रूपों में क्रियारत रहती है। शक्ति का यह रूप गो के मातृत्व का द्योतक है जिससे चैतन्य सीमाबद्ध होकर पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है। गोपशु का वात्सल्य–भाव शक्ति के मातृत्व की कल्पना को बोधगम्य बना देता है।

गो शब्द और गो पशु के प्रतीक भाव का अध्ययन वैदिक–सृष्टि–विद्या पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इससे पुरुष, अश्वादि अन्य प्रतीकों के अध्ययन को प्रेरणा मिलेगी और इस प्रकार यह प्रबन्ध वैदिक प्रतीकों के माध्यम से सृष्टि विद्या के अध्ययन का प्रेरणास्रोत होगा।

इस प्रबन्ध में गो के सांस्कृतिक महत्व और उसके मूल कारणों का अध्ययन किया गया है। अतः इसके द्वारा भारतीयों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को जानने व परखने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। इससे वैदिक अध्ययन–परम्परा की एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। साथ ही इसमें भारत के राष्ट्रीय प्रतीक गो के विषय में ऋग्वेद का दृटष्किोण स्पष्ट हो जाता है। गो भारत का राष्ट्रीय-प्रतीक क्यों बना व उसको प्रतीक मानने में कौनसी मूलभूत प्रवृत्ति काम कर रही है ? आदि विषयों को जान लेने पर देशवासियों में संस्कृति राष्ट्रीयता के विषय में एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होगा और इस प्रकार यह प्रबन्ध राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता का एक सुदृढ़ आधार तैयार करने में सहायक होगा।

इस प्रबन्ध से वैदिक व्याख्यान परम्परा में तो अभिनव योग मिलेगा ही साथ ही भारतीय, विशेषत: वैदिक प्रतीकवाद को समझने में इस प्रबन्ध का योग महान् होगा।

इस प्रबन्ध में व्याख्यात शब्द की प्रतीकात्मक-परम्परा का विस्तार से अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रबन्ध भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण विचारों का प्रेरक होगा।

अवेस्ता में व्याख्यात गोतत्त्व पर नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किए जाने से यह प्रबन्ध प्रतीक भावों की दृष्टि से वेद व अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करेगा।

इस प्रबन्ध में गो व यज्ञ का सम्बन्ध भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों क्षेत्रों में प्रदर्शित किया गया है, इससे यज्ञ के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। यह प्रतीक-यज्ञ के आधार प्राकृतिक व आध्यात्मिक यज्ञों के स्वरूप का विवेचन भी करता है। इस प्रकार यह प्रबन्ध यज्ञ-तत्त्व को समझने में भी प्रभूत रूप में सहायक होगा।

अध्यात्म की दृष्टि से वेद के अध्ययन के प्रसार में भी इस प्रबन्ध का महत्व-पूर्ण योग होगा।

प्रबन्ध का सारांश

यह कृति 10 अनुच्छेदों में विभाजित है। अध्ययन का क्रम ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना है और इस प्रकार गो के स्थूल स्वरूप का अध्ययन करते हुए उसके प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक स्वरूप का विवेचन किया गया है। प्रत्येक अनुच्छेद का सारांश क्रमशः इस प्रकार है—

प्रथम अनुच्छेद

इसमें गो की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय साहित्य में उसके मातृत्व, दिव्यत्व आदि का व्याख्यान मिलता है। इस प्रकार के विचारों का आधार ऋग्वेद में भी मिल जाता है। गो को ऋग्वेद में सभी देवताओं की—विशेषतया रुद्रों और मरुतों की माता कहा गया है। ऋग्वेद में गो के मातृत्व के विषय में यह स्पष्ट संकेत परवर्ती साहित्य के लिए प्रेरणा का विषय बन गया और यही कारण है कि साहित्य की सबल परम्परा से प्रभावित लोक-जीवन में गो के मातृत्व की प्रतिष्ठा हुई। ऋग्वेद में गो की दिव्यता दो प्रकार से प्रकट हुई है, प्रथमतः गो को प्रायः सभी देवताओं से सम्बद्ध दिखाया गया है और द्वितीयतः स्वयं गो को देवता माना गया है। वह तीन पूरे सूक्तों की तथा कुछ अन्य मन्त्रों की देवता है। ऋग्वेद के गो सम्बन्धी उल्लेखों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ सर्वत्र गो के पशु रूप का ही सर्वत्र व्याख्यान नहीं है, वरन् गो शब्द द्वारा सृष्टि के आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। आगे के अध्ययन से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि ऋग्वेद में गो का प्रतीकात्मक वर्णन है।

द्वितीय अनुच्छेद

इसमें आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के इस मत को, कि वेद में आद्योपरान्त एक शब्द एक ही रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, स्वीकार न करते हुए भी यह माना गया है कि वेद में स्वरचिह्न लगाकर शब्द को किसी विशेष अर्थ में रूढ़ करने की प्रवृत्ति मिलती है। शब्दों का निर्माण साधारण संवेदनाओं को भी व्यक्त करने वाली ध्वनियों से हुआ है। शब्द में प्रयुक्त अनेक ध्वनियों में से बलयुक्त ध्वनियाँ ही शब्द का अर्थ निर्धारण करती हैं। अन्य ध्वनियाँ परस्पर अनुकूलन व्यापार द्वारा उस अर्थ को पुष्ट करती हैं। किसी ध्वनि का बल दूसरी ध्वनि पर अपसरित हो जाने पर शब्द का अर्थ दूसरी ध्वनि के अनुसार हो जाता है। इस प्रकार वर्ण-समानता बनी रहने पर भी भिन्न अर्थों को देने वाले शब्द ध्वनि-बल के अनुसार भिन्न-भिन्न ही होंगे। 'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते'—इस श्लेष अलंकार की परिभाषा के अनुसार वर्णसाम्य के कारण भिन्न अर्थों को देने वाले अनेक

शब्द एक श्लिष्ट-पद का रूप धारण कर लेते हैं। वेदों में न केवल श्लिष्ट पदों के

ऐसे उदाहरण ही देखने को मिलते हैं, वरन् वहाँ तो ध्वनि के बल को सूचित करने वाले स्वरों का भी श्लेष देखा जाता है। निर्बल स्वर उदात्त स्वर में अपना अस्तित्व खो देते हैं। इस मान्यता को उपस्थित करते हुए आगे यास्क द्वारा स्वीकृत गो शब्द के विविध अर्थों और गो के पर्यायवाची शब्दों पर विचार किया गया है। गो शब्द की अनेकार्थकता और पर्यायवाची शब्दों के मूल में गो शब्द का धात्वर्थ गति है। यहाँ यह भी प्रतिपादित किया गया है कि गति के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करने वाले अनेक गो शब्द समान वर्ण के होने के कारण एक शब्द में आश्लिष्ट हो गए है। इसीलिए गो शब्द के अनेक अर्थ दिखलाई पड़ते हैं। पर्यायवाची शब्द पदार्थ को केन्द्र मान कर उसके विभिन्न गुणों को प्रकट करते हैं अन्त में इस अनुच्छेद में गो शब्द से बनने वाले शब्दों पर भी विचार किया गया है।

तृतीय अनुच्छेद

इसमें गो शब्द से रूढ़ि से प्राप्त पशु अर्थ पर विचार किया गया है। ऋग्वेद में गो का सम्पत्ति के रूप में उल्लेख है। उसके दुग्ध, घृतादि को अमृत की संज्ञा दी गई है। उसके दुग्ध, घृत, दधि चर्म, तांत आदि के उपयोग भी बताए गए हैं। गो की उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए उसको पालने के लिए कहा गया है। उसके मातृत्व की दृष्टि मे उसे अघ्न्या कह कर उसकी हिंसा का निषेध किया गया है। यहां यह भी बताया गया है कि गो का परिपक्व भाग होने से दुग्ध, घृतादि ही खाद्य हैं और यज्ञ में उपयोग किए जाने योग्य हैं। गाय का अपरिपक्व भाग—मांस सामान्यतया अभक्षणीय माना गया है। गो के लिए युद्ध करना धर्म था। ऋग्वेद में गो को पुष्ट करने, सुखकर चरागाह में चराने, गोष्ठ में बन्द करने, कुशल हाथों से दुहने और उनकी रक्षा के लिए वीर पुरुषों की नियुक्ति करने सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में गोपशु की वे समस्त विशेषताएं आ गई हैं जिनसे उसे परवर्ती काल में भारत के सांस्कृतिक व धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा मिली।

चतुर्थ अनुच्छेद

इसमें ऋग्वेद के गो देवता के सूक्तों व मंत्रों का विश्लेषण किया गया है। इन सूक्तों और मंत्रों के अनुसार अंगिराओं के तप से गौओं का उद्भव हुआ, पितरों की सम्मति से प्रजापति ने गौएं मनुष्यों को दीं, देवगण उनका पालन करते व उन्हें नीरोग रखते हैं, उनके गमनमार्ग सदा सुरक्षित रक्खे जाते हैं, पूषा उनकी रक्षा करता व उनको नष्ट होने से बचाता है। एक सूक्त में गो शब्द से व्यंजित विशिष्ट गतियों का उल्लेख मिलता है जिनका पर्यवसान मानसिक-गति अर्थात् संज्ञान में दिखाया गया है। यज्ञीय गो-संज्ञपन क्रिया का संज्ञान से सम्बन्ध प्रतीत होता है। इन सूक्तों में घृत के गुह्य नामों, वृषभ के अद्भुत स्वरूप आदि का भी उल्लेख हुआ है। गो के पद, उसका मातृत्व, प्रतीक व स्वसृत्व, सहस्राक्षरा रूप आदि अनेक बातें

इन सूक्तों में आई हैं। ये सब स्थल गो के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले हैं, जिनका विवेचन आगे यथास्थान हुआ है।

पंचम अनुच्छेद

इसमें गो व अन्य देवताओं के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। देवताओं के लिए गो सुमधुर हव्य प्रदान करती है। गो से प्राप्त होने वाले अन्न दो प्रकार के होते हैं–प्रथम, गो से सीधे प्राप्त होने वाले दुग्ध घृतादि और दूसरे गो के बछड़ों के द्वारा खेत से उत्पन्न किए गए जौ आदि। कदाचित् इन्हें ही क्रमशः वशान्न और उक्षान्न कहा गया है। यह तो गो का पोषक हविर्दुघा रूप हुआ। इसके अतिरिक्त गो देवताओं की माता है, स्वसा है और पुत्री है। इन्द्र, मरुत्, बृहस्पति, अंगिरादि के लिए गौएं विजय करने योग्य हैं, जिन्हें वे वृत्र, बल अथवा पणियों के निरोध-स्थानों से मुक्त कर देते हैं। सभी देवता गौओं को पुष्ट करते व उनका पालन करते हैं। वे अप्रसूता गो को प्रसूता बनाते हैं और अपरिपक्व गौओं में परिपक्व दूध रखते हैं। देवता गोदान भी करते हैं।

षष्ठ अनुच्छेद

इसमें बताया गया है कि गो पशु व अन्य देवताओं का हविर्यज्ञों द्वारा जुडता है तथा हविर्यज्ञों का विस्तार वैदिक मंत्रों मे वर्णित आधिदैविक और आध्यात्मिक यज्ञों के अनुकरण पर होता है, जिसे रूप समृद्धि कहा जाता है। गो को हविर्यज्ञ की प्रतिष्ठा कहा जाता है। इन यज्ञों में गो की अग्रपूजा का उल्लेख मिलता है, उनको हवि खिलाई जाती है और सोम पिलाया जाता है। गो को देवताओं के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस कार्य को आलम्भ या समालम्भ कहते हैं। गो प्रमुख रूप से इन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है। उसके दुग्ध, घृतादि से क्षीरोदन, करम्भ, यवाशिर, गवाशिरादि, व्यंजन तैयार करके यज्ञ में देवताओं को अर्पित किए जाते हैं। विशेष यज्ञों में गो के विशेष प्रयोग पर भी विचार किया गया है।

सप्तम अनुच्छेद

इसमें ऋग्वेद के उन प्रसंगों का विवेचन किया गया है जिनमें गो के रहस्यात्मक स्वरूप की ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संकेत मिलता है। गो को ऋभुओं ने बनाया, त्वष्टा ने उसके स्वरूप का निर्माण किया, इन्द्र ने अर्क द्वारा सृजन किया, वसुओं ने उनको जन्म दिया, उषा ने अपनी ज्योति से गौओं को जन्म दिया आदि गो-जन्म सम्बन्धी उल्लेख गो के रहस्यात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गो के अनेक पदों वाले और अनेक सींगों वाले रहस्यात्मक शरीर का वर्णन भी मिलता है। चार सींगों, तीन पादों, दो सिरों और सात हाथों वाले अथवा सहस्र शृङ्गों वाले वृषभ का वर्णन भी मिलता है। अथर्ववेद में गो के रहस्यमय सर्वदेव शरीर का वर्णन है। उसके सबदुर्घा, कामदुघा, तुरीया आदि नाम तथा

सात या इक्कीस गुह्यनाम भी उसके रहस्यात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गा के रहस्यमय वत्स हैं, उसका रहस्यात्मक दोहन चलता है तथा अग्नि, इन्द्रादि की ओर वह रहस्यात्मक ढङ्ग से गति करती है। उसके दुग्ध, घृतादि भी रहस्यमय हैं।

अष्टम अनुच्छेद

ऋग्वेद में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शैली और विविध प्रतीकों का परिचय दिया गया है। साथ ही शब्द प्रतीक का महत्व प्रदर्शित करते हुए गो को शब्द-प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया है। पहले कहा जा चुका है कि गो में विविध गतियों के सूचक अनेक शब्द आश्लिष्ट हैं। अतः गो शब्द अनेक भावों को मूर्त आधार देने वाला बन गया है। साधारण शब्द, जो नित्यप्रति व्यवहार में आते हैं, भी भावों को मूर्त आधार प्रदान करने के कारण प्रतीक कहे जा सकते हैं परन्तु रहस्यवादी विचारों या विशिष्ट भावों को व्यक्त करने के लिए समर्थ प्रतीक ही अपनाए जाते हैं, ः थत भाव के अकथित सत्य को भी स्पष्टता-पूर्वक व्यंजित कर सकें। गो एक ऐसा ही शब्द-प्रतीक माना गया है। ऋग्वेद में कहीं कहीं व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामंजस्य बनाए रखने के लिए गो को वस्तु-प्रतीक भी माना जा सकता है। ऋग्वेद में गो रश्मि, प्रकाश, प्रकाशमान् जल, प्रकाशदाता सूर्य, दिन आदि के प्रतीक के रूप प्रयुक्त हुआ है। भौतिक जगत् जैसा प्रकाश प्रज्ञारश्मि, धी आदि के रूप में ज्ञानेन्द्रियों का विषय बन कर आध्यामिक-जगत् में भी विद्यमान रहता है। गो शब्द सृष्टि की कारणभूता, प्रकृति का प्रतीक भी है। वस्तु-प्रतीक के रूप में वह मातृत्व का प्रतीक है।

नवम अनुच्छेद

इसमें प्रदर्शित किया गया है कि गो शब्द जिन प्रतीकात्मक अर्थों को सूचित करता है वे पिण्ड और ब्रह्माण्ड से एक साथ सम्बद्ध होते हैं। यहाँ 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' सूत्र बड़ी सहायता करता है जिसके अनुसार मानव शरीर ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। इन दोनों मे कार्य-व्यापार एक दूसरे के समानान्तर चला करता है। गो अपने धात्वर्थ गति के साथ स्थिति का द्योतक भी है, इसलिए उसे प्रतिष्ठा-प्राण भी कहा जाता है। पंचनाम्नी गो के दोहों का विस्तार परमेष्ठी-मण्डल से लेकर पृथिवी-मण्डल तक हो रहा है और इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि–प्रक्रिया की प्रवर्तक और सृष्टि-यज्ञ की प्रतिष्ठा बनी हुई है। ऋग्वेद में गो व वृषभ दोनों अभिन्न व अग्नि रूप हैं। गो शब्द का उभयलिंगी होना भी महत्त्व रखता है। अथर्ववेद की पंचनाम्नी गो को ऋग्वेद में 'पंचोक्षा' कहा गया है। स्वयंभू मण्डल में स्वायंभुवी या बार्हस्पत्या गो, परमेष्ठी मण्डल में पारमेष्ठिनी गो, सूर्यमण्डल में सौरी गो, अन्तरिक्ष में रौद्री गो और पृथिवी-मण्डल में वासवी या आग्नेयी गो प्रतिष्ठा प्राण के ही नाम हैं। शरीर में पंच कोशों में यह प्राण सत्ता ही पंचधा विभक्त होकर व्याप्त है। प्रतिष्ठा का आधार इट् नामक सौम्य अन्न है। इट नामक अन्न से संयुक्त होने के कारण ही गो को इड़ा कहा गया है। गो का रौद्र—अन्नाद रूप इट् का भक्षण करता है।

अदिति के 'अत्ति' और 'अद्यते' व्युत्पत्तियों के आधार पर भक्षिका और भक्षणीय रूप इड़ा और रौद्र ज्ञात होते हैं। वस्तुतः एक सृजक प्रकृति या वाक् रूप गो ही इन विभिन्न रूपों में स्वयं को विभाजित करके सृजन कार्य कर रही है जिसे एक ऋषि, एक गो या केवली-गो कहा जा सकता है।

उपसंहार के रूप में दशम अनुच्छेद में

ऋग्वेद के गो सम्बन्धी विचारों का सार प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेद के विचारों की परवर्ती साहित्य में झलक प्रस्तुत की गई है जिससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, काव्य आदि परवर्ती ग्रन्थों में गो को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसका मूल ऋग्वेद ही है। सर्वत्र गो सृजक शक्ति की द्योतक है।

परिशिष्ट

परिशिष्टों में गो के उन रूपों को स्पष्ट किया गया है जिनका मूल ग्रन्थ में उल्लेख तो हुआ है; परन्तु विस्तारभय से पूर्णतः स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है। वशा, ब्रह्मगवी, शतौदना, अनड्वान् आदि नामों से अभिहित सृजन-शक्ति का इन परिशिष्टों में स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। एक परिशिष्ट में अवेस्ता में उल्लिखित गेऊस् उर्वन् को भी सृजक शक्ति सिद्ध किया गया है। एक परिशिष्ट में गवामयन और त्रिकद्रुकों का तथा दूसरे में गोष्टोम के स्वरूप का विवेचन भी किया गया है।

अध्ययन का दृष्टिकोण

उपर्युक्त सारांश से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रबन्ध में अध्ययन के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर आने की प्रक्रिया अपनाई गई है। ऋग्वेद के मन्त्रों में शब्द अपनी प्रतीकात्मकता से भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक रहस्यों को एक साथ ही संकेत करते हैं। अतः प्रबन्ध में प्रारम्भ में जिन मंत्रों को पशु गो के संकेतक के रूप में ग्रहण किया गया है उनमें से कुछ को गो के प्रतीकात्मक स्वरूप को स्पष्ट करते समय पुनः दुहराया गया है।

टंकण के सम्बन्ध में दो शब्द

हिन्दी में टंकण यन्त्र का पूर्ण विकास न हो पाने के कारण 'ञ्' के स्थान पर 'न' चन्द्रबिन्दु के स्थान पर केवल बिन्दु, अर्द्ध ब के स्थान पर अर्द्ध व, त् के स्थान पर त् तथा ळ के स्थान पर ल का प्रयोग किया गया है।

सामान्यतया प्रयत्न यह रहा है कि पादटिप्पणियाँ उसी पृष्ठ पर आ जावें फिर भी कभी वे अलग पृष्ठ तक चली गई हैं। पादटिप्पणियों की संख्या क्रमिक रूप में लगाई गई है जिससे उन्हें देखने में असुविधा न हो।

आभार प्रदर्शन—

लेखक को डा० सूर्यकान्त, डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० सत्यव्रतसिंह, डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय, डा०फतहसिंह, डा०सी० एस० वेंकटेश्वरन्, डा० पी. एल. वैद्य, डा० के. सी. चट्टोपाध्याय, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० आर. एन. दाण्डेकर, डा० डी. एन. शुक्ल आदि विद्वानों के ग्रन्थों, लेखों और विचारों से वेदविषयक अध्ययन में विशेष प्रेरणा मिली है। अतः लेखक उन सबके प्रति सादर आभार व्यक्त करता है।

लेखक को प्रस्तुत विषय पर अध्ययन करने की प्रेरणा डा० फतहसिंह से मिली और उनके सतत उद्बोधन से ही यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। उनसे वेद के विषय में लेखक को जो दृष्टि मिली उसे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के विचारों ने पल्लवित होने में विशेष योग दिया है। इस प्रबन्ध की रचना का सारा श्रेय इन महानुभावों के विचारों को ही है।

यह कार्य डा० सुधीरकुमार गुप्त के निर्देशन और कृपापूर्ण सहयोग से ही सम्पन्न हो सका है। अतः उनका भी लेखक परम अनुगृहीत है।

लेखक अपने मित्रों और अन्य सहायकों के प्रति भी आभार व्यक्त करता है जिनकी प्रेरणा और सहायता से यह कार्य सम्पन्न हो सका।

लेखक उन विद्वानों के प्रति भी आभारी है जिनके ग्रन्थों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रबन्ध रचना में सहायता व प्रेरणा मिली है।

—लेखक

'ऋग्वेद में गो तत्त्व' प्रबंध की विस्तृत रूपरेखा

प्रथम अनुच्छेद: विषय परिचय

गाय की पवित्रता में विश्वास, जो भारतीयता की प्रमुख विशेषता है, भारतीयों को उत्तराधिकार में, प्रागैतिहासिक युग से ही, जब वे ईरानवासियों से पृथक् नहीं हुए थे, मिला हुआ प्रतीत होता है।[1] अहिंसा-धर्म के प्रति स्वाभाविक झुकाव ने उनको प्राणिमात्र के प्रति उदार बना दिया और इस उदारता के फलस्वरूप गो को सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं तथा दैनन्दिन जीवन में इतना महत्त्व मिला जितना विश्व में कभी किसी भी जाति के लोगों द्वारा किसी पशु को कदाचित् ही मिला हो।

गो को इस प्रकार जो अनुपम महत्व और लोकोत्तर सम्मान मिला उसके मूल में भारतीयता के आधारभूत ग्रंथों के उन प्रशस्ति-वाक्यों को गिना जाना चाहिये जिनके द्वारा गो की महिमा की प्रतिष्ठा लोकजीवन में भली प्रकार हो गई थी।

गो महिमा

ऋग्वेद से लेकर वर्तमान काल तक के साहित्य में गो की महिमा को प्रदर्शित करने वाले कथन मिलते हैं।

ऋग्वेद में गो महिमा

ऋग्वेद में गो के मातृत्व, दिव्यत्व आदि रूपों का स्पष्ट उल्लेख है। देवताओं की जननी, स्वसा तथा पुत्री के रूप में वह उल्लिखित है। उसे धनस्वरूपा, पोषिका और प्रकाशिका माना गया है। वह जेया (जीतने योग्य) और प्रदेया (दान देने योग्य) मानी गई है। गति या क्रिया-शक्ति की प्रतीक होने से, वह देवताओं की शक्ति की द्योतक है। वह अमृतदुघा है, अन्नस्वरूपा है और यज्ञ की आधारभूता है। उसे भगवती कहा गया है और इसी रूप में वह इन्द्र से अभिन्न है[2]।

यजुर्वेद में गो-महिमा

गो यज्ञ में इन्द्र के भाग का दोहन करती है[3]। वह विश्वायु, विश्वकर्मा और विश्वधायस् कही गई है[4]। उसके लिए रेवती,[5] इडा,[6] अदिति,[6] काम्या,[6] सरस्वती[7] कामधरण[8] कामदुघा[9] विराज्[10] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

---

1 इरिए-पृ० 224
2 विस्तार से द्रष्टव्य-अनुच्छेद संख्या 3, 4 तथा 5
3 यवेवा 1।1
4 यवेवा 1।4
5 यवेवा 3।21
6 यवेवा 3।27
7 यवेवा 20।55 यका 38।8।93
8 यवेवा 12।46
9 यवेवा 17।3, 12।72
10 यवेवा 13।43

अघ्न्या के इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही आदि नाम भी गो की महिमा को व्यंजित करते है[11]। वस्वी, अदिति, आदित्या, रुद्रा, चन्द्रा आदि[12] तथा चित्, मना, धी, दक्षिणा, क्षत्रिया, यज्ञिया, उभयशीर्ष्णी, अदिति[13] आदि नाम भी ऐसे ही हैं। वह देवताओं तक को अभीष्ट प्रदान करती है[14]। ऐसी गो की हिंसा के विषय में बार-बार निषेध किया गया है[15]।

सामवेद में गो महिमा

इस संहिता में अधिकतर मंत्र अन्य वैदिक संहिताओं के पाये जाते हैं। गोओं की महिमा के द्योतक विश्वधायस्[16] सबर्दुघा[17] अदिति[18] आदि विशेषण सामवेद में भी प्रयुक्त हुए है। गो की ऋत की धुरि में जोतने की बात भी कही गई है।[19] 'परम व्योम' तक गो की गति है।[20] उसके दिव्य रूप का उल्लेख भी मिलता है।[21] वह यज्ञ का पोषण करती है।[22]

अथर्ववेद में गो महिमा

ऋग्वेद में गो को विश्वरूपा[23] कहा गया है, परन्तु उसके इस रूप का विस्तार से वर्णन अथर्ववेद में ही हुआ है, जहां उसके शरीर के अवयवों में समस्त देवताओं का निवास माना गया है।[24] उनमें वर्चस, तेज, भग, यश, पय आदि प्रविष्ट हैं जिनके लिए स्तोता कामना करता है।[25]

गो पृथ्वी को धारण करती है।[26] वह समृद्धियों की आगार है।[27] वह यज्ञपदी[28] और अमृतस्वरूपा[29] है। वशा की महिमा का इससे पता चलता है कि यदि उसके बाल काटे जायें या रक्षा व्यवस्था के अभाव में कौए रोम उखाड़ लें तो स्वामी की सन्तति नष्ट हो जाती है।[30] इसी तरह ब्रह्मगवी को अनाद्या कहा गया है[31] उसका भक्षण करने वाला स्वल्प काल तक ही जीवित रहता है।[32]

अथर्ववेद के एक मंत्र में गो को पयस्वती और घृताची[33] कहा गया है। उसके दूध की तीनों लोकों में उपासना की जाती है।[34] वह क्षत्रिया है तथा स्वधा

---

11 यवेवा 8।43 12 यवेवा 4।21
13 यवेवा 4।19 14 " 12।72
15 यवेवा 13।43, 44, 47, 48, 49 6 सावे 442
17 सावे 295 18 सावे 299
19 " 341 20 " 560
21 " 676 22 " 1720
23 ऋ० 4।32।8 24 अवे 9।7।1-25
25 अवे 14।2।53—58 26 " 18।1।32
27 " 11।1।34 अर्थ विस्तार के लिए द्रष्टव्य अनु० 3 टिप्पणी 43
28 अवे 10।10।6 29 अवे 10।10।26
30 " 12।4।7—8 31 अवे 5।18।1, 3
32 अवे 5।18।12 33 अवे 13।1।27
34 " 10।6।31 तुलना करें 10।10।31

(अन्न) की माता है।[35] उसके रहस्यात्मक-स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि ब्रह्म के ऊर्ध्व भाग से एक बिन्दु ऊपर चला, जिससे वशा गो उत्पन्न हुई[36]। यज्ञ का उद्भव गो के बल या अन्न (पाजस्) से हुआ।[37]

ब्रह्मगवी को अथर्ववेद में श्रम व तप से उत्पन्न, ऋत में आश्रित, सत्य से रक्षित, ऐश्वर्य से घिरी हुई, यश से वेष्टित, श्रद्धा से ढकी, दीक्षा मे गोपित, यज्ञ में प्रतिष्ठित तथा इस लोक में विश्राम लेने वाली कहा गया है।[38] उसको चोट पहुंचाना या मारना घातक कृत्या के समान है।[39]

गो का निर्माता समस्त प्राणियों का जनक परमेश्वर है।[40] सौ मनुष्यों के लिए ओदन पकाने के लिये पर्याप्त दूध देने वाली गो (शतौदना) का उल्लेख भी मिलता है।[41] ऐसी गो का दान करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।[42]

अथर्ववेद में गो की तरह वृषभ की महिमा का भी उल्लेख मिलता है। उसके सहस्रों के पोषक घृत रूप वीर्य को ही यज्ञ कहा गया है।[43] इन्द्र की सामर्थ्य, वरुण की भुजाओं की शक्ति, अश्विन-द्वय के कंधों का बल व मरुतों की ककुत् ऋषभ में प्राप्य है।[44] उसके अकेले का दान सहस्र गोओं के दान के समान फलदायी है।[45] यही नहीं, सौ यज्ञों के समान फल देने वाला भी कहा गया है।[46]

अनड्वान् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण करता है।[47] पर्जन्य इसकी धारा है, मरुत् ऊध और यज्ञ ही इसका दुग्ध है।[48] यह अपने पद से ही अवनति को दूर कर देता है, जंघा से पृथ्वी के कर्षण में योग देता है और श्रम करता हुआ कृषक के साथ अन्न को प्राप्त करता है।[49]

अथर्ववेद में वृषभ को भी देवमय कहा गया है।[50]

ब्राह्मण ग्रन्थों में गो महिमा

ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों के भावों को ही विस्तृत रूप में उपस्थित किया गया है। इनके अनुसार देवताओं के तीन मनोता हैं जिनमें उनका मन ओत-प्रोत रहता है। गो भी मनोताओं में से एक है।[51] घृत को देव, मनुष्य, पितृगण, शिशु आदि सभी का पोषक कहा गया है।[52]

---

35 अवे 10।10।18 36 अवे 10।10।19

37 " 10।10।20 38 " 12।5।1–3

39 अवे 12।5।39

40 यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वारूपाः। अवे 3।28।1

41 अवे 10।9।1 अर्थप्राप्ति के लिए द्रष्टव्य गोज्ञानकोश प्र० खं० पृ० 83 पर पं० सातवलेकर की टिप्पणी

42 अवे 10।9।5।6 43 अवे 9।4।6

44 अवे 9।4।8 45 अवे 9।4।9

46 " 9।4।18 47 " 4।11।1

48 " 4।11।5 49 " 4।11।10

50 " 9।4।11-15 51 ऐब्रा० 6।10 52 ऐब्रा० 1।3

संहितोपनिषद् ब्राह्मण में गो, पृथिवी और सरस्वती को प्रतिदान कहा गया है। क्रमशः इनके दोहन, वापन और जप से नरक से उद्धार हो जाता है।[53]

ताण्ड्य-महा-ब्राह्मण में गोसव या स्वराज्य यज्ञ का उल्लेख मिलता है।[54] उसमें दस हजार गोओं की दक्षिणा को स्वराज्य यज्ञ कहा गया है।[55] सहस्र गोओं से समृद्ध स्थान को स्वर्ग कहा गया है। जिसे सहस्र गोओं से यज्ञ करने वाला अनायास ही पा लेता है।[56] देवताओं की कृपा के अधिकारी बनने के लिये 'घृतव्रत' होने उल्लेख भी मिलता है।[57]

जैमिनीय ब्राह्मण में गो को छै कामधेनुओं में गिना गया है।[58] अन्यत्र गो को रथन्तर-साम कहा गया है।[59] गो ओषधियों को भक्षण करके उनके सार भाग का दोहन करती है।[60] सहस्र गोओं से प्रतिष्ठित यज्ञ भूमि की स्वर्गलोक के रूप में कल्पना यहां मिलती है।[61]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार विराज् गो में यज्ञ प्रतिष्ठित है।[62] गो प्रजापति के व्रत का अकेले ही पालन करती है।[63] उसका दान करने से दाता समस्त देवताओं का प्रिय बन जाता है।[64]

शांखायन ब्राह्मण में गो को अमृतत्व, यज्ञ और आप: से अभिन्न कहा गया है।[65] इसमें भी गो को देवताओं का मनोता माना गया है।[66]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार घृत अग्नि का प्रिय धाम है।[67] इसमें इडा नाम की गो को विश्वरूपी कहा गया है।[68] पृश्नि—गो का दोहन देवता करते है।[69] एक स्थान पर गो को अग्निहोत्र से अभिन्न कहा गया है।[70] गो का एक विशेषण घर्मदुघा प्रयुक्त हुआ है।[71] 10 हजार गोओं की दक्षिणा से स्वराज्य प्राप्ति का उल्लेख यहां भी हुआ है।[72]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इस विश्व का भरण पोषण करने वाली गो है।[73] सब अन्न गो रूप हैं अर्थात् उनका गो से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।[74] गो के

---

53 संहितोपनिषद् ब्राह्मण 4
54 तामब्रा 19।13।1
55 तामब्रा 19।13।6
56 " 16।8।6
57 " 18।2।5, 6
58 जैब्रा 1।181
59 जैब्रा 1।333, 2।34
60 " 2।157
61 ,, 2।151
62 गोब्रा उ० 3।20
63 गोब्रा उ० 3।9
64 ,, ,, 3।19
65 शांब्रा० 12।1
66 शांब्रा 10।6
67 तैब्रा 1।1।9।6
68 तैब्रा 1।2।1।21
69 तैब्रा 1।4।1।4
70 ,, 2।1।6।3
71 तैब्रा 2।4।7।8, 2।1।1।1 शब्रा 14।2।2।33
72 तैब्रा 2।8।6।2
73 [illegible] — शब्रा 3।1।2।25
74 शब्रा 2।2।2।13

अदिति व इड़ा नाम भी प्रयुक्त हुए हैं।[75] शतपथ में गो का एक अन्य विशेषण 'व्रतदुघा'[76] प्रयुक्त हुआ है। उसमें, इन्द्र के मुख से जो बल उत्पन्न हुआ उसे गो कहा गया है।[77]

आरण्यक व उपनिषदों में गो-महिमा

आरण्यक तथा उपनिषदों में वेदों के आध्यात्मिक अर्थ का विस्तार किया गया है। इसलिए इनमें गो का रहस्यात्मक वर्णन ही मिलता है, परन्तु कहीं-कहीं व्यंजना से गो की महिमा भी ध्वनित होती है। ऐतरेय आरण्यक में ऋग्वेद के एक मत्र[78] की व्याख्या करते हुए 'सूददोहा कामधेनु' की प्राणों से अभिन्नता प्रदर्शित की गई है।[79] तैत्तिरीय आरण्यक में घृत को ब्रह्म का प्रतीक बतलाया गया है।[80] इससे गो के घृत की महिमा ही व्यंजित होती है। एक प्रसंग में घृतप्रदात्री अदिति की हिंसा का निषेध किया गया है।[81] अन्यत्र गो को ऋग्वेद के मंत्र[82] से अभिमंत्रित करके खिला पिला कर मुक्त कर देने का वर्णन मिलता है। ऐसी गो को राजगवी कहा गया है।[83] गो का घर्मदुघा[84] नाम भी मिलता है। देवताओं के लिए गो का दुग्ध ही विहित माना गया है।[85] बृहदारण्यक में वाक् और धेनु को अभिन्न कहा गया है।[86] क्योंकि जैसे वाक् से स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार द्वारा देव, पितृगण और मनुष्य तृप्ति लाभ करते हैं वैसे ही गो अपने स्तनों से इन सबको तृप्त करती है। यहां व्यंजना से गोदुग्ध की प्रशंसा ही की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा के अनुसार हारिद्रुमत गौतम के आदेश से सत्यकाम ने गोओं का अनुगमन किया जिससे उसे वृषभ द्वारा ब्रह्मज्ञान मिला[87]। यहां ज्ञान प्राप्ति में गो, वृषभ का योग दिखाये जाने से उनकी महिमा व्यञ्जित होती है। कठोपनिषद् में अदिति को देवतामयी कहा गया है।[88]

नारायणोपनिषद् में भूमि को धेनु तथा लोकधारिणी कहा गया है।[89] इससे गो की लोक को धारणा करने की विशेषता व्यञ्जित होती है। मंत्रिकोपनिषद् में विभु की सिता, असिता और रक्ता कामदुघा गो के जनित्री व भूतभावनी विशेषण प्रयुक्त हुए है।[90] ये विशेषण व्यंजना से गो के लिये भी माने जा सकते हैं।

---

75 इडा हि गो अदितिर्हि गौः। शब्रा 2।3।2।34
76 शब्रा 14।2।2।34; 35 77 शब्रा 12।7।1।4
78 ऋ० 8।69।3
79 ऐआ 4।1।17 (सायण—सूदं स्वादु सरसं दोग्धीति सूददोहाः कामधेनुरित्यर्थः)
80 तैआ 10।10 (सायण—घृतम्—दीप्तं स्वप्रकाशं ब्रह्म)
81 तैआ 6।6 82 ऋ० 8।101।15 83 तैआ 6।12
84 तैआ 4।8 (घर्मम्—क्षरण योग्यं क्षीरम्—सायण)
85 महीनां पयोऽसि विहितं देवत्रा। तैआ 4।12
86 बृउ 5।8।1 87 छाउ 4।4—5 88 कउ 2।1।7
89 भूमिर्धेनुर्धरणी लोकधारिणी—नारायणोपनिषद् 8
90 मंत्रिकोपनिषद्—5

उपर्युक्त विवेचन से आरण्यक और उपनिषदों में गो की महिमा पर प्रकाश पड़ता है।

पुराणों में गो महिमा

पुराणों में देवमाता अदिति व सुरभि को गोओं की माता कहा गया है।[91] पद्मपुराण के अनुसार ब्रह्मा के मुख से महत् रूप कूटस्थ तेज उद्भूत हुआ, जिसके चार भागों से वेद, अग्नि, गो और द्विज उत्पन्न हुए।[92] गो के उद्भव विषयक इन मतों से गो की महिमा व्यञ्जित होती है।

पद्मपुराण में कहा गया है कि गो से आज्य मिलता है, जो अग्नि को हव्य रूप में प्रदान किया जाता है। यदि गव्यादि ये महत्तर पदार्थ उत्पन्न न होते, तो स्थावर–जंगम सब नष्ट हो जाते, क्योंकि लोकों को ये ही धारण करते हैं। गो इसीलिए देवता और असुरों के लिये भी पूजनीय है।[93] सब भूतों पर अनुकम्पा करने वाली गो सर्वदेवमयी कही गई है।[94] वह यज्ञों की जनित्री है।[95] गो के दुग्ध, दधि, घृत, मूत्र, पुरीष आदि सभी पदार्थ पवित्र हैं।[96] गोओं को मनुष्यों का बन्धु[97] जान कर प्रार्थना की गई है:--

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवा:।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे।
घृतं मे सर्व गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम्।
गावो ममाग्रतो नित्यं गाव: पृष्ठत एव च।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥[98]

पद्मपुराण में गोदान, गोस्पर्श आदि को पुण्यदायक तथा गोवध को रौरव नरक-प्राप्ति का कारण बतलाया गया है।[99]

अग्नि पुराण में गव्यपान को दुर्भाग्य-नाशक, गोदान को पुण्यदायी और गोव्रत पालन को गोलोक में पहुंचाने वाला कहा गया है।[100] गोओं को भूतों की प्रतिष्ठा, परम कल्याणस्वरूपा, परम-अन्न-स्वरूपा व देवताओं के लिए हव्य प्रदान करने वाली भी कहा गया है।[101] वे परम पवित्र व स्वर्ग की सोपान हैं।[102]

---

91 अदितिर्देवमाता च सुरभी च गवां प्रसू:। देभापु—9।1।124 तथा 9।49।2 11, 12,

92 पपु सृष्टिखण्ड 50--125--26 तुलनीय अथर्ववेद 10।10।19

93 पपु सृष्टिखण्ड 50—128—31

94 वही 50।132 देवमय स्वरूप का वर्णन—वही 50।155—64

95 वही 50।135 96 वही 50।136

97 वही 50।155 98 वही 50।151--53

99 वही 50।164--192

100 अपु क्रमश; 292।3, 292।6;292।12--13

101 वही 292।15 102 मपु 292।18

मत्स्य पुराण में भी विश्व की मातृस्वरूपा[103] गोश्रों के मध्य में रहने की अभिलाषा प्रकट की गई है।[104] उनके अंगों में 21 भुवनों की प्रतिष्ठा है।[105] गोदान से नरक से उद्धार होता है।[106]

स्कन्द पुराण में गो को देवमाता और समस्त यज्ञों का कारण कहा गया है। उसके देवमय शरीर का वर्णन भी मिलता है।[107] कपिला गो के दान का फल सम्पूर्ण पृथिवी के दान के समान कहा गया है।[108]

पुराणों में पृथु द्वारा गोरूपधारिणी पृथिवी के दोहन का उल्लेख भी मिलता है[109] इससे भी गो की महिमा व्यंजित होती है।

रामायण और महाभारत में गो महिमा

रामायण में सर्वप्रथम हम ऐतिहासिक वातावरण में गो को लोक जीवन में प्रतिष्ठित होता हुआ पाते हैं। एक स्थल पर आता है कि विश्वामित्र ने वसिष्ठ से एक लाख गोश्रों के बदले में कपिला गो देने का प्रस्ताव रक्खा।[110] इस कथन से कपिला गो की अद्भुत महिमा का पता चलता है। गोश्रों का महत्त्व पुत्र से भी अधिक माना जाता था। अजीगर्त ने अपने पुत्र शुनःशेप को गोएँ लेकर वरुण-यज्ञ के लिए दे दिया था।[111] पुत्रेष्टि यज्ञ में दशरथ ने समस्त पृथिवी दान कर दी। तब निष्क्रय के लिए ब्राह्मणों ने गोएँ मांगी।[112] इससे पता चलता है कि गो का महत्व राज्य के तुल्य माना गया था पृथिवी का एक विशेषण 'सर्वकामदुघा' प्रयुक्त हुआ है।[113] इस बात से गो महिमा में पृथिवी के समान स्वकृत ज्ञात होती है।

अयोध्या की समृद्धि में गोश्रों का भी योग था।[114] राम के वन को चले जाने पर गोश्रों ने बछड़ों को दूध तक नहीं पिलाया।[115] इससे गोश्रों के प्रति लोगों की घनिष्ठता व्यंजित होती है। चित्रकूट में राम ने भरत से प्रश्न किया था—कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः।[116] इससे पता चलता है कि राजा स्वयं गो-पालन व गो-संवर्द्धन में सक्रिय भाग लेते थे। गोमती नदी का नाम कदाचित् उसके आस पास गोव्रज होने से पड़ा होगा।[117] उस समय सारे जनपद दुग्ध आदि से सम्पन्न थे।[118] गोरक्ष्य-जीवियों को राजा की विशेष प्रीति प्राप्त होती थी।[119]

---

103 मपु 277।12 — 104 वही 277।14--15
105 वही 277।13 — 106 उपर्युक्त 277।26
107 कल्याण--संक्षिप्त स्कन्दपुराणांक--ब्राह्मखण्ड पृ० 471
108 वही पृ० 810
109 भापु 4।18 तथा पपु--भूमिखण्ड 29।1 से 91
110 गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम। वारा 1।53।9
111 वारा 1।61।13 — 112 वारा 1।14।48
113 वारा 7।84।7 — 114 वारा 1।5।13
115 वारा 2।41।9 (गावो वत्सान्न पाययन्) — 116 वारा 2।100।50
117 वारा 2।49।10 (गोमती गोयुतानूपाम्—गोयुक्त-जल-प्रदेश-विशिष्टाम्)
118 प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतर गोरसाः। वारा 3।16।7
119 वारा 2।100।47

महाभारत में गो के विषय में अत्यन्त उदात्त विचार मिलते हैं। एक कथा प्रसंग में च्यवन ऋषि का मूल्य गो के रूप में अंकित किया गया है क्योंकि विप्र व गो दोनों ही अनर्घ्य है।[120] आगे च्यवन ने गो की महिमा पर प्रकाश डालते हुए उसे लक्ष्मी का मूल पापरहित, अन्नस्वरूपा, देवताओं की उत्कृष्ट हवि, स्वाहाकार-वषट्कार-संयुक्त, यज्ञ की नेत्री, यज्ञ की मुख स्वरूपा, अमृत (दुग्ध) बरसाने वाली, अमृतायतन, अग्निवत् तेजस्विनी, सुखप्रदा, स्वर्ग की सोपान, दिव्य-भाव सम्पन्न, कामदुहा आदि विशेषणों से युक्त कहा है।[121] गो के समान कोई धन नहीं। है।[122] उसके नाम के कीर्तन तथा श्रवण से या उसके दान तथा दर्शन से सब प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं।[123]

मृगशिर नक्षत्र में दोग्ध्री धेनु के दान को प्रशस्त व स्वर्ग फलदायी कहा गया है।[124] गोदान प्राण दान ही है क्योंकि गो को प्राणियों का प्राण कहा जाता है।[125] गो को वध के लिए, अथवा कृपण, नास्तिक, गो-जीवी आदि को (जहां उसे पीड़ा होती हो) प्रदान करने पर अक्षय नरक की प्राप्ति होती है।[126]

महाभारत में गो व उससे प्राप्त अन्न का दान करने वाले राजा रन्तिदेव और उसके दान की साक्षी-भूता चर्मण्वती का उल्लेख मिलता है।

रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः।
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिताः॥[127]

रन्तिदेव की कीर्ति के रूप में चर्मण्वती का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।[128] हाड़ौती भाषा में छाम या च्हाम (चर्म का अपभ्रंश) शब्द भूमि के निश्चित परिमाण के लिए प्रयुक्त होता है। आप्टे ने अपने कोश में चर्म के इस अर्थ को स्वीकार किया है[129] व वसिष्ठ स्मृति के एक श्लोक को गोचर्म के विषय में उद्धृत किया है—

दश हस्तेन वंशेन दशवंशान् समन्ततः।
पंच चाभ्यधिकान् दद्यात् एतद् गोचर्म उच्यते॥

अतः रन्तिदेव की निश्चित परिमाण वाली यज्ञवेदी के निकट से बहकर आने के कारण ही चर्मण्वती उसकी कीर्ति का ज्ञापन करने वाली कही गई ज्ञात होती है। डा० सुधीर कुमार गुप्त ने चर्मण्वती को गवालम्भ यज्ञ में छोड़े हुए संकल्प के जलों

---

120 मभा अनुशासन पर्व 50।2 से 51-25तक।
121 मभा अनुशासन पर्व 51।28-23 122 वही 51।26
123 वही 51।27 124 वही 64।7
125 वही 66।49 126 वही 66।51-52
127 वही 66।42-42
128 स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघदूत-पू० श्लोक 48
129 चर्म—A particular measure of surface—V. S. Apte—The sanskrit—English Dictionary.

से उत्पन्न माना है।[130] कुछ भी हो रन्तिदेव की कथा गो व उसके दान की महिमा को ही ध्वनित करती है। गो की महिमा को व्यक्त करने वाले महाभारत के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

1 मातर: सर्वभूतानां गाव: सर्वसुखप्रदा:,[131]

2 गाव: प्रतिष्ठा भूतानां गाव: स्वस्त्ययनं महत्,[132]

3 गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञा: प्रतिष्ठिता:,[133]

4 देवानामुपरिष्टाच्च गाव: प्रतिवसन्ति वै,[134]

5 गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दान प्रशस्यते,[135]

6 न हि पुण्यतमं किञ्चिद् गोभ्यो भरतसत्तम,[136]

7 लोकानां मातरश्चैव गाव: सृष्टा: स्वयम्भुवा,[137]

8 अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति,[138]

9 यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजंगमम्।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम्।[139]

10 यज्ञांग कथिता गावो यज्ञ एव च वासव,[140]

---

130 डॉ० गुप्त के अनुसार रन्तिदेव की स्वराज्य रक्षा ही सुरभितनया लम्भ-यज्ञ है और चर्मण्वती का उद्भव उस यज्ञ में छोड़े हुए संकल्प जलों से हुआ ऐसा मान लेने पर वर्णन में विशेष शक्ति व स्वाभाविकता आ जाती है।

(द्रष्टव्य-मेघदूत की वैदिक पृष्ठ भूमि और उसका सांस्कृतिक सन्देश पृ० 13-14)

महाभारत के उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि गोओं का यज्ञ में दान के लिए उपकल्पन किया गया था। अत: चर्मण्वती के रन्तिदेव के साथ गोवध की बात जोड़ देना (जैसा कि द्रोणपर्व 67।5, शान्तिपर्व—29।122, तथा वनपर्व 208।8–11 में किया गया है) उचित नहीं जान पड़ता महाभारत के अनुसार रन्तिदेव मांस भक्षण नहीं करता था (अ० पर्व 115।72)। महाभारत में देवता 'स्वाहास्वधामृत भुज: (अ० पर्व 115।27 गए हैं तथा अमांसभक्षण विधि ऋषिपूजित कही गई है। इस दृष्टि से डॉ० गुप्त की उद्भावना कि 'गोमांसविषयक कथा से सम्बन्धित लेख मांस खाने वालों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं, उचित प्रतीत होती है। डॉ० गुप्त द्वारा उल्लिखित श्री साधूराम का कृषि-यज्ञ द्वारा चर्मण्वती क्षेत्र को उर्वर बना दिया यह मत भी असंगत नहीं है।

131 मभा–अनुशासन पर्व 69।7

132 वही 78।5   133 वही 78।8

134 वही 81।4   135 वही 81।17

136 वही 81।3   137 वही 125।62

138 मभा शान्ति पर्व 262।47

139 मभा. अ० पर्व 80।15

140 मभा. अनु० पर्व 83।17

एक आख्यान द्वारा यह भी प्रदर्शित किया गया है कि गोबर में श्री देवी का निवास है।[141] पुराणों की तरह महाभारत में भी कपिला को सर्वदेवमय कहा गया है।[142]

इस प्रकार महाभारत में गो के मातृत्व, दिव्य स्वरूप, पवित्रता, पूजनीयता, यज्ञनिर्वाहिका आदि के विषय में प्रभूत सामग्री विद्यमान है।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में गो महिमा

आयुर्वेद का सम्बन्ध आरोग्य से है। चरक ने आरोग्य लाभ और इन्द्रिय-जय की सिद्धि के लिए सद्वृत्त पालन पर बल दिया है। सद्वृत में गो की अर्चना को भी गिनाया गया है।[143] गो के दूध के स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, गुरु मन्द प्रसन्न आदि दस गुण बताये गये हैं।[144] इसी तरह घृत को आरोग्यवर्द्धक, सब स्नेहो में उत्तम तथा मधुर कहा गया है।[145] इन उल्लेखों से गो की उपयोगिता व महिमा पर प्रकाश पड़ता है। अन्य आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी दुग्ध, घृतादि के गुणों का उल्लेख हुआ है।

जैन और बौद्ध साहित्य में गो महिमा

जैनों की धार्मिक क्रियाओं में गव्यादि का प्रचुर रूप में प्रयोग होता है। वे लोग सम्यक्त्व के आठ अंगों में वात्सल्य को भी गिनते हैं।[146] वे संवत्स-जीवन परम्परा को अपनाने के पक्षपाती हैं इसीलिए उनमें प्रतिवर्ष-संवत्सरी पर्व मनाने की प्रथा है।[147] स्पष्ट है कि जैन धर्म में श्रद्धा के लिये गो की वत्सलता को और साधक के लिये वत्स को आदर्श माना गया है और इस प्रकार गो की महिमा ही व्यंजित होती है। सम्भव है ऐतिहासिक महापुरुष ऋषभ की पूजा के पीछे गोव्रतिकों[148] के देवता गो की प्रेरणा रही हो।[149]

बौद्ध साहित्य के अनुसार सुखी परिवार में वृष, गो आदि का होना आवश्यक है।[150] गौतम बुद्ध के शब्दों में गो उसी तरह मनुष्यों की परम मित्र है, जिस प्रकार माता, पिता, भ्राता व अन्य ज्ञातृवर्ग के लोग होते हैं। गोएँ अन्न, बल, वर्ण तथा सुख प्रदान करने वाली होती हैं। अत: उनकी हिंसा नहीं की जानी

141 मभा. अनु० पर्व० अध्याय 82
142 मभा–आश्वमेधिके-वैष्णवपर्व (गोरखपुर संस्करण)
143 चरकसंहिता–सूत्रस्थानम्—8।19
144 वही० 27।216
145 वही 27।230-31
146 चरित्र पाहुड़ 7 तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा 420
147 संवत्सरी पर्व का सांस्कृतिक महत्त्व–बद्रीप्रसाद पचोली। 'महावीर-जयन्ती स्मारिका'(जयपुर) अप्रैल 1964
148 बौद्ध ग्रन्थ चूल निद्देस में व्रतिकों के 27 सम्प्रदाय। मे गोव्रतिक भी गिनाये गए हैं।
149 'संवत्सरी पर्व का सांस्कृतिक महत्त्व'—बद्रीप्रसाद पंचोली स्मारिका 1964।
150 सुत्तनिपात—धनियसुत्त

चाहिए।[151] वे स्वयं घड़ा भर कर दूध देने वाली हैं तथा सींग या पैर से किसी की हिंसा नहीं करतीं[151अ]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गो की महिमा

चाणक्य ने गो के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये गो को सहस्रश्वानों से श्रेयसी बतलाया है—

गोदुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी।[152]

गोवध या गोचोरी करने वाले का वध कर देने की बात भी कही गई है।[153] इससे पता चलता है कि राज्य की गोओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण उदार नीति थी। चाणक्य ने एक स्थल पर कहा है कि—

धेनो; शीलज्ञः क्षीरं भुङ्क्ते।[155]

धेनु का शील जानने और इस प्रकार क्षीर का उपभोग करने के लिए गोओं से आत्मीयता-पूर्वक अधिक से अधिक मिलते रहने की आवश्यकता है। इस कथन से ध्वनित होता है कि गोओं के शील से परिचित होना लाभकारी है।

महाकाव्यों में गो-महिमा

रघुवंश के अनुसार कल्पवृक्ष की छाया का सेवन करती हुई प्रदक्षिणार्ह सुरभि का अनादर करने के कारण दिलीप को सन्तान की प्राप्ति न हुई।[156] उसकी पुत्री नन्दिनी के लिये कामदुघ,[157] अनिन्द्या[158], कुण्डोध्नी[159], पुण्यदर्शना,[160] कल्याणी[161] पयस्विनी[162], दोग्ध्री[163], घटोध्नी[164] प्रस्रविणी[165] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिसकी सेवा करके उसने पुत्र प्राप्त किया। उपर्युक्त कथा व विशेषणों से गो की महिमा व्यंजित होती है।[166]

'किरातार्जुनीयम्' में गो समूह को 'पीवरोधस्'[167] कहा गया है। इसी तरह 'नैषधीयचरित' में गो के लिये कामधेनु विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[168] ऐसे विशेषणों से गो की प्रचुर-दुग्धदान सामर्थ्य ध्वनित होती है।

स्मृति ग्रन्थों में गो-महिमा

स्मृति ग्रन्थों में गोदान की महिमा विशेषतया व्याख्यात है। याज्ञवल्क्य ने

---

151 सुत्तनिपात ब्राह्मणधम्मिकसुत्त—13; 14
151अ सुत्त निपात, ब्राह्मणधार्मिकसुत्त 26
152 चाणक्य सूत्राणि—सं० 347
153 अर्थशास्त्र 2।29 | 154 अर्थशास्त्र 45।2
155 चाणक्य सूत्राणि-सं० 140
156 रघु 1।75–77 | 157 रघु 1।81, 2।63
158 रघु 1।82 | 159 रघु 1।84
160 रघु 1।86 | 161 रघु 1।87
162 रघु 2।21, 2।65
163 रघु 2।23 | 164 रघु 2।49
165 रघु 2।61 | 166 रघु 2।75
167 किरात 4।10 | 168 नैषध 14।1, 76

अतिथि को प्रदान करने के लिये महोक्ष को परिकल्पित करने का विचार किया है।[169] उन्होंने स्वर्णालंकृत, क्षीरिणी को कांस्यपात्र व दक्षिणा-सहित दान करने के लिये कहा है[170] ऐसा दाता, गो के जितने रोम हों उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है और यदि गो कपिला हो तो सात पीढ़ी तक का उद्धार हो जाता है।[171] साधारण रूप से दान करने पर भी स्वर्गलोक में दाता का आदर होता है।[172] उभयतोमुखी या पृथिवी (प्रसूता गो जिसका बछड़ा अभी गर्भ से बाहर न आया हो) लक्षणा गो के दान को और भी प्रशस्त माना गया है।[173]

मनु ने गोमूत्र गोमय, गव्यादि को पवित्र मानकर प्रायश्चित्तों में इनका विचार किया है[174] गो के हित में लीन रहने व गो के लिये प्राण त्यागने को उत्तम कृत्य माना गया है।[175] इसके विपरीत पानी पीती हुई गो को रोकने जैसे छोटे से अपराध को भी अविहित माना गया है।[176] प्रयाण करते समय गो को दाहिनी ओर करके जाने का उल्लेख भी मिलता है।[177] आर्ष विवाह में धार्मिक क्रिया सम्पन्न करने के लिये गोमिथुन वर से लेकर कन्या देने का विधान किया गया है।[178]

इन उल्लेखों से जीवन में गो के महिमाशाली रूप की प्रतिष्ठा व्यक्त होती है। गोवत्स द्वादशी, गोवर्द्धन पूजा, गोत्रिरात्रिव्रत, गोपाष्टमी, पयोव्रत आदि से भी यही व्यक्त होता है। गोत्रिरात्रिव्रत तथा गोवर्धन पूजा तो दीपोत्सव के साथ संयुक्त होकर भारतीयों की राष्ट्रीय परम्परा के अंग बन चुके हैं।

राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में गो—

एलाम और ईराक के प्राचीन स्थानों में 'सिन्धु की छाप' (लिपि व ककुद्मान् वृष) मिली है।[179] मोहेंजोदड़ो में भी ककुद्मान् सांड की मुद्रा मिली है।[180] इससे पता चलता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही वृषभ राष्ट्रीय-जीवन का अंग बन चुका था। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में गो की कोई आकृति न मिलने का कारण सम्भवतः यह जान पड़ता है कि नगर सभ्यता में गो को विशेष प्रतिष्ठा न मिली हो। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, गो की महिमा साहित्य में

---

169 याज्ञ० आचाराध्याय श्लोक 109
'दानाय' अर्थ प्राप्ति के लिए विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका द्रष्टव्य। विज्ञानेश्वर की साक्षी से प्रकट है कि अतिथि के लिए वृषभवध नहीं होता था।

170 याज्ञ० आचाराध्याय 204

171 वही 205

172 वही 208

173 वही 206, 207

174 मनु० 11।212. 144, 165 आदि

175 मनु० 11।78-79

176 मनु० 4।59

177 मनु० 4।39

178 मनु० 3।53 (अर्थ प्राप्ति का आधार कुल्लूकभट्ट की टीका)

179 हिन्दू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दी पृ० 28

180 हिन्दू सभ्यता—पृ० 25 (डा० मुकर्जी ने ऐसी मुद्राओं से पशुपूजा का निष्कर्ष निकाला है)

अद्यावधि प्राप्य प्राचीनतम-ग्रन्थ ऋग्वेद तक में मिलती है। इसके आधार पर यह माना जा सकता है कि वृषभ के साथ गो भी जीवन में प्रतिष्ठा लाभ कर चुकी होगी। सम्भव है वृषभपूजक और गोपूजक वर्ग अलग अलग रहते हों। कुछ भी हो गुप्त काल तक तो अवश्य ही गो जन जीवन का अंग बन गई थी। गो-ब्राह्मण के हित को सर्वोपरि स्थान दिया जाने लगा था जिनको प्राणिमात्र की हितकामना के लिए प्रतिनिधि मान लिया गया था। विदेशी आक्रामकों का प्रतिरोध करने के लिए सामूहिक हितों को कुछ प्रतीकों में सीमित कर देने से बड़ा लाभ हुआ। युद्ध में प्रयाण करने वाले योद्धा के सामने उसका उद्देश्य उस प्रतीक के माध्यम से स्पष्ट हो जाता था। लोग धर्म की रक्षा के लिए लड़ते थे। जिसका एक अंग गो-रक्षण भी बन गया था। इस प्रकार गो राष्ट्रीय प्रतीकों में स्थान पा गया। विदेशियों से लोहा लेते समय सबका यही विचार था कि सब स्वधीन होंगे और स्वाधीन भारत में गो की रक्षा होगी। स्वातंत्र्य-संघर्ष में गो प्रेरणास्रोत रही है और आज भी हमारी भावात्मक एकता का सबसे बड़ा प्रतीक 'गो' है। पं० किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार-इस देश का प्रत्येक व्यक्ति गो के प्रति श्रद्धावान् है, यदि किसी बाहरी देश से किसी रूप में प्रभावित न हो।[181]

गो का धार्मिक महत्त्व—

गो की पवित्रता और दिव्यता ने उसे धर्म का अंग बना दिया है। यज्ञ में गो की दक्षिणा पूर्णता का द्योतक बन गई[182] और प्रत्येक धार्मिक कार्य में गोदान आवश्यक समझा गया। "गाय के प्रति भारतीयों की श्रद्धा-भावना न तो मनोवैज्ञानिक कुतूहल ही है और न निराधार विश्वास की बहक ही। इसका आध्यात्मिक सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह महान् भारतीय धर्म का एक अंग है[183]। गो बलि का महत्त्व बढ़ा। कृष्ण द्वारा प्रवर्तित गोयज्ञ में गोओं को जौ खिलाकर बलि दी गई थी।[184] पाणिनि के अनुसार भी गोबलि का अर्थ पूजोपहार या गायों को खाद्य पदार्थ देना होता है।[185] रघुवंश में भी दिलीप द्वारा नन्दिनी के पास बलिप्रदीप रखने का उल्लेख मिलता है[186]। आजकल भी विशेष उत्सवों पर गोओं को पक्वान्न खिलाने की प्रथा है तथा कई हिन्दू-परिवारों में नित्य गोग्रास निकालना धर्म का अंग समझा जाता है।

गो की महत्ता का आधार ऋग्वेद

ऋग्वेद में गो-महिमा का उल्लेख किया जा चुका है उससे प्रकट है कि उसमें गो की महिमा को प्रकट करने वाली वे सब विशेषताएँ आ गई हैं जो परवर्ती साहित्य में मिलती हैं। अतः गो को परवर्ती काल में साहित्य व जीवन में जो महत्त्व मिला

---

181 'राष्ट्रीय एकता और उसके प्रतीक'—सा. हिन्दुस्तान वर्ष 14 अंक 47

182 दैवो पूर्तिदक्षिणा देवयज्या ऋ. 10।107।3

183 सांवलिया बिहारीलाल वर्मा—विश्व धर्म और दर्शन-पृ. 388

184 भापु 10।24।28 व 33

185 विश्वधर्म और दर्शन पृ. 389

166 तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः। रघु 2 24

है उसका आधार ऋग्वेद ही ज्ञात होता है। डॉ० वासुदेवशरण के अनुसार भारतीय संस्कृति की आत्मा की खोज करते समय समस्त विचारधाराओं और अभिप्रायों का पर्यवसान वैदिक साहित्य में होता है। उसी मधुमय उत्स से भारतीय अध्यात्म शास्त्र के निर्झर प्रवाहित हुए हैं।[187]

परवर्ती साहित्य में गो शब्द के विविध अर्थ और ऋग्वेद

पुराणों व काव्यों में गो शब्द पृथिवी,[188] वाणी,[189] किरण[190] आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने ऋग्वेद में गो शब्द को इन अर्थों में प्रयुक्त माना है।[191] अतः साहित्य में प्रयुक्त गो शब्द की अनेकार्थकता का मूल भी ऋग्वेद ही ज्ञात होता है।

भवभूति ने वाक् व धेनु में रहस्यात्मक अभिन्नता खोजते हुए कामदुघा धेनु का रूप स्पष्ट किया है—

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलाति।
शुद्धां शान्तां मातरं मंगलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः।[192]

वाक और गो में ऐसा सम्बन्ध ऋग्वेद में भी उल्लिखित है।[193]

गो का आध्यात्मिक रूप

परवर्ती साहित्य में गो का आध्यात्मिक रूप भी उल्लिखित है। सूरदास द्वारा उल्लिखित निशिदिन गतिमान् अग्राह्या, कभी तृप्त न होने वाली, 18 घटों का नीर पीने वाली तथा नीले खुर, लाल नेत्र और श्वेत सींगों वाली त्रिगुणात्मिका गो महत्प्रकृति ज्ञात होती है, बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियां उसी महत्तत्त्व की पिण्डगत प्रतिनिधि हैं। सूर ने उस गो को चराने के लिये गोचारणदक्ष कृष्ण से प्रार्थना की है।[194]

---

187 डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-उरुज्योति-भूमिका--क
188 भापु 1।6।27; 1।10।3, 1।17।3 आदि और रघु 1।26; शिशु 18।25
189 रघु 5।12 भापु 10।1।21
190 नैषध 22।34, किरात—(गो का पर्यायवाची उस्रा शब्द किरण अर्थ में) 5।34 भापु-8।8।11
191 नि—2।2।1 192 उत्तररामचरितम्—5।31
193 ऋ. 8।101।15-16
194 माधौ नैकु हटकौ गाय।

भ्रमत निसिवासर अपथपथ अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति, न अघाति कबहुं निगम द्रुमदल खाइ।
अष्टदस-घट नीर अंचवति, तृषा तऊ न बुझाइ।
छहौ रस जो धरौं आगे तऊ न गंध सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति, कला बरनि न जाइ।
व्योम, धन, नद. सैल, कानन इतै चरि न अघाइ।
नीलखुर, अरु अरुण लोचन, सेत सींग सुहाइ।
भुवन चौदह खुरनि खूंदति, सुधौ कहा समाइ।
दीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुन ह्वै समुहाइ।
हरे खल बल दनुज दानव सुरनि सीस चढ़ाइ।
रचि विरचि मुख भौंह छवि लै चरति चित्त चुराइ।
नारदादि सुकादि मुनि-जन थके करत उपाइ।
ताहि कहु, कैसे कृपानिधि सकत सूर चराइ॥

सूरसागर 1।56 तुलनीय सूरसागर 1।51

[विस्तार से द्रष्टव्य—'सूर साहित्य में गो-तत्त्व'—बद्रीप्रसाद पंचोली—नवभारती (गंगानगर) वर्ष 8 अंक 1]

कबीरदास ने भी ऐसी ही कामधेनु का उल्लेख किया है जो ज्ञानगर्भिणी होने पर अमृत बरसाती है, किन्तु प्रसूता होने पर (विषयों का प्रसव करके मन की वृत्तियों को रमा लेने पर) दूध नहीं देती (आनन्द का सृजन नहीं करती) खूंटे पर बांध देने पर (अर्थात् नियन्त्रित करने पर) वह अवश्य ही आनन्द उत्पन्न करके परम पद की प्राप्ति में सहायक बनती है। जब वह मन को सहयोगी बना लेती है तब तो उसका नियन्त्रण कठिन हो जाता है। अतः उसको नियन्त्रित करना ही उत्तम है। सारी कामनाओं का दोहन यही करती है।[195] एक अन्य पद के अनुसार यह वत्सतरी सुरभि स्वयं दूध पीती है और बछड़ा दूध देता है।[196] यह गो सिंह तक का भक्षण कर जाती है।[197] तृण चर कर यह अमृत रस बरसाती है।[198]

प्रकृति को वेद में प्रायः गाय के रूप में देखा गया है।[199] अतः ऋग्वेद में गो का यह रूप भी विवेच्य है। आगे इस पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

वरुण की कामधेनु

'नैषधीयचरितम्' में जलमय गृह में निवास करने वाली वरुण की कामधेनुओं का उल्लेख मिलता है। याचना करने पर वरुण की ऐसी एक कामधेनु स्तोता को भी मिल जाती है।[200] वरुण की पृश्निधेनु का उल्लेख अथर्ववेद[201] और ऋग्वेद[202] में भी मिलता है।

इस प्रकार गो सम्बन्धी विचारों का मूल ऋग्वेद ही ठहराता है। अतः अगले अनुच्छेदों में ऋग्वेद में गो के स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

195 अवधू कामधनु गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करे सबहिन का, कछू न सूझे आंधी रे।
जो ब्यावे तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कोली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यों घेरो त्यूं दरवै।
तिहि धेन थैं इंछ्या पूगी, पाकडि खूंटे बांधी रे।
ग्वाडा मांहे आनन्द उपजो खूंटे दोऊ बांधी रे।
साई माइ, सास पुनि साई, साई याकी नारि।
कहै कबीर परमपद पाया, सन्तौ लेहु विचारि।
कबीर ग्रन्थावली--पदावली भाग-पद 152

196 सुरही चूंषै बछतलि बछा दूध उतारै।—पदावली-पद सं० 161
(अर्थ-ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति की संचालिका बुद्धि रूपी गो ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होने वाले अमृत रस का आस्वादन करती हैं)

197 गाइ नाहर खायो काटि अंगा। पदावली पद 160
(गो या बुद्धि विवेक द्वारा सिंह के समान अज्ञानान्धकार को दूर कर देती है)

198 सुरही तिण चरि अमृत सरवै। पदावली पद सं० 200
(सुरभि-बुद्धि तिण-बाह्य-विषय। विषयों से निवृत्त होने पर यह आनन्द रस की धारा बहाती है।)

199 डा० फतहसिंह—वैदिक समाज शास्त्र में यज्ञ की कल्पना-पृ० 7

200 नैषध 9.77 201 अथ‍र्व 5.11, 1.10.1, 7.104.1

202 ऋ० 7.87.4, 1.137.1

द्वितीय अनुच्छेद : ऋग्वेद में गो व तदर्थवाची शब्द

आधुनिक भाषाविज्ञों के अनुसार एक शब्द किसी एक विशिष्ट अर्थ को प्रकट करता है यद्यपि यह अर्थ समय समय पर बदलता रहता है।[1] शब्द की सार्थकता तथा स्थान व काल भेद से शब्द के अर्थ की परिवर्तनशीलता को नैरुक्त यास्क भी स्वीकार करता है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि समृद्ध व विकसित भाषा में एक भाव को व्यक्त करने के लिए केवल एक ही शब्द होता है। तुलनात्मक-भाषाविज्ञान की सहायता से वे शब्दों के ऐसे सामान्य अर्थों को खोजते हैं। इसी प्रक्रिया से, वेदों का अध्ययन करते समय भी वे, अधिकतर शब्दों का निश्चित भाव स्थिर करते हैं और मानते हैं कि उन शब्दों का वह भाव वेद में आद्यन्त समान रूप से बना रहा है [2]

सार्थकता व परिवर्तनशीलता शब्द की सामान्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार्य हैं,[3] परन्तु किसी शब्द के एक ही अर्थ में सर्वत्र-विशेषतया विशाल वैदिक वाङ्मय में प्रयोग की बात वास्तविकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरता क्योंकि वेदों की शैली काव्यात्मक है और लौकिक काव्यों की तरह वेदों में भी श्लेष अलंकार का प्रयोग व्यापक रूप में मिलता है।[4] अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारों में भी सर्वत्र समानार्थकता के नियम का निर्वाह नहीं किया जा सकता, परन्तु शब्दों की एकार्थकता निम्न दृष्टिकोण से स्वीकार की जा सकती है।

शब्द और अर्थ के विषय में दो दृष्टिकोण

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में एक दृष्टि यह है कि इन दोनों में नित्य सम्बन्ध है[5] और ये दोनों अपृथक् स्थिति वाले, एक ही आत्मा के दो भेद हैं।[6] इस दृष्टि के अनुसार जैसे ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता आत्मा, ज्ञेय ब्रह्म-रूप होता हुआ देखा जाता है उसी तरह अर्थ अपने स्वरूप को शब्द में प्रकाशित करता है।[7]

---

1 तारा पोर वाला–Elements of Comparative Philology. chap. 6।63
2 Studies in Vedic Interpretetation, P. 12
3 डा० सुधीर कुमार गुप्त ने भी शब्दों के अर्थों की सम्पत्ति में ह्रास व वृद्धि को माना है–वेदलावण्यम् भाग 1 पृ. 61
4 Studies in Vedic Interpretation P. 12
5 नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नात महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः। भर्तृहरि वाक्यदीयम् 1।23
नित्यो हि अर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः पतंजलि–महाभाष्य 1।7 तुलनीय–मीमांसा-दर्शनम् 1।1।5 रघु 1।1
6 एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक्स्थितौ-वाक्पदीयम् 2।31
7 आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ।। वाक्पदीयम् 1।50

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं होता।[8] शब्द वक्ता के मुख पर होता है और अर्थ भूमि पर। अतः स्वभाव से ही ये असम्बद्ध होते हैं।[9] शब्द सुनने से जो अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द और अर्थ में सामयिक सम्बन्ध होने के कारण होती है।[10]

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों से निम्न समन्वयात्मक तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—

1 शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। अर्थ ही शब्द द्वारा स्वयं को प्रकाशित करता है। अर्थ के बिना शब्द का उच्चारण नहीं किया जा सकता (तथाकथित निरर्थक व यदृच्छा शब्दों का भी वक्ता के अनुसार कोई अर्थ अवश्य होता है)।

2 शब्द का संकेतित पदार्थ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता।

3 शब्द से संकेतित पदार्थ का ग्रहण समय-निर्देशानुसार होता है।

4 सामयिक-अनुबन्ध समाप्त हो जाने पर, चाहे किसी भी कारण से ऐसा हुआ हो, शब्द किसी अन्य पदार्थ को भी संकेतित कर सकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शब्दोच्चारण किसी भाव को व्यक्त करने के लिए ही होता है और इस प्रकार भाव का शब्द से नित्य सम्बन्ध है, परन्तु साथ ही अर्थ परिवर्तन होने से किसी शब्द द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थों को संकेतित किया जा सकता है। यहां प्रथम दृष्टिकोण का केन्द्र स्वयं शब्द है जबकि द्वितीय का संकेतित पदार्थ। अर्थ निर्धारण में दोनों पर विचार किया जाता है।

शब्द की एकार्थकता व अनेकार्थकता

शब्द ध्वनियों से बनता है जो स्वयं सार्थक होती हैं। प्रत्येक ध्वनि किसी संवेदना को व्यक्त करती है और इसी अर्थ में वह सार्थक कही जा सकती है।[10अ] ध्वनि भाषा की लघुतम इकाई है जैसे संवेदना या सामान्य इन्द्रियानुभव विचार-परम्परा में लघुतम इकाई कहे जा सकते हैं।

ध्वनि समूह से शब्द बनता है। यह (शब्द) वक्ता व श्रोता के बीच में किसी वैचारिक-प्रत्यय के विनियम का साधन होता है। शब्द का अर्थनिर्धारण उसमें प्रयुक्त ध्वनियों द्वारा ही होना सम्भव है। एक से अधिक ध्वनियां शब्द में अनुकूलन व्यापार द्वारा किसी विशेष भाव को पुष्ट करती हैं और वह भाव ही उस शब्द का अर्थ या सार होता है। कभी एक शब्द में विपरीत संवेदनाओं को व्यक्त करने वाली ध्वनियां आ जाने पर अर्थ-निर्धारण उस ध्वनि के आधार पर होता है

---

8 शब्दार्थावसम्बद्धौ—वैशेषिक दर्शनम् 2।7।8

9 नैव शब्दास्यार्थेन सम्बन्धः. स्वभावतो ह्यसम्बन्धावेतौ शब्दार्थौ मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थम्। मीमांसादर्शनम् 9।9।5 पर शबर स्वामी का भाष्य।

10 सामयिकः शब्दार्थ-सम्बन्धः। वैशेषिक दर्शनम् 7।2।20

10अ डा० सुधीर कुमार गुप्त ने भी यह माना है कि शब्दों की मूल धातुओं का निर्माण सार्थक वर्णों से हुआ है। इस निर्माण द्वारा ही विविध वर्ण संघटना विविध अर्थ-वाचक हो गई।

किमर्थमर्थनित्यः परीक्षेत्—'अमृतलता' 9।9

जिस पर वक्ता ने विशेष बल दिया हो। लौकिक भाषाओं में बल को सूचित करने वाले विशिष्ट चिह्न लिपि में नहीं देखे जाते, परन्तु वैदिक भाषा में उदात्तादि स्वरों द्वारा ध्वनि-बल को संकेतित किया जाता है। प्राचीन अरबी भाषा में भी स्वर प्रयोग होने का प्रमाण मिलता है।

यह मान लेने पर कि शब्द का अर्थनिर्धारण उसमें प्रयुक्त सबल ध्वनि के अनुसार होता है और अन्य ध्वनियां उसी अर्थ में अपने को खो देती हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि समान वर्णों के होते हुये भी प्रथम से भिन्न अन्य अर्थ वाला शब्द मूलतः (बल स्थान परिवर्तित हो जाने से) पहले से भिन्न हो गया है। इसप्रकार एक शब्द का, जिसके (एक से अधिक ध्वनियां प्रयुक्त होने से) अनेक अर्थों की सम्भावना होती है, बल का सूचक स्वर चिह्न लगाने से अर्थ स्थिर हो जाता है। यथा–स्वर न होने पर 'नमः' का अर्थ अन्न भी है और वज्र भी[11] किन्तु 'नमः' और 'नमः' के अर्थ स्थिर हो गये हैं। इसी तरह ब्रह्मन् और ब्रह्मन्, यशस् और यशस्❀ आदि के अर्थ भी रूढ़ हो गये हैं। निरुक्त में शब्दों का निर्वचन करते समय यास्क ने अर्थ को प्रधानता दी है और अनेकार्थक शब्द के किसी एक सामान्य अर्थ को निरुक्त मान कर वह प्रकृतिप्रत्ययविभाग द्वारा शब्द का निर्वचन कर देता है।[12] अतः वेदों में स्वर प्रयोग द्वारा अर्थों को सीमित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार वे अनेकार्थक होने पर भी प्रयोग-स्थल पर सीमित अर्थ वाले अथवा पारिभाषिक हो जाते हैं।

श्लिष्ट शब्दों की अनेकार्थकता

भिन्न स्थलों पर भिन्न अर्थ देने वाले समान रूप व वर्णों वाले शब्दों को वर्ण-साम्य होने पर भी अर्थ की भिन्नता के अनुसार पृथक् माना जाय तो श्लिष्ट (√श्लिष्-आलिंगने) शब्द उनको कहेंगे जिनमें समान वर्ण के दो या अधिक भिन्नार्थक शब्द आकर एकरूप हो गये हों तथा उनमें उदात्त आदि स्वर का भी किसी एक स्वर में पर्यवसान वा एकीकरण हो गया हो। शब्दश्लेष में तो स्पष्ट ही ऐसा देखा जाता है यथा— विधौ' शब्द में विधि और विधु के सप्तमी विभक्ति के रूप मिल कर एक रूप हो गये हैं। अर्थश्लेष में भी ऐसा मानना असंगत न होगा–यथा आत्मा। वस्तुत अर्थ श्लेष में ही श्लिष्ट पदों का चरम रूप उपलब्ध होता है।

पर्यायवाची शब्द

ऊपर कहा जा चुका है कि सामान्य प्रयोगों में एक शब्द एक ही अर्थ प्रदान करता है। पर्यायवाची शब्द पदार्थ-विशेष को लक्ष्य करके चलते हैं, परन्तु अर्थ वे भी सामान्यतया एक ही देते हैं। किसी वस्तु के अनेक गुणों में से एक शब्द एक ही गुण का वाचक होता है और इस कारण अन्यवाची, उसी पदार्थ को संकेत करने वाले शब्द अर्थ में उससे भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—चक्षु, नेत्र, अक्षि आदि सामान्यतया पर्यायवाची समझे जाने वाले शब्द वस्तुतः आंखों के एक एक गुणविशेष को ही प्रकट करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि चक्षु एक भावविशेष को

---

11 निघण्टु 2।7 व 2।20

12 पं. युधिष्ठिर मीमांसक-वैदिक छन्दोमीमांसा—पृ. 20

❀ प्रथम नमः आद्युदात्त, दूसरा अन्त्योदात्त, प्रथम ब्रह्मन् आद्युदात्त, दूसरा अन्त्योदात्त; प्रथम यशस् अन्त्योदात्त दूसरा आद्युदात्त

व्यक्त करने वाला शब्द है और नयन दूसरे भावविशेष को व्यक्त करने वाला। पृथक् पृथक् भावों को व्यक्त करने वाले ऐसे शब्द एक पदार्थ से सम्बद्ध होने के कारण पर्यायवाची माने गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रयोगभेद में शब्द की अनेकार्थकता स्वतःसिद्ध होने पर भी वक्ता सामान्यतः किसी एक ही अर्थ को व्यक्त करने के लिए उसका प्रयोग करता है। वेद में भी ऐसा ही हुआ है।

गो शब्द

शब्द विशिष्ट-लक्षण-सम्पन्न जाति की ओर संकेत करता है। यथा गो शब्द गोत्वलक्षणसम्पन्न जाति की ओर संकेत करता है। गो की आकृति और व्यक्ति का सम्बन्ध भी उसकी जाति से ही है। जिससे जाति के लक्षण प्रकट होते हों वह आकृति[13] कहलाती है और गुणों के मूर्तिमान संघात का नाम है व्यक्ति।[14] शब्द से जाति का सम्बन्ध जाति के गुणविशेष के कारण जुड़ता है। यह गुण जिस विशेष संवेदना को ज्ञाता में जगाता है प्रारम्भ में कोई ध्वनि उसको व्यक्त करती रही होगी। कालान्तर में कुछ अन्य सहयोगिनी ध्वनियों के संयोग से शब्द बना[15] और सामान्य संवेदना या इन्द्रियानुभव का स्थान उस वस्तु के गुण पर आधृत भाव ने ले लिया। यह भाव सामान्य इन्द्रियानुभव का ही विशेष रूप कहा जा सकता है। यह भाव ही शब्द का अर्थ बना। शब्द के जीवन के इतिहास में ऐसी भी स्थिति आती है जब वक्ता शब्द द्वारा वाच्यमान व्यक्ति के विशिष्ट गुण से तटस्थ हो जाता है और शब्द तथा व्यक्ति की जाति का रूढ़ सम्बन्ध मान लेता है। जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती तब तक वह शब्द उस गुण विशिष्ट से अन्य पदार्थ की ओर संकेत करने में समर्थ होता है। एक शब्द के अनेक अर्थों की प्रतीति का एक कारण यह भी है। वैदिक भाषा में भी प्रो० मैक्समूलर ने यही प्रवृत्ति मानी है। उनके अनुसार वहां प्रत्येक पद में कुछ २ धात्वर्थ अवशिष्ट हैं। वहां द्रवावस्था-सी है। वहां अभी संज्ञाएँ और व्यक्तिवाचक नाम नहीं है,[16] परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विकसित और रूढ़ भाषाओं में समान वर्ण होते हुए भी पृथक् २ अर्थों में प्रयुक्त शब्द एक नहीं हैं भिन्न २ ही हैं।

गो शब्द से सामान्य अर्थ गो जाति और गो व्यक्ति ही लिया जाता है, परन्तु ऋग्वेद में गो शब्द के प्रयोगस्थलों को देखने से यह प्रतीत होता है कि उस समय तक इस शब्द का संवेदना या सामान्य इन्द्रियानुभव को व्यक्त करने वाला भाव भी प्रचलित था, जिसके कारण गो व्यक्ति के विशिष्ट गुण—"गति" के साथ इसका

---

13 न्यायदर्शन 2।2।70   14 वही 2।2।69

15 डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने लेख 'मोनोसिलेबिक ओरिजिन ऑफ दी वैदिक लैंग्वेज' नामक प्राच्यविद्याविश्वसम्मेलन 1964 में पठित और गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल के अंक में मुद्रित लेख में मिथुनप्रक्रिया के नियमों के सन्दर्भ 118–142 में इस ध्वनिसम्मेलन का पर्याप्त वर्णन किया है। इस लेख के अन्य भागों में भी एतद्विषयक सामग्री है।

16 द्रष्टव्य 'वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' 6।50

सम्बन्ध जुड़ा। कालान्तर में इसका धात्वर्थ के आधार पर नामकरण किया गया। गो शब्द द्वारा प्रकट होने वाला गो व्यक्ति का गुण जिस अन्य पदार्थ में मिलता है, उसे भी ऋग्वेद में गो कहा जाता है।

ऋग्वेद में गो शब्द

ऋग्वेद में गो व गौ दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। "गौ" सामान्यतया वृषभ का वाचक है। यास्क के अनुसार गो शब्द गत्यर्थक √गाङ् या √गम् धातु से निष्पन्न है।[17] यास्क ने इसे इसके गतिधर्म के अनुसार पृथिवी, रश्मि, वाक्, स्तोता, अन्न, गो (पशु विशेष), आदित्य, चर्म, श्लेष्मा तथा ज्या अर्थों में प्रयुक्त माना है।[18]

इस बात को इस प्रकार कहना अधिक सरल होगा कि गति की भिन्नता को प्रदर्शित करने वाले उपर्युक्त पदार्थों के व्यंजक विविध शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं जो समान वर्ण वाले हैं। व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें एक शब्द कहकर उनसे संकेतित अर्थों को उस एक शब्द के विविध अर्थ मान लिए गए हैं।

यहां गो पद के इन अर्थों के विषय में विचार अप्रासंगिक न होगा।

पृथिवीवाचक गो शब्द

गो शब्द का प्रयोग बताता है कि मूलतः इसका रूढ़ अर्थ "पशु विशेष" हो गया है। तत्समान होने से ही वह पृथिवी का वाचक है। यही कारण है कि पृथ्वी को गो माना गया है और इसी रूप में परवर्ती साहित्य में उसे ग्रहण किया गया है।[19] पौराणिक शैली में कहा गया है कि पृथिवी ने गो रूप धारण कर लिया।[20] यास्क ने भी गो को पृथिवी का नाम मानते हुए व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ सुझाये हैं— "यद् दूरं गता भवति, यच्च अस्यां भूतानि गच्छन्ति।[21] यास्क ने निर्वचन करते समय ब्राह्मण ग्रन्थों से मुख्य रूप से सहायता ली है, जिनमें स्पष्टतया गो व उसके पर्यायवाची शब्दों को पृथिवी अर्थ में भी प्रयुक्त माना गया है।[22] इनका आधार वैदिक संहिताएं मानी जा सकती हैं। उन संहिताओं[23] और विशेषतया ऋग्वेद में[24] स्पष्ट ही गो शब्द पृथिवी अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य[25] में गो शब्द पृथिवी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

---

17 नि. 2।2।1 18 वही 2।2।1–5

19 इरिए पृ० 225 तथा Vedic Reader p. 39

20 भापु० 10।1।18, 4।17।3; रघु० 2।3, 21 नि 2।2।1

22 गोर्वै सार्पराज्ञी [इयं (पृथिवी) वै सार्पराज्ञीयं हि सप्ततो राज्ञी] कौ. ब्रा 27।4; अदितिर्हि गौः (इयं वै पृथिवी अदितिः। शब्रा० 1।1।4।5, 2।2।1।19), शब्रा० 2।3।4।34, इयं वा धेनुः, शब्रा० 12।9।2।11, वाग्वै धेनुः (वागिति पृथिवी–जै० उ० ब्रा० 4।22।11, ऐ० ब्रा० 5।33) गोब्रा पू० 2।11, ताम्रब्रा० 18।9.21 आदि।

23 यवेवा 13।43 (दयानन्द भाष्य), अथर्ववेद 8।10।22।21 इरिए में पृ० 225 पर उद्धृत 24 यथा ऋ० 5।43।14

25 द्रष्टव्य पूर्व टिप्पणी संख्या 20 तथा प्रथम अनुच्छेद

पृथ्वी के पर्यायवाची शब्द तथा गो

यास्क ने पृथिवी के गो समवेत 21 नाम गिनाये हैं। वे नाम हैं—गो, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणिः, क्षितिः, अवनिः, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इला, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातु, गोत्राः।[26]

ऋग्वेद में ग्मः शब्द 5 बार दिवः के साथ[27] प्रयुक्त हुआ है और सर्वत्र पृथिवी अर्थ का वाचक है। द्यावापृथिवी की तरह ये दोनों शब्द भी साथ-साथ प्रयुक्त हो कर आकाश और पृथिवी की ओर संकेत करते हैं, जिनके भीतर सारे पदार्थ आ जाते हैं और इस प्रकार वे संसार के दो मूल भागों[28] के वाचक भी बन जाते हैं। 'ग्म' शब्द की व्युत्पत्ति परवर्ती साहित्य में अज्ञात गत्यर्थक √ग्म् धातु से ज्ञात होती है, जिसके ग्मन्[29] ग्मन्त[30] आदि रूप ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं। धातुपाठ ने इसे √गम् के अन्तर्गत रखा है।

ऋग्वेद में द्यावापृथिवी संयुक्त देवता के रूप में प्रयुक्त हैं जिनसे आकाश, भूमि आदि के रूप निश्चित रूप से भिन्न हैं।[31] उनके संयुक्त रूप से भिन्न पृथिवी की सूचना ज्मा[32] या ज्मः[33] शब्दों द्वारा मिलती है। इनकी व्युत्पत्ति √ ज्म (ज्मन् रूप ऋ० 7।21।6, 60 में प्रयुक्त) धातु से ज्ञात होती है। निघण्टु में गतिकर्मा धातुओं में जमति उल्लिखित है।[34] 'ज्मा' इस धातु से भी निष्पन्न माना जा सकता है जिसमें से "ज" के "अ" का लोप हो गया है। देवराज ने 'ज्मा" व 'ज्मः" को √जनु-अदने, √जनी-प्रादुर्भावे तथा √अञ्जु-व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु से भी व्युत्पन्न किया है।

क्षमा, क्षा, क्ष्मा, क्षोणिः और क्षिति की व्युत्पत्ति √ क्षि (रहना, निवास करना, गति करना) धातु से ज्ञात होती है। देवराज ने √क्षि–क्षये, √क्षि–हिंसायाम्, √क्षै—क्षये, क्षमुष्–सहने और √ क्ष्मायी-विधूनने धातुओं का भी निर्देश किया है। "क्ष्म": शब्द "दिवः" के साथ केवल एक बार [35] प्रयुक्त हुआ है और द्यावापृथिवी के जोड़े का वाचक है, परन्तु "क्ष्मा" का तृतीया विभक्ति में "क्ष्मया" रूप सर्वत्र अकेली पृथिवी के लिए ही व्यवहृत हुआ है।[36] क्षोणीः शब्द[37] द्यावापृथिवी के संयुक्त रूप का ही वाचक है यथा—

समु त्ये महतीरपः सक्षोणी समु सूर्यम्।[37]

---

26 निघ 1।1

27 ऋ० 1।25।20, 37।6, 5।38।3 10।22।6, 49।2

28 वैद०-पृ० 79 (यहां ये ब्रह्माण्ड के दो भाग-ब्रह्म के दो रूप कहे गये हैं।)

29 ऋ० 1।65।1, 3।38।2, 54।14 आदि

30 ऋ० 1।122।11

31 वैद० पृ० 79

32 ऋ० 6 52।15, 7।39।3

33 ऋ० 1।157।1, 4।50।1, 8।1।18, 10।89।1, 11

34 निघ 2।14

35 ऋ० 1।100।15

36 ऋ० 1।55।6, 5।84।3, 7।46 3, 10।61।7, 89।3

37 ऋ० 8।7।22 (रामगोविन्द त्रिवेदी व सायण ने 'क्षोणी' शब्द का अर्थ द्यावापृथिवी किया है।) अन्यत्र ऋ० 8।52।10

एक वचन में "क्षोणी" शब्द केवल पृथिवी का वाचक है। यथा—

इन्द्रं क्षोणीरवर्द्धयन् ।[38]

में क्षोणी का अर्थ केवल पृथिवी है। "क्षा:"[39] और 'क्षमा"[40] भी केवल पृथिवी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। "क्षिति" शब्द केवल पृथिवी के लिए[41] या उसके एक अंश (वेदी) के लिए[42] व्यवहृत हुआ है। इन शब्दों द्वारा पृथिवी के "स्थूल रूप" का उल्लेख उसके सूक्ष्म रूप का भी निर्देश करता है। यथा—

क्षमेदमन्यद्दिव्यन्यदस्य समीं पृच्यते समनेव केतुः ।[43]

यहां पर पृथिवी और द्युलोक में संपृक्त इन्द्र की सामर्थ्य (सायण–सेना) का उल्लेख है। अन्यत्र पृथिवी को इन्द्र की सामर्थ्य वर्द्धित करने वाली कहा गया है।[44]

"अवनि" शब्द की व्युत्पत्ति आपाततः गति, रक्षण आदि अर्थों में प्रचलित √अव धातु से है। इन्द्र को धन का रक्षक कह कर इस शब्द का रक्षक अर्थ में ऋग्वेद में प्रयोग किया गया है। यथा—

यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत[45]।

लुप्तोपमाकी योजना द्वारा यह 'अवनि' रक्षा करने वाली पृथिवी का भी वाचक बन जाता है। एक मन्त्र—

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां अरमयः ।[46]

के 'विश्वधेनां अवनिम्' शब्दों से 'अभीष्ट फलों से आप्यायित करके रक्षण करने वाली' अर्थ की प्रतीति होती है।

उर्वी शब्द का अर्थ "विस्तृत" है। विस्तार के कारण ही कदाचित् पृथिवी को उर्वी नाम दिया गया हो। सामान्यतया यह शब्द विस्तारवाचक विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है यथा—

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु ।[47]

परन्तु कहीं यह पृथिवी के स्थूल रूप को भी द्योतित करता है।[48] एक मंत्र में उर्वी शब्द द्यावापृथिवी के संयुक्त रूप का वाचक है। यथा—

---

38 ऋ० 8।13।17 अन्यत्र 8।3।10

39 ऋ० 1।133।6, 4।17।1, 22।4, 10।2।6 आदि।

40 ऋ० 1।103।1, 5।52।3, 8।20।26 आदि।

41 ऋ० 1।65।3 (स्कन्दस्वामी भाष्य व सायण भाष्य), 3।13।4

42 अग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु–ऋ० 1।73।4 (स्कन्दस्वामी भाष्य)

43 ऋ० 1।103।1 44 ऋ० 8।13।17

45 ऋ० 1।4।10 तुलनीय 8।32।13अन्यत्र ऋ० 1।118।3 में अश्विनों के रथ को भी रक्षण सामर्थ्य से संयुक्त करके 'अवनि' शब्द द्वारा पृथ्वी के समान बतलाया गया है।

46 ऋ० 4।19।6

47 ऋ० 1।24।9 अन्यत्र 1।118।5,7 व 6।47।20 में भी यह अर्थ उर्वी शब्द का किया गया है।

48 ऋ० 1।189।2

परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परिष्टे ।[49]

षडुर्वी (द्यावा पृथिवी, दिन-रात, नल-औषधि-सायण) शब्द द्वारा द्युलोक व पृथिवी के 3-3 रूपों[50] की ओर संकेत किया गया ज्ञात होता है।

पृथिवी शब्द का प्रयोग बहुधा द्यावापृथिवी के रूप में संयुक्त देवता को द्योतित करने के लिए हुआ है,[51] परन्तु कहीं कहीं पृथ्वी[52] और पृथिवी[53] शब्द स्वतन्त्र रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति विस्तार अर्थ में √ प्रथ् धातु से हुई है। पृथिवी के अधिष्ठातृ-देवता अग्नि है।[54] गो को भी आग्नेयी कहा गया है।[55] अतः पृथिवी और गो शब्द में अभिन्नता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

मही शब्द का प्रयोग सामान्यतया महती[56] के अर्थ में और विशेषतया त्रिदेवियों में भारती के लिए हुआ है।[57] यह शब्द संयुक्त देवता द्यावापृथिवी को भी संकेतित करता है। यथा—

इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही ।[58]

कुछ स्थानों पर यह पृथिवी का विशेषण भी है।[59] मही के मातृत्व का उल्लेख भी मिलता है। यथा—

सिषक्तु माता मही रसा नः—।[60]

ऋग्वेद में पृथिवी अर्थ में प्रयुक्त "रिपः" के प्रिय पद का उल्लेख मिलता है। मातृरूपा पृथिवी (रिपः) के उपस्थ में शिशु-अग्नि के द्वारा क्रीड़ा किए जाने की बात कही गई है।[62]

---

49 ,, 1।61।8 अन्यत्र 1।185।6

50 ,, 7।87 5

51 ऋ० 1।35।9, 52।14, 2।1।15 आदि।

52 ऋ० 1।65।3, 1।189।2, 4।4।1, 6।12।5, 7।38।5 आदि।

53 ऋ० 1।22।13, 37।8, 39।6, 52।11, 3।6।3 आदि।

54 नि 7।4।1

55 आग्नेयी वै गौः—शब्रा 7।5।2।19 (यजुर्वेद में पशु गो का उल्लेख नहीं है, अनडुह् को यजु० 24।8 में आग्नावैष्णव माना प्रतीत होता है। 24।13 में अतिच्छन्दस् के लिए धेनुओं के आलम्बन का उल्लेख है।)

56 यथा ऋ० 1।22।13, 10।2।7, 117।20 आदि।

57 ऋ० 1।13।9, 142।9 आदि

58 ऋ० 1।80।11 (स्कन्दस्वामी भाष्य द्रष्टव्य) अन्यत्र 3।38।3, 55।20 आदि।

59 ऋ० 1।131।1, 1।164।33

60 ऋ० 5।41।15, अन्यत्र 5।47।1

61 पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वेः— ऋ० 3।5।5

62 ऋ० 3।7।3

अदिति वसुओं की पुत्री, रुद्रों की माता और आदित्यों की स्वसृस्वरूपा गो है।[63] इसे आदित्यों की माता भी कहा गया है।[64] अदिति का अपनी सन्तान आदित्यों के साथ नित्य आवाहन यह व्यक्त करता है कि मातृत्व इसके चरित्र का अनिवार्य और विशिष्ट गुण है।[65] इसके असीमित दान का भी उल्लेख मिलता है।[66] एक मंत्र में उसे आकाश, वायु, माता, पिता, पुत्र आदि से अभिन्न बतलाते हुए सार्वभौमिक प्रकृति बताया गया है।[67]

इला त्रिदेवियों में से एक है। हवि की प्रकृति के कारण इला को घृतहस्ता[68] व घृतपदी[69] कहा गया है। मातृत्व का सम्बन्ध इससे भी जोड़ा गया है।[70] इला के पद का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख है।[71] इसे यूथ की माता भी कहा गया है।[72]

निर्ऋति शब्द पृथिवी अर्थ में √रम् धातु से निष्पन्न है[73] अथवा 'निः' पूर्वक √ ऋ गतौ धातु से भी निष्पन्न हो सकता है।[74] ऋग्वेद में तीन निर्ऋतियों का उल्लेख भी मिलता है--

तिस्रो देष्टाय निर्ऋतीरुपासते।[75]

भू और भूमि शब्द अस्तित्वबोधक √भू धातु से व्युत्पन्न हैं और ऋग्वेद में पृथिवी अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं[76] पृथिवी का स्थूल रूप सब की प्रतिष्ठा और सब का आधार है।

पूषा का सम्बन्ध पोषण से है। पृथिवी सबका पोषण करती है, अतः वह पूषा कही गई है।[77] पूषा द्युस्थानीय देवता भी है। पशु-रक्षण से इसका भी सम्बन्ध है। पूषा को देवताओं में शूद्र माना गया है; पृथिवी को उससे सम्बन्धित। अतः पूषा देवता के समान पोषक होने से पृथिवी को भी पूषा कहा गया प्रतीत होता है।

---

63 ऋ० 8।101।15
64 ऋ० 8।25।3, 10।36।3, 10।72।8 आदि (वरुण, मित्रादि को आदित्य कहा गया है।)
65 वेदेशा पृ० 315 द्रष्टव्य।
66 ऋ० 1।185।3, वेदेशा पृ० 137 भी द्रष्टव्य।
67 ऋ० 1।89।10
68 ऋ० 7।16।8
69 ऋ० 10।70।8
70 ऋ० 3।27।9,10
71 ऋ० 1।31।11, 40।4, 3।1।23 आदि।
72 ऋ० 7।41।19
73 नि० 2।2।3
74 ऋ० 1।119।7 (मंत्र में निर्ऋतं पद का अर्थ स्कन्दस्वामी ने–निश्चयेन गतं प्राप्तम् किया है।)
75 ऋ० 10।114।2 (सायण के अनुसार त्रिलोक के देवता अग्नि, वायु, सूर्य 3 निर्ऋतियां हैं।)
76 ऋ० 1।87।3, 6।15।14, 7।19।10, 10।53।3
77 शब्रा 14।4।2।25

देवराज ने 'गातुः' को √गाङ् गतौ, √गाङ्-स्तुतौ और √गै-शब्दे से व्युत्पन्न किया है। डा० सुधीरकुमार गुप्त ने दिखाया है कि मूलतः गति और शब्द एक हैं।[78] पृथिवी अपनी परिधि में सूर्यमण्डल के चारों ओर घूमती है। यह शब्दवती भी है, परन्तु गति के सामने इसका शब्द गौण है। अतः सम्भवतः गति अर्थ की प्रधानता के कारण ही पृथिवी को 'गातुः' नाम मिला होगा।

'गोत्राः' शब्द 'गो' एवं 'त्रा' पदों से बना है अतः इसका गति व रक्षण दोनों से सम्बन्ध ज्ञात होता है। इसमें प्राणी गति भी करते हैं और सुरक्षा भी पाते हैं।

पृथिवी वाचक उपर्युक्त शब्दों के विवेचन से ज्ञात हुआ कि गति, प्रतिष्ठा, रक्षण, पोषण और मातृत्व पृथिवी की सामान्य विशेषताएं हैं। इन कार्यों में 'द्यौः' का भी सहयोग रहता है (यथा-अवकाशप्रदान)। अतः द्यावापृथिवी का संयुक्त रूप सामने आया, जो सृष्टि के मूलतत्त्वों की ओर संकेत करता है। पृथिवीवाचक सभी शब्द कभी संयुक्त देवता को द्योतित करते हैं और कभी केवल पृथिवी को ही। इसलिए द्यावा और पृथिवी को दो मधुदोहकों के रूप में उल्लिखित किया गया है।[79]

पृथिवी को गो से अभिन्न कहने का कारण इन दोनों में गति, रक्षण, पोषण प्रतिष्ठा और मातृत्व आदि धर्मों की समानता होना जान पड़ता है।

आदित्य और गो

यास्क ने गो के पृश्नि व गो नामों को नभस् (द्युलोक) के छह पर्यायवाची शब्दों में गिनाया है।[80] ऋग्वेद में स्वर्जित् एवं 'गोजित्' विशेषण इन्द्र के लिए एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।[81] 'स्वः' और 'गो' पर्यायवाची हैं, यहाँ दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग इंगित करता है कि ऋषि को यहाँ इनके पृथक् पृथक् भाव अभिप्रेत हैं।

पृश्नि का आदित्य अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है जहाँ उसके पिता, माता, दीप्तिमान् शरीर, त्रिशद्धाम आदि का उल्लेख भी है।[82] यास्क ने इसे वर्ण बाहुल्य से व्याप्त करने वाला, रसों का स्प्रष्टा तथा ज्योति से संसृष्ट आदित्य व विविध ज्योतियों से तथा पुण्यवान् लोगों से संस्पृष्ट द्युलोक माना है।[83]

द्यु या आदित्य वाची गो शब्द की निरुक्ति यास्क ने पृथिवीवाची गौ से भिन्न प्रकार से दी है—

(अ) गौ-आदित्यो भवति। गमयति रसान्। गच्छति अन्तरिक्षे,

(आ) अथ 'द्यौः' यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति। यच्च अस्यां ज्योतींषि गच्छन्ति।[84]

---

78 ऋग्वेद के ऋषि, उनका सन्देश और दर्शन, सन्दर्भ 2

79 ऋ. 6।70।1-6

80 निघ. 1।4

81 ऋ. 2।21।1

82 ऋ. 10।189।1-3

83 'पृश्निः' आदित्यो भवति। प्राश्नुते एनं वर्णः इति नैरुक्ताः। संस्प्रष्टा रसान्। संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्। संस्प्रष्टो भाषा इति वा। अथ द्यौः संस्प्रष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। नि 2।4।2

84 नि 2।4।2

गो की प्रथमोक्त निरुक्ति और यहां दी हुई निरुक्ति में गति भाव तो समान है। केवल गति का रूप बदल गया है–उसका विशेषीकरण हो गया है। इससे ऊपर कही बात स्पष्ट हो जाती है कि विविध अर्थों में प्रयुक्त गो शब्द एक नहीं हैं। समान वर्ण के होने के कारण ही सर्वत्र एक शब्द ज्ञात होता है। यहाँ पृथिवीवाची और आदित्यवाची गो शब्द पृथक् पृथक् हैं और वे गति के भिन्न भिन्न रूपों को ध्वनित करते हैं।

यास्क के अनुसार स्वः, विष्टप् और नभ में भी गत्यर्थक √ऋ या √ईर, √विश् और √नी धातुओं का प्रयोग हुआ है।[85] निम्नलिखित ऋग्वेद के मंत्रों से इन निरुक्तियों का समर्थन होता है।

उद् वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे।[86]

इस मंत्र में गतिकर्मा √ईर धातु का प्रयोग सप्रयोजन हुआ है—वन्दन ने सुन्दर गति सम्पन्न (स्वः) को देखने या पाने के लिए ऊपर की ओर गति की।

परिणः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः। सरा रसेव विष्टपम्।[87]

इस मंत्र में 'सरा' (√सर गतिकर्मा धातु से) और रसा (√रस् शब्दे धातु से) का विष्टप् के साथ प्रयोग हुआ है और विष्टप् के 'गति को अपने में समाविष्ट करने वाला' अर्थ की व्यंजना देता है। इसी तरह

नभो न रूपं जरिमा मिनाति।[88]

इस मंत्र में 'मिनाति' पद गतिकर्मा मिनाति[89] और वधकर्मा मिनाति[90] का श्लिष्ट रूप ज्ञात होता है। ऐसा मान लेने पर जैसे प्रकाश के नेता आदित्य में अन्धकार को नष्ट करने वाली गति विद्यमान है वैसे बुढ़ापे में रूप को नष्ट करने की सामर्थ्य है। ऐसा अर्थ हो जाता है।

गौ शब्द का आदित्य अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद में उसके पृश्नि नाम के साथ भी हुआ है।[91]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गति-भाव के कारण ही पृश्नि, स्वः विष्टपादि शब्दों को गो का पर्याय-वाची माना गया है।

रश्मि के पर्यायवाची शब्द और गो

आदित्य के साथ आदित्य-रश्मियाँ भी गौएँ कही गई हैं।[92] रश्मि नामों में पठित 'सप्त ऋषयः' से गौओं की अभिन्नता दो तरह से स्थापित होती है। प्रथमतः

---

85 द्रष्टव्य निरुक्ति--स्वः-सुरअरणः, सुईरणः, विष्टप्–आविष्टो रसान्, आविष्टो भासा वा तथा नभ–नेता भासाम्। नि 2।4।2

86 ऋ 1।112।5 87 ऋ० 9।41।6

88 ,, 1।71।10

89 निघ 2।14

90 निघ 2।19

91 ऋ० 10।189।1 अन्यत्र ऋ० 6।56।3 आदि स्थलों पर भी गो सूर्यवाचक है।

92 निघ० 1।5

'ऋषि' शब्द भी गत्यर्थक √ऋ धातु से निष्पन्न है तथा द्वितीयत: ऋषियों को 'सप्त' संख्या के साथ गो के (आगे वर्णित) सप्त व त्रि-सप्त पदों का सम्बन्ध ज्ञात होता है।

ऋग्वेद में रश्मि अर्थ में गो का प्रयोग प्रचुर रूप में देखा जाता है। विष्णु के परमपद में निवास करने वाली बहुत से सींगों वाली गौएँ रश्मियाँ हैं।[93] 'गौओं में गमन करते हुए सूर्य' का वर्णन[94] गौओं को रश्मि अर्थ में प्रस्तुत करता है। त्रिधातु: गौएँ भी रश्मियाँ ही ज्ञात होती हैं[95] क्योंकि पूर्व मंत्र (5।47।3) से सूर्य का वर्णन चालू हुआ है। ये त्रिधातु गौएँ इसी सूर्य को धारण करती हैं। राम गोविन्द त्रिवेदी के अनुवाद में ये त्रिधातु गौएँ शीत, ग्रीष्म और वर्षा के भेद से त्रिविध रश्मियाँ है। दीप्त रश्मियों (गौओं) द्वारा अग्नि जगत् को प्रकाशित करते हैं।[96]

रश्मिनामों में 'उस्रा:' भी प्रयुक्त हुआ है। उस्रा गो का नाम भी है। उस्रा या उस्रिया शब्द √ सृ-गतौ या √स्रु--गतौ धातु से निष्पन्न हुए ज्ञात होते हैं। गति का विशिष्ट रूप यहाँ भी उल्लेखनीय है।

अह: स्वर्विविदु: केतुमुस्रा:।[97]

इस मंत्रांश में उस्रा शब्द रश्मि के अर्थ में प्रयुक्त है। मंत्रांश का अर्थ है--'दिन, आदित्य और किरणों ने प्रकाश रूप प्रज्ञान को प्राप्त किया'। यहां √ विद् धातु का 'उस्रा:' के साथ प्रयोग विशिष्ट गतिभाव का व्यंजक है।

रश्मि शब्द का सम्बन्ध यास्क ने यमन[98] (नियन्त्रित करना) से जोड़ा है।

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव।[99]

इस मंत्रार्ध में 'यमितवै' (नियन्तुम्) पद द्वारा रश्मि के 'यमन' भाव की सूचना मिलती है जो गति का ही विशिष्ट रूप है।

'वनम्' शब्द √ वन्-शब्दे धातु से निष्पन्न है। शब्द और गति के एकीभाव का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'सुपर्णा:' शब्द सु पूर्वक √पत् धातु से निष्पन्न[100] है।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति[101]

इस मंत्रार्ध में 'सुपर्णा:' शब्द रश्मिवाचक है। 'सुपर्णा:' कर्ता के साथ प्रयुक्त √ स्वर् क्रिया का प्रयोग इस शब्द का सम्बन्ध गति से जोड़ता है।

---

93 ऋ० 1।154।6 [सायण व मैक्डोनल, यास्क ने भी रश्मि अर्थ किया है।]

94 युवा कविर्दीदयत् गोषु गच्छन्—ऋग्वेद 5।45।9

95 ऋ० 5।47।4

96 शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्नि:। ऋ० 5।1।1

97 ऋ० 1।71।2 [अर्थ प्राप्ति के लिए स्कन्दस्वामी-भाष्य द्रष्टव्य, सायण ने भी रश्मि अर्थ किया है।]

98 नि० 2।5।1

99 ऋ० 1।28।4

100 नि० 3।2।6

101 ऋ० 1।164।21

रश्मि के पर्यायवाची 'साध्या:' और 'वसव:' का सम्बन्ध भी उनके साधन भाव और व्यापन (यद् विवसते सर्वम्)[102] भाव से गति से स्थापित हो जाता है। गो के रश्मिरूप होने से उसका सम्बन्ध प्रकाश से भी जुड़ जाता है।

अतः रश्मि के पर्याय गो के पर्याय बन जाते हैं और उन में गति अर्थ प्रधान है।

स्तोतृनामों में गो शब्द

स्तोतृवाची 13 शब्दों में 'गो:' को भी समाविष्ट किया गया है।[103] स्तोतृवाची अधिकतर शब्द अर्चतिकर्मा विविध धातुओं से व्युत्पन्न हैं। यथा–

रेभ:-- √रेभ् से--[निघण्टु में यह धातु अर्चतिकर्मा[104] मानी गई है; परन्तु धातु पाठ में √ रेभृ–शब्दे पढ़ी गई है।]

जरिता-- √ जर् (जरते) अर्चतिकर्मा[104] से।

नाद: और नद:--नद् √(नदति) अर्चतिकर्मा[104] से।

छन्द:-- √छन्द् या √छदि (दोनों अर्चतिकर्मा)[104] से।

कृपण्यु:-- √कृप् अथवा नाम धातु √कृपाय् (अर्चतिकर्मा)[104] से।

रुद्र:-- √रु–शब्दे अथवा √रु--अर्चतिकर्मा[104] से।

स्तुप्--स्तोभति अर्चतिकर्मा[104] से।

सूरि:--स्वर् √ अर्चतिकर्मा[104] या √स्वर् गतिकर्मा[105] से।

स्तामु:- √स्तौति-अर्चतिकर्मा से व्युत्पन्न।

स्तोतृवाची 'गो:' शब्द भी √गा (अर्चतिकर्मा-गायति) से व्युत्पन्न ज्ञात होता है। आधुनिक विद्वानों ने भी गो से गाने का सम्बन्ध खोजा है।[106] उपर्युक्त सभी शब्दों का सम्बन्ध गो से गायन भाव द्वारा ही स्थापित हुआ प्रतीत होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गायन भी गति विशेष ही का नाम है।

'कारु:' और 'कीरि:' शब्द √कृ धातु से व्युत्पन्न हैं। अतः चेष्टा रूप गतिभाव के द्योतक हैं।

ऋग्वेद में गो शब्द का प्रयोग स्तुति अर्थ में देखने को मिलता है। यथा—

त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृञ्चान: सदने गोभिरद्भि:।[107]

इस मंत्र में सोमरसलक्षण जलों व स्तुतियों द्वारा हूयमान अग्नि के उत्कृष्ट-दीप्तियुक्तरूप से यज्ञगृह में व्याप्त होने का उल्लेख है। गो का अर्थ यहां स्तुति है। गो का स्तुति अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है।[108] हो सकता है स्तोता का कर्म होने के कारण भी स्तुति को गो कहा गया हो।

वाक् के नामों में गो शब्द

निघण्टु में वाक् के 57 नामों में गो को गिनाया ही गया है साथ ही गो अर्थवाची धेनु, अदिति, मही, गौरी, इळा आदि नामों का उल्लेख भी किया गया

102 नि० 12।4।7
103 निघ० 3।16
104 निघ० 3।14
105 निघ० 2।14
106 इरिए पृ० 225
107 ऋ 1।95।8 (स्कन्दस्वामी भाष्य)
108 ऋ 8।71।5, 10।31।4, 10।62।21 आदि।

है ।[109] डॉ० फतहसिंह ने वाक् को, निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप मान कर, उसका गति से सम्बन्ध माना है और वाक् और गो के साम्य का यही कारण स्वीकार किया है ।[110] वाक् और गो अभिन्न हैं इसी कारण गो को वाक् के नामों में उल्लिखित किया गया है । निघण्टु के उपजीव्य ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् और गो की अभिन्नता बहुधा प्रदर्शित की गई है ।[111] माध्यमिका वाक् सरस्वती को भी गो कहा गया है ।[112] विद्वानों की मान्यता है कि वाक् को मूलत: दिव्यस्वरूपा और पवित्र माना गया है इस बात ने गो की पवित्रता व पूजनीयता में भी विश्वासवृद्धि की ।[113]

वाक् के नाम स्वर:, शब्द:, स्वन: आदि हैं । इनका सम्बन्ध गति से है । डॉ० सुधीरकुमार गुप्त के अनुसार जब कोई गति होती है—चाहे चेतन पदार्थ में हो चाहे अचेतन में, तब उससे शब्द उत्पन्न होता है । यह शब्द अनेक बार तुरन्त सुनाई दे जाता है, अनेक बार ध्यान देने से और अनेक बार सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता से । इसी प्रकार जब सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने संसार की सर्जक शक्तियों को व्यक्त किया और गति उत्पन्न हुई तब शब्द भी उत्पन्न हुआ । इसी कारण भारतीय वाङ्मय में 'स्वर:' को वाक् का पर्याय और स्वरति को गतिकर्मा और अर्चतिकर्मा माना गया है । यह गति और तज्जन्य शब्द एक दूसरे से भिन्न नहीं है ।[114] शब्द:, स्वन:, श्लोक, घोष:, वाणी, वाण:, वाणीची आदि वाक् नामों को इसी रूप में गति से सम्बद्ध मानना चाहिए । गान्धर्वी (गां धारयतीति गतिधारिका वाक्) नाम भी ऐसा ही है ।

वागर्थवाची अनेक शब्द गत्यर्थक क्रियाओं से व्युत्पन्न हैं यथा--
धमनि:—√धम (गतिकर्मा[115]) धातु से,
मायु:—मिनाति (गतिकर्मा) से,
सुपर्णी—पतति या पतयति (दोनों गतिकर्मा) से,
कशा—कसति (गतिकर्मा) से
पवि—√पवते (गतिकर्मा) से, अथवा यास्क के अनुसार वि + √पूञ् से,
सर: तथा सरस्वती-- √सृ--गतिकर्मा से,
नौ:--नवते (गतिकर्मा) से (√नौति अर्चतिकर्मा से भी व्युत्पत्ति संभव)
गाथा--गाति (गतिकर्मा) से
मेना--मानयन्ति एना: [116]
ग्ना:—गच्छन्ति एना:[116]—√गम्-गतौ से

---

109 नि—1।11
110 Vedic Etymology में गो शब्द द्रष्टव्य (सं० 265)
111 वाग्वै धेनु:—शब्रा 14।8।9।1; तामब्रा 18।9।21; गोब्रा पू० 2।21
112 सरस्वती हि गौ--शब्रा 14।2।1।7 (यजु० 38।2 में प्रयुक्त सरस्वती पद का अर्थ)
113 इरिए—पृ० 225
114 वेला—भाग 2—पृ० 51 टिप्पणी (iv)
115 गतिकर्मा धातुएँ निघण्टु 2।14 में पठित ।
116 नि 3।4।4

गरण—अगन् या अजगन् (दोनों गतिकर्मा से अथवा √गण् से
धारा—धावति-(गतिकर्मा) से,
वल्गु—√वल्ग-गतौ से
गल्दा— √गर्द-शब्दे से तथा
धेनु—√धेट—(धयति[117]) पाने या √धेपृ-गतौ से व्युत्पन्न हैं

वाक् शब्द स्वयं √कव् गतिकर्मा धातु से वर्णविपर्यय होकर व्युत्पन्न हुआ है।[117अ] वाक् नामों में परिगणित 'गौ:' गतिकर्मा √गा अथवा अर्चतिकर्मा √गा या √गै से व्युत्पन्न माना जा सकता है। ऊपर गौ और गान में सम्बन्ध खोजने के आधुनिक विद्वानों के प्रयत्न का उल्लेख किया गया है उसके विषय में उनकी मान्यता है कि गो और वाक् में अभिन्नता का कारण कदाचित् भाव-साम्य उतना नहीं है जितना गो और गा (गाना) अथवा गी: (वाणी) में ध्वनि साम्य[118]; परन्तु ऐसा मानना सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऋग्वेद में वाक् सर्वस्रष्टा शक्ति के रूप में वर्णित की गई है। सर्जन एक मात्र गति ही है जो विविध रूपों में सृष्टि में प्रादुर्भूत होती है। वागाम्भृणी सूक्त[119] में इस तथ्य का प्रतिपादन बहुत स्पष्ट किया गया है। वहां तो 'अहम्' भी गति का वाचक है।[120] डॉ० सुधीरकुमार गुप्त के अनुसार वाक् गतिशील है। उसी की शक्ति से रुद्र नामक गरमी, शब्द और प्राण आदि सर्जक शक्तियां, वसुसंज्ञक आच्छादक पृथिवी, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र तथा आदित्य नामक ग्रहण करने की शक्तियां वर्ष के बारह महीने, प्रजा, पशु आदि गति करते हैं।[121]

अत: गतिकर्मा √गा और अर्चतिकर्मा √गा में ध्वनिसाम्य होने पर भी गो (पशु) और गौ (वाक्) में अभिन्नता का कारण मात्र ध्वनिसाम्य ही नहीं है, वरन् विशेष प्रकार का गतिभाव ही है।

डॉ० फतहसिंह के अनुसार वाक् का, जो विश्व की माता है, गो नाम स्वाभाविक इस कारण है क्योंकि गो और माता दोनों पोषण प्रदान करती हैं।[122]

वागर्थवाची कुछ पद अर्चतिकर्मा धातुओं से व्युत्पन्न है। यथा—मन्द्रा और मन्द्रजनी, मन्द्रयते नामधातु से, अनुष्टुप् स्तौति से, मही महयते से, नाली: नदति से, गी: गृणाति से तथा ऋक् अर्चति से। ये सब पद गति के विशेष रूप को ही प्रकट करते हैं। भारती (√भृ धातु से व्युत्पन्न) पद वाक् की पोषिका रूप गति को और 'अक्षरम्' पद (√क्षर-संचलने से) प्रतिष्ठा रूप गति को व्यंजित करते हैं। वाक् का काकुद् नाम तालु से, वर्णोच्चारण करने के कारण और जिह्वा नाम अन्न

---

117 ऋ 8।94।1 में प्रयुक्त।
117अ यास्क ने √वच से वाक् की—व्युत्पत्ति मानी है—निरुक्त 2।7।1
118 इरिए-पृ. 225 119 ऋ 10।125
120 'अतति व्याप्नोतीत्यहमात्मा हिरण्यगर्भ:'—डॉ सुधीरकुमार गुप्त द्वारा—वेला में पृ० 50 टिप्पणी (ii) में उद्धृत देवपण्डित का मत।
121 वेला भाग 2, भूमिका पृ. 9
122 Vedic Etymology—गो (सं० 265) शब्द द्रष्टव्य।

की आत्मा को आहुति देने वाली[123] जिह्वा से वर्णोच्चारण करने के कारण प्रयुक्त हुआ है। होत्रा और स्वाहा नाम भी आहुति और उक्ति भाव से सम्बद्ध हैं। ये सभी पद गतिभाव के विशेष रूप हैं।

अत: गतिभाव के के कारण गो और वाक् अभिन्न हैं।

ऋग्वेद में वाक् को गो कहा गया है। यथा--

ऊर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।[124]

तथा--

वचोविदं वाचमुदीरयन्ति विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्य: पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता:॥[125]

इन मन्त्रों में धेनु व गो से वाक् की अभिन्नता प्रकट होती है।

पशु गो और उसके पर्यायवाची शब्द

ऊपर कहा जा चुका है कि गो से पशुविशेष की जाति का बोध होता है। यास्क ने गत्यर्थक पूर्वोक्त (√गम् और √गाङ्) धातुओं से व्युत्पन्न गो शब्द को पशुविशेष का द्योतक भी माना है क्योंकि वह (गोपशु) भी गति करता है और उसके प्रति मनुष्य दुग्धादि के लिए गति करते हैं।[126] सारा संसार गतियुक्त है[127] अत: गो शब्द विविध प्रकार के गतिभाव का शब्द रूप प्रतीक मात्र है और जैसा कि आगे विवेचन किया जायगा गो पशु गतिभाव का मूर्त प्रतीक है। ऋग्वेद में पशु रूप में गो का उल्लेख मिलता है और उसके साथ गतिभाव भी जुड़ा हुआ है यथा--

यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत् परायणम्।

आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि त हुवे।[128]

इस मंत्र में √या, √इ, √ज्ञा, √वृतु आदि गत्यर्थक धातुओं द्वारा गतिभाव की ओर सकेत करते हुए गोपा (इन्द्र) से गौओं के आगमन आदि के लिए प्रार्थना की गई है। तथा--

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।[129]

इस मंत्रार्ध में गो पशु की पोषण सामर्थ्य रूप गति को व्यक्त किया गया है।

गो की पोषण शक्ति को ही व्यक्त करने वाला उसका पर्यायवाची शब्द धेनु है क्योंकि गो मनुष्यों को दूध पिलाती है (धयते—पाने) तथा उससे तृप्त करती (धिनोतेर्वा से)[130] अत: वह धेनु है।—

तक्षन् धेनुं सबर्दघाम्।[13]

इस मंत्रांश में धेनु शब्द पशुवाचक है। धेनु को अमृत के समान दुग्ध प्रदान करने वाली कहा गया है।

---

123 नि 5।4।8 (जिह्वा जोहुवा) 124 ऋ. 8।100।11
125 ,, 8।101।16 126 नि 2।2।1
127 प० सातवलेकर---गोको-प्रथम खण्ड---पृ. 29
128 ऋ० 10।19।4 129 ऋ० 6।28।6
130 11।4।8 131 ऋ० 1।20।3

ता तू ते सत्या तुविनृम्ण विश्वा प्र धेनव: सिस्रते वृष्ण ऊध्न: ।[132]

इस मंत्रार्ध में इन्द्र के भय से ऊधप्रदेश में धेनुओं द्वारा क्षीर-रक्षण का उल्लेख हुआ है। इसी तरह एक मन्त्र में विश्वधायस् धेनु का नाम आया है जिसको भूमि का उपमान बनाया गया है क्योंकि दोनों को माता मान कर प्राणी उनसे लाभ उठाते हैं--

क्षामा ये विश्वधायसोऽश्नन् धेनुं मातरम् ।[133]

गो माता द्वारा दूध पिलाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है यथा--

गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।[134]

गो को माता मान कर उससे दुग्धादि खाद्य पदार्थ प्राप्त कर लेने का ऊपर उल्लेख हुआ है। दूध को पक्व पदार्थ माना गया है, अत: उसके अपरिपक्व अंश मांसादि[134अ] का भक्षण निषिद्ध माना गया और गो को अघ्न्या कह कर उसकी हिंसा का निषेध कर दिया गया। अघ्न्या रूप में गो न केवल अहिंसनीय ही है वरन् वह पापों का विनाश भी करती है।[135]

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।[136]

इस मंत्रार्ध में गो का अघ्न्या नाम प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में यह नाम बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

दुग्ध-प्रस्रवित्री-गो के उस्रा व उस्रिया (√स्रु-गतौ धातु से अथवा √वस् धातु से निष्पन्न) भी पर्यायवाची शब्द हैं।[137] ऋग्वेद में इन पदों का प्रयोग गो के अर्थ में भी हुआ है। यथा--

उस्रा कर्तन भेषजम् ।[137]

इस मंत्रांश में उस्रा का अर्थ गो है। 'इसमें गौओं को औषधि रूप में पाने की कामना व्यक्त हुई है।

रुजद्दृढ़ानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ।[138]

इस मंत्रार्ध में उषा द्वारा अन्धकार के दूर करने व गौओं को प्रकाश प्रदान करने का, जिसके लिए गौएँ उषा की कामना करती हैं, उल्लेख है।

गो का एक पर्यायवाची नाम अही है। यह पद अ पूर्वक हन् √धातु से व्युत्पन्न है और इस प्रकार गो की अवध्यता की ओर संकेत करता है। 'अही' पद

---

132 ऋ० 4।22।6

133 ,, 10।176।1

134 ,, 8।94।1

134अ ,, 1।62।9; 6।17।6; 72।4 आदि में दुग्ध को परिपक्व व गो शरीर को अपरिपक्व कहा गया है। ऋ. 10।87।7 में सायण ने आम का अर्थ मास किया है। जिसके भक्षण का निषेध किया गया है--देखो अनु० 3

135 अघ्न्या अहन्तव्या भवति। अघघ्नी इति वा।-यास्क-नि 11।4।9

136 निघ० 2।11

137 ऋ० 10।175।2 138 ऋ० 7।75।7

मेघवाची 'अहि' पद से इतना मिलता जुलता है कि भाष्यकारों ने कहीं इस पद के प्रयोग की ओर अपने भाष्यों में संकेत नहीं किया। फिर भी 'अहिगोपा[139] को, जिसे सायणादि ने 'मेघद्वारा रक्षित जल' अर्थ में प्रयुक्त माना है, 'गोरक्षक-जल' अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है और इस प्रकार जल की प्राणी-धारण-सामर्थ्य में विशेष व्यापकता दृष्टिगोचर होती है।

गो का मही नाम उसकी महत्ता, तेजस्विता (मह:-प्रकाश का स्त्रीलिंग) और पूजनीयता (अर्चतिकर्मा महयति से व्युत्पन्न) का व्यंजक है। ऋग्वेद में यह नाम गो अर्थ में प्रयुक्त मिलता है यथा—

एतानि धीरा निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार।[140]

इस मंत्र में पृश्नि वर्ण की पूजनीय गो (मही) का उल्लेख है।

गो का एक पर्यायवाची शब्द अदिति भी हैं। अदीना होने से[141] अथवा अखंडनीया होने से [142] गो का अदिति नाम है। अपनी देवमातृत्व, देवस्वसृत्व, देव पुत्रीत्व आदि सम्पूर्ण विभूतियों से सम्पन्न अदिति को ऋग्वेद में गो कहा गया है और उसकी हिंसा का निषेध करके उसके अखंडनीय भाव को व्यंजित किया गया है।[143]

गो का एक और पर्यायवाची 'इळा' है। इळ शब्द को यास्क ने '√ईड-स्तुतौ अथवा √इन्धी-दीप्तौ, धातुओं से व्युत्पन्न माना है।[144] इळा शब्द √ईड-स्तुतौ या √ईर (गतौ कम्पने वा) धातुओं से व्युत्पन्न है। दोनों ही धातुएँ गति-भाव को व्यक्त करती हैं। यह भी मान्यता है कि भूतान्न का आधार पारमेष्ठ्य इट् रूप अन्न है। इट् की व्युत्पत्ति √ इट्-गतौ धातु से मानी जा सकती है। इट् रूप अन्न का आधार होने से ही गो को इड़ा या इळा कहा जाता है।[145] पृथ्वी को भी इसी कारण इळा कहा जाता है जो त्रिदेवियों मे पार्थिव वाक् का प्रतिनिधित्व करती है। ऋग्वेद में इळा को यूय की माता (यास्क सर्वस्य माता) कहा गया है और उसका सम्बन्ध अन्न की पुष्टि से जोड़ा गया है।[146] एक मंत्र में सोम को गोओं को लाने वाला (आनेता इळानाम्)[147] कहा गया है।

गो का एक नाम जगती है। इसे गतिकर्मा √गम् से व्युत्पन्न माना जा सकता है। जगती एक छन्द का नाम भी है जिसके 'विश्वेदेवा:' देवता हैं।[148] डॉ० सुधीर कुमार गुप्त ने कतिपय पशुओं का छन्दों से सम्बन्ध उल्लिखित करते हुए छन्दों के

---

139 ऋ० 1।32।11 140 ऋ० 7 56 4
141 नि० 4।4।1
142 गोको० भूमिका (प्र. खं.) पृ. 12
143 ऋ० 8।101।15 144 नि 8।2।4
145 अन्नं वै गो:-शब्रा 4।3।4।25 तथा इडा हि गो:-शब्रा 2।3।4।34 के आधार पर पं० मोतीलाल शर्मा का मत-संस्कृति और सभ्यता-पृ. 589
146 ऋ० 5।41।19 147 ऋ० 9।108।13
148 ऋ० 10।130।5

नामों को सार्थक माना है।[149] डॉ० फतहसिंह के अनुसार छन्द वाक् विराज् का नाम है; जिससे सारा विश्व विकसित होता है।[150] अत: जगती नाम स्थूल रूप से गो पशु और सूक्ष्म रूप से वाक् को संकेतित करता जान पड़ता है।

जगृभधुरनपिद्धमासु रुशच्चित्रासु जगतीष्वन्त: ।[151]

ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्रांश में जगती गोअर्थवाचक है। मंत्र इन्द्र और सोम के द्वारा गौओं में शुक्लवर्ण दुग्ध धारण कराने का उल्लेख है। एक अन्य मंत्र में अश्विनीकुमारों को गौओं में गर्भ की रक्षा करने वाले कहा गया है--

युवं हि गर्भं जगतीषु धत्थ: ।[152]

गो के नौ नामों में से एक शक्वरी भी है। यह पद √शक्–मर्षणे अथवा √शक्लृ–शक्तौ धातु से व्युत्पन्न माना जा सकता है। कोश ग्रन्थों में 'शक्वर:' पद का बैल अर्थ उल्लिखित है।[152] शक्वर का ही स्त्रीलिंग शक्वरी है। ऋग्वेद में केवल दो बार शक्वरी पद प्रयुक्त हुआ है और विशेष ऋचाओं का वाचक है। एक मन्त्र के अनुसार वसिष्ठों ने शक्वरियों (ऋचाओं–सायण) में श्रेष्ठ शब्द द्वारा इन्द्र का बल प्राप्त किया।[155]दूसरे मंत्र में कहा गया है कि उद्गाता शक्वरी ऋचाओं (गायत्री छंद–रामगोविन्द त्रिवेदी) द्वारा सामगान करता है।[156] इन उल्लेखों से पता चलता है कि शक्वरी पद भी जगती की तरह छन्द (ऋचा) व पशु में सम्बन्ध स्थापित करने वाला है। प्रथम मंत्र से गौओं में इन्द्र का बल होना व्यंजित होता है। पुराणों में वसिष्ठ की गो नन्दिनी की सामर्थ्य का उल्लेख मिलता है। दूसरे मंत्र से गौओं के लिए सामगान किए जाने का उल्लेख मिलता है। पश्चिमी देशों में संगीत द्वारा गौओं की दुग्ध-वृद्धि के सम्बन्ध में परीक्षण किए गए हैं। साम-गान द्वारा गौओं के प्रति आदरभाव व्यक्त करने के साथ-साथ गौओं को सन्तुष्ट करके अधिक दुग्ध प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया हो, ऐसा संभव हो सकता है।

अमरकोश में माहेयी, सौरभेयी, माता, शृंगिणी, अर्जुनी, रोहिणी आदि गो के नाम मिलते हैं[157] जिनका प्रयोग परवर्ती साहित्य में हुआ है। इनमें माहेयी पद मही से अपत्य अर्थ में ढक् तद्धित जुड़ने से बना है। सौरभेयी इसी तरह सुरभि से बना है। गो का माता नाम उसके मातृत्व भाव का द्योतक है। शेष तीन नाम वर्ण व अवयव-विशेष से समवेतता के सूचक हैं।

गो का लुप्त-तद्धित प्रयोग

ऋग्वेद में तद्धित-प्रत्यय लुप्त हो जाने पर भी सम्पूर्णतावाचक पद उस

---

149 डॉ० सुधीर कुमार गुप्त—'छंदों के ज्ञान से वेदार्थ का ज्ञान'–वेदवाणी वर्ष 8 अंक 12 वर्ष में 2012

150 वैद० पृ० 182.

151 ऋ० 6।73।4

152 " 1।157।5

153 निघ० 1।12

154 V. S. Apte : Sanskrit English Dictonary P. 544.

155 ऋ० 7।33।4;

156 " 10।71।11

157 अमरकोश–द्वितीय काण्ड 9।67-68

अर्थ को संकेतित करता है। यथा गो का ताद्धित रूप गव्य होता है; परन्तु ऋग्वेद में गो शब्द ही गव्य से संकेतित दुग्धादि का भाव व्यक्त कर देता है। यास्क ने वैदिक शैली की इस विशेषता का उल्लेख करते हुए गो शब्द के दुग्ध, चर्म, श्लेष्मा, ज्या आदि अर्थों को स्वीकार किया है[158]। सायणादि भाष्यकारों ने भी यास्क की स्थापना का अनुमोदन किया है। उसके अनुसार---

'गोभि: श्रीणीत मत्सरम्'[159]

'यद् गोभिर्वासयिष्यते[160],'

'संम्मिश्लो अरुषोभव सूपस्थाभिर्न धेनुभि: ।[161]

आदि मंत्रों में गो व धेनु का अर्थ गोविकार अर्थात् दुग्ध है। इसी तरह

वृक्षे-वृक्षे नियता मीमयद् गोस्ततो वय: प्रपतान् पूरुषाद: ।[162]

में वृक्ष की लकड़ी से बने धनुष पर चढ़ी हुई 'ज्या' गो है।

'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि[163]'

में गो चर्मवाचक है तथा

'गोभि: सन्नद्धा प्रसूता असि'[164]

मंत्र में गो पद ताँत का वाचक है।

अन्तरिक्ष और गो

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्तरिक्ष को गो कहा गया है।[165] ऋग्वेद के एक मंत्र से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।[166] यास्क ने अन्तरिक्ष नामों में गो को नहीं गिना है; परन्तु याज्ञिक-परम्परा में त्रिकद्रुकदिन ज्योति, गो और वायु में अन्तरिक्ष का नाम गो है।[167] गो शब्द अपने गति भाव के कारण अन्तरिक्ष में गति करने वाले सभी पदार्थों का वाचक है। रश्मियाँ अन्तरिक्ष में ही गतिमान् रहती हैं अत: उन्हें गो कहा गया है। मेघों की ध्वनि वाक् रूप होने से गो है। अन्तरिक्ष में मेघों में जल भी रहते व गति करते हैं। अत: ऋग्वेद में अन्तरिक्षीय जलों को गो कहा गया है।[168] अथर्ववेद व यजुर्वेद में भी आप: को गो से अभिन्न माना गया है।[169] विद्युत् का गो से सम्बन्ध भी एक मन्त्र में ध्वनित होता है।[170] विद्युत को इन्द्र के वज्र के रूप में विद्वानों ने स्वीकार किया

---

158 नि० 2।2।1 159 9।46।4 (सा० भा०)

160 ऋ० 9।2।4; 9 66।13 (सा०भा०)

161 ,, 9।61।21 (सा०भा०)

162 ,, 10।27।22 ,, ,,

163 ,, 10।94।9 ,, ,,

164 ,, 6।75।11 ,, ,,

165 अन्तरिक्षं गो:; ऐब्रा० 18।1;4।15 तुलनीय तांमब्रा० 4।1।7

166 ऋ० 1।89।10 (इस मंत्र में अदिति को अन्तरिक्ष भी कहा गया है।)

167 ऐब्रा० 18।1 168 ऋग्वेद

169 अथर्ववेद 7।83।2 यवेवा० 20।18

170 ऋ० 1।164।29

है।[171] वज्र को गो भी कहा गया है।[172] अतः गो, वज्र और विद्युत का ऐक्य स्वीकार किया जा सकता है।

संख्यावाची गो शब्द

ताण्ड्यमहाब्राह्मण में महापद्म संख्या भी गो पद से जानी जाती है।[173] ऐसा ज्ञात होता है कि गति की विविधता के कारण ही गो को महापद्म संख्या का वाचक बना लिया गया है। इससे उपलक्षण से विश्व की समस्त क्रियाओं को व्यंजित किया गया ज्ञात होता है।

भारोपीय भाषाओं में गो शब्द

भारोपीय भाषाओं में गो शब्द किंचित् ध्वनि-परिवर्तन के साथ सर्वत्र प्रचलित है। धेनु आदि अन्य गोअर्थवाची शब्द अन्य भाषाओं में नहीं मिलते। गति का भाव प्रत्यक्षतः ध्वनित करने वाला गो शब्द ही अन्य भाषाओं में प्रचलित हुआ। आंग्ल भाषा में तो गतिभाव को व्यक्त करने वाली 'गो' (Go) क्रिया और सम्भवतः गतिदाता के अर्थ में गोड (God--वैदिक गोदा) शब्द भी प्रचारित हुए।[173अ] अन्य भारोपीय भाषाओं में गो शब्द के रूप इस प्रकार है--

भाषा	रूप
सस्कृत	गो, गौः
प्राचीन इंग्लिश	कू (Cu)
अर्वाचीन इंग्लिश	काउ (Cow)
प्राचीन जर्मन	कुओ या चुओ (Chuo)
अर्वाचीन जर्मन	कुह (Kuh)
प्राचीन सेक्सन	को (Co)
डच	कोए (Koe)
स्वीडिश	को (Ko)
डेनिश	को (Koc)
टयूटानिक	कौज़ (Kou z या Koz)
लैटिन	बोस (Bos)
जर्मन	बौस, बोफ (bous, bof या bo)[174]
अवेस्तन	गेउस् या गोस्
गाथिक	गावि

उपर्युक्त नामों में अधिकतर 'ग' ध्वनि के 'क' में बदलने से बने ज्ञात होते हैं। गेउस गावि आदि में केवल स्वर परिवर्तन मात्र हुआ है। बौस गौ (ग+औ)

---

171 वैदिक माइथोलोजी–हिन्दी अनुवाद—चौखम्बा–पृ० 124

172 किरात 8।1 पर मल्लिनाथी टीका–गोपति–गौर्वज्रं तत्पतिरिन्द्रः।

173 तांमब्रा० 17।14।1

173अ बाइबिल में भी सृष्टि का आरम्भ शब्द रूप गति से माना गया है। जिसका प्रवर्तक गॉड है। कुरान में भी ऐसी ही मान्यता है।

174 गोको प्र० खं० पृ० 37

की आदि ध्वनि ग के लुप्त होने से बना ज्ञात होता है। 'ग' ध्वनि का 'क' में परिवर्तन भारत में भी देखा जाता है। दक्षिण भारतीय भाषा तामिल में कुन शब्द गो चराने वाले अथवा राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्भव है दक्षिण भारत के व्यापारी सुदूर अतीत में परिवर्तित ध्वनि के साथ गो शब्द को योरोप में ले गये हों। विविध भाषाओं के उपर्युक्त शब्द गो शब्द के ही रूप ज्ञात होते हैं और इसीलिए सबका गतिभाव से सम्बन्ध है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त गो से बने हुए शब्द

भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों का मूल गो मानना सर्वथा संगत है क्योंकि गो से बने हुए सर्वाधिक शब्द भारतीय साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे शब्द ऋग्वेद में भी प्रचुर रूप में व्यवहृत हुए हैं। कुछ ऐसे शब्द निम्नलिखित हैं —

(1) गो अग्रा:[175] — गावो अग्रं वर्तते यासां सा।
सायण — गर्जितमुदक वा अग्रे पुरतो यासाम्।
पशु अग्राणि, पशुप्रमुखानि।

(2) गो-अजन — गायें हाँकने का डण्डा।[176]

(3) गो-अर्णस्[177] — गायों की समृद्धि से पूर्ण

(4) गोऋजीक[178] — गोदुग्ध से बना हुआ। गो मिश्रित स्तोम।

(5) गोघ्न[179] — गोघातक (शस्त्र-हन्--वधकर्मा धातु से निष्पन्न) अथवा गो प्रेरक-(हन् गतौ धातु से व्युत्पन्न)

(6) गोजा:[180] — गो, भूमि या किरण से उत्पन्न।

(7) गोद:[181] — गो देने वाला (इन्द्र)।

(8) गोदत्र[182] — गोदाता को बचाने वाला।

(9) गव्यूति:[183] — गोचर भूमि, चरागाह आदि।

(10) गवेषण (गो + एषणा)[184] -- गौओं की खोज या गो प्राप्ति की इच्छा।

(11) गविष्टि (गो + इष्टि)[185] — गो प्राप्ति की इच्छा, तदर्थ किया गया युद्ध।

(12) गोष्ठ: (गो + स्थ:)[186] - गौओं के रहने का स्थान।

(13) गो मातृ-[187] गौओं को माता मानने वाले।

(14) गोविद[188] गोविन्दु:[189] - गौओं को प्राप्त करने वाला या ढूँढने वाला।

(15) गोदुह[190] - गौओं का दोहन करने वाला-वाली।

---

175 ऋ० 1।90।5; 1।169।8 — 176 ऋ. 7।33।6
177 ,, 1।112।18; 2।34।12; 10।38।2; 10।76।3
178 ,, 3।58।4; 6।23।7; 7।21।1
179 ,, 1।114।10 — 180 ऋ० 4।40।5
181 ,, 3।30।21 — 182 ऋ० 8।21।16
183 ,, 1।25।15 — 184 ,, 1।132।3
185 ,, 1।36।8 — 186 ,, 1।191।4
187 ,, 1।85।3 — 188 ,, 1।82।4
189 ,, 9।96।19 — 190 ,, 1।4।1

(16) गोत्र[191]-गायों का रक्षण करने वाला, गायों का निवास।
(17) गोपरीणस्[192]—गौओं अथवा गोदुग्ध से पूर्ण।
(18) गोपाः[193], गोपति[194]-गौओं का पालक, रक्षक।
(19) गोषाः[195]-गोप्रदाता।
(20) गोजित्[196]—गौएँ जीतनेवाला।

ऋग्वेद में गो से बनी हुई धातु

ऋग्वेद में गो पद से बनी हुई √गोपाय् नाम धातु प्रयुक्त हुई है जिससे गोपा: सुगोपा, सुगोपातम आदि आदि संज्ञाएँ बनी हैं। इस धातु से प्रकट है कि गो के साथ रक्षण भाव भी संयुक्त था।

गो से बने हुए व्यक्तिवाचक नाम माने जाने वाले पद

गो से गोतम (प्रभूत गो सम्पन्न); गोपवन, गोषूक्ति, गोशर्य, पृश्निगु, अध्रिगु, श्रुष्टिगु, पुष्टिगु, नवग्वः, दशग्वः, अतिथिग्व, गविष्ठिर आदि नाम बने हैं जिन्हें सायणादि भाष्यकार व आधुनिक विद्वान् व्यक्तियों के नाम मानते हैं; परन्तु डॉ०सुधीर-कुमार गुप्त ने इनमें से ऋषिनामों को मंत्रों के अर्थों के परिचायक, गुणवाचक, यौगिक पद माना है।[197] नवग्वः तथा दशग्वः को भाष्यकारों ने भी साधारण संज्ञापद माना है।[198] 'अतिथिग्व' शब्द भी अतिथि-सेवी अर्थ का वाचक[199] सामान्य विशेषण है।

यजुर्वेद में प्रयुक्त गो के विशेषण व तदर्थवाची शब्द

यजुर्वेद में रेवती[200], चित्, मना, धी, दक्षिणा, क्षत्रिया, यज्ञिया[201], वस्वी, अदिति; आदित्या, रुद्रा, चन्द्रा[202] आदि गो के विशेषण तथा इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही और विश्रुति अघ्न्या के नाम[203]

---

191 ऋ० 8।50।10
192 " 8।45।24
193 " 10।61।10
194 " 1।101।4
195 " 9।2।10
196 " 9।51।1
197 ऋग्वेद के ऋषि उनका सन्देश और दर्शन।
198 ऋ० 1।62।4 पर स्कन्द स्वामी का भाष्य द्रष्टव्य, दयानन्द भाष्य भी द्रष्टव्य
199 ऋ० 1।53।10 पर स्कन्द स्वामी का भाष्य तथा ऋग्वेदिक आर्य—पं० राहुल सांकृत्यायन–पृ० 104
200 यवेवा 3।21
201 वही 4।19
202 वही 4।21
203 " 8।43

प्रयुक्त हुए हैं। गो को विश्वायु, विश्वकर्मा और विश्वधायस्[204] तथा कामदुघा[205] भी कहा गया है।

अथर्ववेद में गोअर्थवाची शब्द

गो के अथर्ववेद में पृश्नि[206], विराज्[207], वशा[208], शतौदना[209], घर्मदुघा[210], विश्वरूपा[211], ब्रह्मगवी[212] आदि नाम प्रयुक्त हैं। ये गो के विशेष गति भाव के द्योतक हैं। इनके विषय में आगे विचार होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद में गो गतिभाव का द्योतक पद है और गो व गोअर्थवाची शब्द विशेष गतिभाव के व्यंजक हैं।

---

204 यवेवा 1।4
205 " 12।72
206 अवे 7।104।1
207 अवे 8।9।10
208 " 10।10, 12।4
209 " 10।9
210 " 4।22।4
211 " 4।34।8;9।7।25
212 अथर्ववेद 5।18 ; 19।12।5

तृतीय अनुच्छेद :
ऋग्वेद में गो : पशु रूप में

आर्य जाति में सदा गो की प्रतिष्ठा और पूजा होती आई है ।[1] परवर्ती साहित्य में गो को घृतक्षीरप्रदा,[2] लोकों की माता,[3] समस्त भूतों की प्रतिष्ठा,[4] विश्वमूर्ति,[5] परमपवित्र,[6] पूजनीया,[7] स्वर्ग की सोपान[8] सब भूतों पर अनुकम्पा करने वाली,[9] विश्वरूपा,[10] यज्ञ का भरण करने वाली,[11] मनुष्यों की बंधु,[12] सर्वदेवमयी,[13] लोकाधिवासिनी,[14] दिव्य तेजस्वरूपा,[15] मंगलायतन,[16] यज्ञस्वरूपा,[17] अन्नस्वरूपा,[18] और सुरभिपुत्री[19] कहा गया है । गो की इस महत्ता का प्रतिपादन ऋग्वेद में भी हुआ है ।

गोधन का उल्लेख

भारतीय साहित्य में वेद से लेकर आज तक गो को एक महान् धन माना जाता रहा है ।[20] ऋग्वेद में गोधन का बहुधा उल्लेख 'गवां रायः',[21] गव्या राधांसि,[22] गव्यं राधः,[23] गोमत् वसुः,[24] 'गव्या मघानि',[25] उस्रियं वसु[26] सुगव्यं रयिम्[27]

---

1 वैसा—पृ० 356 2 मभा अनु. पर्व 80।1

3 'लोकानां मातरश्चैव गावः', मभा अनु० प० 125।62

4 मभा अनु० पर्व 78।5, अपु० 292।15

5 मपु 277।12

6 मभा–अनु० पर्व 78।7, अपु 292।18

7 पपु–सृष्टिखंड 50।131 8 वही 292।18

9 वही 50।132 10 मभा-अनु० पर्व 81।32

11 मभा–शान्ति पर्व 263।38 12 पपु–50।155 (सृष्टिखंड)

13 पपु-50।132 14 मपु 277।13

15 मभा–अनु० पर्व 81।17 16 मभा-अनु० पर्व 69।8

17 मभा–अनु० पर्व 83।17

18 यद्धिंकिचान्नं गौरेव तत्-शब्रा 2।2।2।13

19 अदितिर्देवमाता च सुरभी च गवां प्रसूः–देभापु 9।1।124 तथा 'बभूवकामधेनूनां सहसा लक्ष कोटयः ।
यावन्तस्तत्र गोपाश्च सुरभ्या लोमकूपतः ।। देभापु-9 49।11

20 कैलाश चन्द्र विद्यालंकार-'वेदों में गो महत्व' शीर्षक निबन्ध कल्याण (गोरखपुर) वर्ष 25 सं० 11 पृ० 1422

21 ऋ 1।33।1 22 ,, 6।44।12, 5।79।7

23 ,, 7।92।3, 5।52।17 24 ,, 7।94।9

25 ,, 7।67।9 26 ,, 8।4।16

27 ,, 1।162।22

गोमत् राध:,[28] गोमन्तं रयिम्[29] गोमत् मघम्,[30] गोमन्तं वाजम्,[31] गोमत् व्यन्त:[32], गोमत् द्रविणम्[32अ], उस्रियाणां निधि,[33] गोमत् रत्नम्[34], गोमयं वसु,[35] गोमत् श्रव:[36] आदि शब्दों द्वारा हुआ है। गायों से धन की वृद्धि होती है।[37] गोधन के कारण अश्विन् देवों को गोमघा' (गोमघौ) कहा गया हैं।[38] सौ गायों से युक्त धन (शतग्विनं रयिम्) का भी उल्लेख मिलता है।[39] गो को भगवती (ऐश्वर्यवती) कहा गया है और उसकी प्राप्ति द्वारा भगवान् (ऐश्वर्यवान्) बनने के लिए प्रार्थना की गई।[40] इसके अतिरिक्त जिस धन में गायें प्रधान हों उसे अत्यन्त कमनीय माना गया है।[41]

अथर्ववेद में शाला का एक विशेषण पयस्वती व घृतवती के साथ गोमती भी प्रयुक्त हुआ है।[42] इससे प्रकट है कि गोधन से ही शाला की समृद्धि मानी गई है। यही नहीं गो को सम्पत्तियों का घर भी कहा गया है।[43] इसलिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि अपने स्तोता को सुखी बनाने के लिए कब गो रूप धन में रक्खेगा ?[44]

गोमाता

महाभारत में गो को सब प्रकार के सुख देने वाली सब प्राणियों की माता कहा गया है—

मातर: सर्वभूतानां गाव: सर्वसुखप्रदा:।[45]

---

28 ऋ० 5।57।7, 7।77।5

29 ,, 5।4।11 8।5।10, 8।6।9 तु. 10।38।2

30 ऋ. 1।11।3

31 ,, 5।23 2, 7 81।6; 8 2 24; 8।25।20

32 ,, 7।27।5

32अ ऋ० 10।36।13

33 ,, 10 68।6

34 ,, 7।75।8

35 ऋ० 10।62 2

36 ,, 1।9।7

37 गोभि: रयिं पप्रथत्-ऋ० 2।25।2 मंत्र पर 'गोज्ञान कोश' प्राचीन खण्ड, प्रथम भाग पृ० 149 पर टिप्पणी द्रष्टव्य

38 ऋ० 7।71।1

39 ,, 1।159।5, 4 49।4, 9।67।6

40 ऋ० 1।164।40, अवे (9।10।20) में यह मंत्र गोदेवत है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अघ्न्या (गो) को देवता माना है।

41 गोअग्रारातिम्——ऋ० 2।1।16

42 अवे 3।12।2

43 अवे 11।1।34——गो से दूध, दही, घृत आदि पदार्थ मिलते हैं। इनसे यज्ञ किया जाता है साथ ही इनका उपयोग करने से शरीर पुष्ट होता है व दीर्घायु प्राप्त होती है। यज्ञ से प्रजा का पोषण होता है। इसलिए इस मंत्र में गो को 'रयीणां सदनम्' कहा गया है क्योंकि सब प्रकार की सम्पत्ति गो के आश्रय में रहती है। भारत कृषिप्रधान देश है अत: गो के बछड़े भी समृद्धि के कारण हैं। गोबर व गोमूत्र उत्तम खाद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पृथ्वी तो धन का आगार है ही। अत: पृथ्वी को भी गो कहा जाता है।

44 ऋ० 8।13।22

45 मभा-अनु० पर्व 69।7

लोक में भी गो को माता के समान समादर प्राप्त है। पं० सातवलेकर ने तीन दिव्य माताओं मातृभाषा (इला), मातृ संस्कृति (सरस्वती) तथा गोमाता या पृथ्वीमाता (मही-गो शब्द का अर्थ पृथ्वी भी है) का उल्लेख किया है।[46] ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से गो के मातृत्व की कल्पना का आधार मिल जाता है। गो के मातृत्व का उद्घोष करने वाला सबसे प्रसिद्ध मंत्र आठवें मण्डल का है जिसमें गो को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की भगिनी, अमृतस्वरूपा और निष्पाप कह कर उसकी हिंसा का निषेध किया गया है।[47] समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाली होने से गो को मरुतों के देवगण की माता घोषित किया गया है।[48] गो के वत्सतरी (वत्सतर: अस्या अस्ति इति)[49] व धेनु (प्रीणयित्री) नाम भी उसके मातृत्व उद्घोषक कहे जा सकते हैं। अथर्ववेद में उत्तम माता को गो के समान कहा गया है[50]। जैसे मांसाहारी का मन मांस में, सुरासेवी का सुरा में, जुआरी का जुआ में, तथा समर्थ कामी पुरुष का मन स्त्री में निरत होता है इन सबसे अधिक गो का चित्त बछड़े में निरत होता है।[51] और गो है मातृत्व का आदर्श।

गोहत्या का निषेध

डॉ० ए० ए० मैक्डोनल ने लिखा है कि 'ऋषि लोग श्रोताओं पर गो को अघ्न्या (अवध्य) बता कर उसकी अहिंस्यता का भाव जमाते देखे जाते हैं। गो के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 16 बार आता है। इसके पुल्लिग रूप अघ्न्य का केवल तीन बार प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में तो गो की एक पवित्र पशु के रूप में पूजा तक प्रचलित हो चुकी है। (अवे-12.4.5) शतपथ ब्राह्मण (3.1.2.21) में यह कहा गया है कि मांसभक्षक व्यक्ति कुख्यात बनकर पृथ्वी पर फिर जन्म लेता है,।[53] शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि सामान्यत: वृषभ का मांस भी अभक्ष्य है।[54]

---

46 गोको--द्वि० भा०

47 ऋ० 8.101.15
मंत्र में अदिति रूप गो का रहस्यात्मक वर्णन है। यहां आपातत: पशु गो का मातृत्व सुस्पष्ट है।

48 मरुतों के लिये प्रयुक्त गोमातर; ऋ० 1.85.3 तथा पृश्निमातर: 1.23.10, 38.4, 85.2, 89.7, 5.57.2; 3;59.6, 8.7 3, 17, 9.34.5

49 य० 24.5, 9,14 तैसं०, मै सं० काठकसं, कठकपिष्ठल सं० में अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है।

50 तैस्त्व पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव-अवे 3.23.4

51 अवे 6.70.1, मंत्र 2 व 3 भी द्रष्टव्य।

52 अवे 4.39 के मंत्र 2,4:6,8 में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ: तथा दिशाओं को धेनु व क्रमश: अग्नि, वायु, आदित्य व चन्द्र को वत्स कहा गया है; इसी तरह अवे 8.10 में भी इन्द्र, यम, सोम, मनु वैवस्वत, कुवेर, चित्र-रथ तक्षक आदि विराज धेनु के वत्स कहे गये है।

53 वैदेशा, डॉ० सूर्यकान्त, पृ० 312-313

54 धेन्वनडुहोर्नाश्नीयात् शतपथ ब्राह्मण 3.1.2.21

ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में गोहत्या का निषेध किया गया है--

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागां अदितिं वधिष्ट । 55

गो का परिवार में क्या स्थान था ? इस बात का पता एक मन्त्र से चलता है जिसमें अपने पुत्र, पौत्रों के समान ही गो की भी रक्षा करने के लिए रुद्र से प्रार्थना की गई है ।56

वैदिक कर्मकाण्ड के ग्रन्थ यजुर्वेद में भी कई स्थानों पर गो की हिंसा का निषेध किया गया है ।57 इस प्रसंगों में गो का अदिति नाम प्रयुक्त हुआ है । ऋग्वेद में अघ्न्या58 (अहिंस्या) की तरह अदिति (दो अवखंडने धातु से-जिसका छेदन न किया जाय) शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप में देखा जाता है । ये दोनों विशेषण गो की अवध्यता को सूचित करते हैं । महाभारत में गोवध को अघ्न्या शब्द से ही अवैदिक सिद्ध किया गया है—अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।60 यज्ञ का एक नाम अध्वर (हिंसाकर्म-रहित) है । अतः यज्ञ में गोवध नहीं होता था । ऋग्वेद में तो युद्ध काल में भी गायों की रक्षा का प्रबन्ध करने की बात कही गई है ।61

आजकल दीपावली के अवसर पर कृषकपत्नियाँ हँसिया को गो-पूजन के समय गो के खुरों से छुवाती हैं । इस क्रिया के पीछे मनोगत भाव यह होता है कि शस्त्र गो को हानि न पहुंचायें । लोक प्रचलित इस पूजा का आधार भी ऋग्वेद में ढूंढा जा सकता है जहां तीखी धार वाले शस्त्रों से गायों को दूर रखने62 और इस

---

55 ऋ० 8।101।15 56 ऋ० 1।114।8

57 यवेवा 13।43. 13।49 आदि

58 ऋ० 7।84।4, 8।102।19, 7।68।9, 10।60।11, 8।75।8 आदि 16 बार स्त्रीलिंग में और 3 बार पुल्लिग में

59 ऋ० 8।101 15, 1।72।9. 1।89।10, 6।50।1, 5।42।2 आदि (लगभग 80 बार प्रयुक्त । सर्वत्र गो के लिये तो प्रयुक्त नहीं है, परन्तु अखण्डनीय अर्थ सुरक्षित है ।) 60 मभा, शान्तिपर्व 262।47

61 ऋ० 1।33।5 गोको- द्वि० भा० में पृ० 108 पर उक्त मंत्र का पं० सातवलेकर का अर्थ व टिप्पणी द्रष्टव्य ।

62 आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु । ऋ० 1।114।10 मंत्र में शस्त्रवाची शब्द न होने पर भी सायण ने मंत्र का भाष्य करते समय 'गोहननसाधनमायुधम्' अर्थ किया है । यहां गोवध की बात पहिले व पुरुषवध की बात बाद में कही गई है इससे गोघात को पुरुष हत्या से भी अधिक जघन्य माना प्रतीत होता है । यदि सायण भाष्य को न मान कर 'गोघ्नं' पद को 'सुम्नं' का विशेषण मान लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा--'हे शत्रुनाशक (क्षयद्वीर) रुद्र ! गोघात व पुरुषघात से उत्पन्न सुख हमसे दूर ही करो ।' अर्थात् यदि गोघात व पुरुषघात से सुख भी मिलता हो तो वह त्याज्य है । दोनों दृष्टिकोणों से गोवध जघन्य-कृत्य ही प्रमाणित होता है । अथर्ववेद (6।59।3) में भी रुद्र के शस्त्र (हेतिः) को दूर रखने की बात कही गई है तथा ऋ० 7।56।17 में मरुतों से शस्त्र को दूर रखने की प्रार्थना की गई है ।

प्रकार उनकी रक्षा करने का आदेश दिया गया है क्योंकि शस्त्र से गाय के अंग कट सकते हैं।[63]

गो को हानि पहुँचाने वाले शस्त्रों को दूर रखने की बात तो ऊपर कही गई, परन्तु एक मंत्र में इन्द्र के वज्र का विशेषण 'गव्युः' भी मिलता है।[64] इस विशेषण से ऐसा ज्ञात होता है कि शस्त्र का उपयोग रक्षण मान कर यहाँ वज्र को गो' की सुरक्षा करने वाला कहा गया है।[65] इन्द्र का वज्र ही गोरक्षक नहीं है, वह स्वयं भी 'गव्यु'—गो की रक्षा करने वाला कहा गया है।[66] उपर्युक्त प्रसंगों के विषय में यह कहा जा सकता है कि रुद्रवत् (रौद्र) स्वभाव वाले व्यक्ति के हाथमें शस्त्र गो आदि पशुओं के वध का कारण भी बन सकता है अतः वह दूर ही रहे, परन्तु इन्द्र जैसे विवेकशील वीर के हाथ में शस्त्र मनुष्यों की रक्षा की तरह उपयोगी पशुओं की रक्षा का साधन हो सकता है।

अतः स्पष्ट है कि गोवध ऋग्वेद की दृष्टि से निषिद्ध व अविहित कर्म है।

गोपालक को दण्ड

ऋग्वेद में गायों की हिंसा न करने वाले (हिंसा से रक्षा करने वाले) मरुतों के बल को प्रशंसनीय कहा गया है।[67] साथ ही जो अघ्न्या के दूध को नष्ट करता है अर्थात् गोवध करता अथवा ऐसी चोट पहुंचाता है जिससे उसका दूध नष्ट हो जाय, तो उसके सिर काटने की व्यवस्था दी गई है।[68] गाय को यातना देने वाले को वर्ष भर तक गोदुग्ध न पीने देने व पीने का प्रयत्न करने पर दण्ड स्वरूप उसके मर्मस्थल को वेधने की बात भी कही गई है।[69]

---

63 विपर्वशश्चकर्त गामिवासिः। ऋ० 10।79।6

64 सं ते वज्रो वर्ततामिन्द्र गव्युः। ऋ० 6 41।2

65 'गव्युः' शब्द का अर्थ सायण ने 'शत्रुसम्बन्धिनीर्गा आत्मनः इच्छन्' किया है। ग्रिफिथ ने भी ऐसा ही भाव लिया है—लूट के माल को जीतने वाला। इस शब्द में प्रयुक्त √यु' धातु का पाणिनि ने 'मिश्रणे अमिश्रणे च' अर्थ में प्रयोग विहित माना है. परन्तु यास्क ने 'यु' धातु को अर्चतिकर्मा (निघण्टु 3।14) धातुओं में गिना है इस प्रकार 'गव्यु' का अर्थ गा अर्चितुम्' होता है। मिलन या इच्छा अर्थ में भी 'यु' से गोरक्षा ही ध्वनित होगी क्योंकि ऋग्वेद की ही उपर्युक्त साक्षी से शस्त्र का मिलन गोवध के लिए अभिप्रेत नहीं है पं० सातवलेकर ने भी 'गव्युः' का अर्थ--A weapon that worships the cow या sacred to the cows किया है- गोको० भा० 1 पृ. 51 (दभा. ने 'अपने शस्त्रास्त्र से पृथिवी-राज्य के इच्छुक प्रजा का पालन करें' लिख कर ऐसे अर्थ की ओर संकेत किया है।)

66 ऋ० 1।51।14 67 मारुते गोषु अघ्न्या शर्धं प्रशंस—ऋ. 1।37।5

68 ऋ. 10।87।16

69 ऋ. 10।87।17 इस मंत्र में यातुधान शब्द (यातना देना) प्रयुक्त हुआ है। स्कन्द स्वामी ने यातुधान का अर्थ किया है--यातुः हिंसा। तस्यां हितव्याः स्थापयितव्याः यातुधानाः (ऋ. 1।35।10 पर भाष्य)। यातना देना भी एक प्रकार की हिंसा ही है। इसलिये यातुधान का अर्थ प्राणियों को पीड़ित करने वाले भूत, प्रेत, राक्षसादि किया जाता है (द्रष्टव्य आप्टे की Sanskrit English Dictionary P. 457 पर यातु व यातुधान।

यातना देकर दूध प्राप्त करने वाले तो वस्तुतः गाय के विष ही का पान करते हैं, ऐसे लोगों को अदिति (अखंडनीया गो) को प्रतिष्ठा के लिये हथियार से टुकड़े टुकड़े कर देने का विधान किया गया है।[70] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि गो-हत्यारे को गोली मार दी जाय।[71] यही नहीं गाय को लात मारना भी दण्डनीय कहा गया है।[72] यजुर्वेद में भी गोघातक को मृत्युदण्ड देने की व्यवस्था है।[73]

इसके विपरीत अरक्षित गायों को सुरक्षित करने वाले इन्द्र को ऋग्वेद में विवेकी कहा गया है[74] और गो के अंगों से यदि कोई यज्ञ करे तो उसे अथर्ववेद मूढ़ (मुग्धा देवाः) कहता है।[75] ज्ञानी ऐसा घोर कर्म नहीं करते।

ऐतिहासिक काल में गाय के विषय में वैदिक विचारधारा का आश्रय लेकर विष्णुगुप्त चाणक्य ने गो को मारने वाले, मरवाने वाले, चुराने वाले तथा चुरवाने वाले को प्राणदण्ड देने की व्यवस्था दी है।[76]

अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद के अनुसार गोहत्या दण्डनीय अपराध है और ऐतिहासिक काल में भी भारत में यह मान्यता सर्वमान्य रही मालूम पड़ती है।

गो अभक्षणीया

जैसा कि ऊपर कहा गया है ऋग्वेद में गो को अवध्या (अघ्न्या) कहा गया है; परन्तु स्पष्ट रूप से कहीं अभक्षणीया नहीं कहा गया है। अथर्ववेद में गो को अवश्य ही अभक्षणीया कहा गया है।[77] ऋग्वेद में उस पर मातृत्व का आरोप किया गया है। इसलिए उसके इस गुण से उसकी अभक्षणीयता ही ध्वनित होती है। एक मंत्र में गो के समान माता पृथिवी को भक्षण करने (√ अश्-भोजने) का उल्लेख मिलता है।[87] जैसे पृथ्वी का भक्षण पृथ्वी पर उत्पन्न अन्न, फलादि खाने को कहा जा सकता है वैसे ही गो का भक्षण उससे प्राप्त दुग्ध, घृतादि खाने के रूप में होगा।

गो से प्राप्त अन्न

ऋग्वेद में गो से प्राप्त अन्नों का प्रभूत रूप से वर्णन मिलता है। गो प्रदत्त दूध आदि से युक्त अन्न को एक मंत्र में महा धन कहा गया है।[79] इन्द्र गो से प्राप्त

---

70 ऋ. 10 87।18

71 यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ अवे 1।16.4
इस मंत्र में गोघात को पुरुषों के वध के समान ही कहा गया है।

72 यः गां पदा स्फुरति—तस्य ते मूलं वृश्चामि —अवे. 13।1।56

73 यवेवा 30।18 (अन्तकाय गोघातम्)

74 ऋ. 3।57।1   75 अवे 7।5।5

76 कौटिल्य का अर्थशास्त्र-अधिकरण 2, प्रकरण 45 अध्याय 29

77 गोः अनाद्या—अवे 5।18।3 (ग्रिफिथ का अनुवाद)

78 अश्नन्धेनुं न मातरम्-ऋ. 10।176।1

79 महोरायः ऋ. 8।23।29 इस मंत्र में 'गोमतीरिषः' का तात्पर्य दुग्धघृतादि पदार्थों से है।

अन्न का रक्षक है ।[80] गो[ ]दो प्रकार से अन्न प्रदान करती है--प्रथमतः दुग्धादि के रूप में और द्वितीयत; कृषिकर्म में सहायक बन कर । दोनों प्रकार से वह राष्ट्र का पोषण करती है ।[81] दुग्धादि पदार्थ व कृषिजन्य धान्यों को ही कदाचित् क्रमशः वशान्न और उक्षान्न कहा गया है ।[82] इन सब प्रकार के पदार्थों के भक्षक होने से अग्नि को विश्वाद कहा गया है ।[83]

अन्न प्रदात्री होने से ही गो को अन्न कहा है [84] तथा उसकी एक संज्ञा इळ भी है ।[85] इळा को भी अन्न कहा गया है ।[86] गो से प्राप्त होने वाले दुग्ध, दधि, घृतादि के ऋग्वेद में प्राप्य प्रसंगों को सविस्तर आगे उपस्थित किया जा रहा है ।

गोदुग्ध और उसका उपयोग

अथर्ववेद में गाय के दूध को देवताओं का भाग तथा जल, ओषधि और घृत का रस कहा गया है ।[87] यह सोम से मिल कर उसे दिव्य-अन्न (देवम्-अन्धः) बना देता है ।[88] गोएँ दूध से मनुष्यमात्र की वृद्धि करती हैं ।[89] दूध से दुर्बुद्धि नष्ट होती है अतः सद्बुद्धि बढ़ती है ।[90]

आधुनिक शरीर शास्त्री गोदुग्ध को पूर्ण भोजन मानते हैं । ऋग्वेद में भी दूध को परिपक्व कहा गया है जो अपरिपक्व (आमासु) गायों में रहता है ।[91] यही नहीं, जीवन के लिए उपयोगी होने से उसे अमृत तक कह दिया गया है ।[92]

---

80 ऋग्वेद 8।6।23

81 अवे 10।10।8--यहाँ अन्न क्षीरादि के रूप में राष्ट्र के (लिए) दोहन का वर्णन मिलता है । इससे यह व्यंजित है कि गो से प्रसूत अन्नादि राष्ट्र के पोषक तत्त्व हैं ।

82 ऋ० 8।43।11 (सायण का अर्थ--अभिलषणीय व भक्षणीय अन्न; कृषिजन्य गेहूँ, चावल आदि अन्न साधारणतया भक्षणीय व गोदुग्धघृतादि मधुर व पुष्टिकर होने से अभिलषणीय कहे जा सकते हैं । अतः उक्षान्न को बैल की सहायता से उत्पन्न व वशान्न को गो से उत्पन्न अन्न मानना उचित जान पड़ता है ।

83 ऋ० 8।44।26;10।16।6

84 अन्नं वै गोः-तैब्रा. 3।9।8।3 अन्न हि गोः--शब्रा. 4।3।4।25 जै. उ. ब्रा.-3।3।13

85 नि० 2।11

86 निघ० 2।7 तथा ऐब्रा० 8।26; कौ० ब्रा० 3।7 (अन्नं वा इडा)

87 अथर्ववेद 9।4।5

88 ऋग्वेद 7।21।1

89 तं वर्धदघ्न्या पयोभिः । ऋग्वेद 2।68।9

90 गोभिः अमतिं (अज्ञानं-स्कन्दस्वामी) निरुन्धानः । ऋ० 1।53।4 तुलनीय-गोभिष्टरेमामतिं दुरेवाम्--अथर्ववेद 7।50।7;10।42।10

91 ऋग्वेद 2।40।2:4।3।9; 6।72।4; 6।44।24; 8।32।25; 8।89।7; 10।106।11 आदि

92 'गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा'—ऋ० 1।71।9

आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनुसार गोदुग्ध को स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, गुरु, मन्द, प्रसन्न आदि दस गुणों से उपेत बतलाया गया है।[93] ऋग्वेद के अनुसार भी गोदुग्ध पुष्ट करता है[94] और शक्तिवर्द्धक होता है।[95]

दूध और घृत प्रदान करने के कारण गो को 'पयस्वती' और 'घृताची' कहा गया है।[96] वह औषधियों के सार भाग को दुह कर दुग्ध के रूप में प्रदान करती है।[97] गायें नदियों के किनारे चरती हैं, ओषधियाँ खाती हैं, इसीलिए सारे सुस्वादु भोज्य तत्त्व अकेले दुग्ध में ही प्राप्त हो जाते हैं—

महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रती: गौ: ।
विश्वं स्वाद्म सम्भृतमुस्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद्भोजनाय ।।[98]

गोदुग्ध प्रिय व काम्य कहा गया है।[99] चाणक्य के विचार में गाय के स्वभाव से भली प्रकार परिचित होता है, वही उसके सात्विक दूध का वास्तविक उपभोग करता है।[100]

गायें अपने दूध मे कृश मनुष्य को पुष्ट करती हैं, निस्तेज को सतेज करती हैं और घर को कल्याणमय बनाती हैं, अतः सभ्यों में उनकी प्रशंसा होती है।[101]

ऋग्वेद में यातना देकर दूध निकालने वाले को विषपान करने वाला कहा गया है।[102]

---

93 चरकसंहिता-सूत्रस्थानम् 8।19
94 पक्वा: पृक्षो भरन्त वाम्—ऋ० 5।73।8
95 पयोभि: पयते—अवे० 9।1।8 व ऋ० 1।164।28 [सायण का अर्थ-आप्यायनं (√प्यायी-वृद्धौ) करोति ।] ऋ० 1।121।5 भी द्रष्टव्य ।
96 अवे० 13।1।27 यह सामान्य गो के लिए अभिधा से नहीं कहा गया है । यहाँ देवधेनु:' का कथन है जो संभवत: प्रकृति हो; परन्तु इन शब्दों के प्रयोग से लौकिक पशु गाय की स्थिति का भी परिचय प्राप्त हो जाता है ।
97 ऋ० 10।73।9
98 ऋ० 3।30।14 मंत्र में नदियों के ज्योतिर्मय जल से स्वादुतर दुग्ध गौओं में धारण कराने वाला कहा गया है ।
99 ऋ० 5।19।4 [ऋग्वेद में बहुधा गोदुग्ध का उल्लेख किया गया है । भैंस आदि के दूध का वर्णन यहाँ प्रतीत नहीं होता । यद्यपि ग्रिफिथ ने यहाँ 'दुग्धम्' को सोम माना है और इस मंत्र को अस्पष्ट बतलाया है, तथापि 'दुग्धम्' का दूध अर्थ लेने से मंत्र के भाव और सूक्त के भाव में कोई वैषम्य उपस्थित नहीं होता । अत: यहाँ इसका गाय का दूध अर्थ लिया गया है ।
100 धेनो: शीलज्ञ: क्षीरं भुंक्ते—चाणक्य प्रणीत सूत्र-सं० 140 वाचस्पति गैरोला संपादित ।
101 ऋ० 6।28।6 तथा अवे 4 21।6
102 ऋ० 10.87।17 यातुधान—यातना का आधान कराने वाले अर्थात् यातना देकर दूध निकालने वाले ।

दूध से गौएँ सभी खाद्य पदार्थों को स्वादिष्ट बना देती है।[103] दूध से पकाये हुए भात का उल्लेख भी मिलता है।[104] मित्रों के सत्कार के लिए (मित्रधितये) भी दुग्ध को काम में लिया जाता है।[105] घी, दूध से बने हुए चरु का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[106] दूध में शहद मिला कर सेवन करने की बात भी कही गई है।[107] लाल रंग की गाय के दूध से हृदयरोग व पाण्डुरोग दूर होता है।[108]

दूध को सोम में मिलाकर बनाया हुआ पेय 'गवाशिर्' कहा गया है, जिसे इन्द्र[109]; वायु[110], मित्रावरुण[111] आदि देवताओं को समर्पित करने का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः गाथी विश्वामित्र का 'रसाशिर्'[112] 'गवाशिर्' का ही पर्याय है। क्षीर स्नान का उल्लेख भी मिलता है।[113]

दूध के महत्त्व को देखकर ही अथर्ववेद के एक मंत्र में दूध के रूप में बल का दोहन करने वाली गायें होने की कामना की गई है[114] और यह भी कामना की गई है कि घर सदा दूध से भरे हुए हों[115] और उनमें घड़े भर कर दूध रहे।[116] गायों के व्रज दुग्ध पीने के उत्तम स्थान माने गये हैं।[117]

य का दही

गोदुग्ध की तरह दधि भी मनुष्यों और देवों का प्रिय खाद्य है। गोस्तन में पहले दुग्ध पकता है। पुनः उसे पका कर नवीन रूप (दधि रूप) में उपस्थित किया जाता है। इस दधि को माध्यन्दिन-सवन के समय देवार्पण किया जाता है।[118] सोम

---

103 स्वदन्ति गावः पयोभिः। ऋ० 9।62।5

104 क्षीरपाकमोदनम्--ऋ० 8।77।10 [संभवतः यह आधुनिक खीर हो।]

105 ऋ० 1।120।9 (दयानन्द भाष्य की योजना)। सत्कार मित्रों के धारण में प्रमुख कर्म है।

106 अवे० 18।4।19

107 मद्वा संपृक्ता सारघेण धेनवः। ऋ० 8।4।8 (ग्रिफिथ का अनुवाद)

108 अवे० 1।22।1 यहां 'वर्णेन रोहितस्य गोः (पयसा) त्वा परिदध्मसि' योजना अभीष्ट है।

109 ऋ० 1।187।9; 3।32।2; 3।42।1; 7; 8।52।10; 8 69।6

110 ऋ० 8।101।10 तथा इन्द्र वायु को ऋ० 2।41।3 में गवाशिर समर्पित करने का उल्लेख है।

111 ऋ० 1।137।1 यहाँ गवाशिरः को 'गोश्रीता मत्सराः कहा गया है।

112 ऋ० 3।48।1 (द्रष्टव्य सायणभाष्य)

113 ऋ० 1।104।3 (द्रष्टव्य ग्रिफिथ का अनुवाद तथा उसमें निर्दिष्ट ल्युड्विग का व्याख्यान)

114 धेनवः तिलवत्सा ऊर्जं दुहाना सन्तु-अवे० 18।4।34

11 इमे गृहा पयस्वन्तः-अवे० 7।62।2

116 अवे० 4।34 7

117 व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृ-पाणो—ऋ० 10।101।8 [सायण ने व्रज को देवताओं व मनुष्यों के लिए उत्तम पानगृह (दुग्धपानगृह) माना है।]

118 ऋ० 10।179।3 सायण ने दधि को यहाँ 'दधिघर्मश्च हविः' कहा गया है।

में दधि मिला कर प्रदान करने पर इन्द्र दाता के सभी मनोरथ पूर्ण कर देते हैं।[119] यह खाद्य उन्हें अतीव प्रमत्त बना देने वाला है।[120] इन प्रसंगों में दही का अनेक बार उल्लेख है; परन्तु यह सुव्यक्त नहीं है कि यह दही किस पशु के दूध का है, तथापि ऋग्वेद में दूध देने वाले पशुओं में गो को प्रमुख स्थान प्राप्त होने से और गोदुग्ध के साथ सोम के मिश्रण का स्पष्टतया उल्लेख होने से[121] यह सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह दही गाय के दूध का है।

दधि मिश्रित सोम की विशेष संज्ञा 'दध्याशिर्'[122] है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ७ बार हुआ है। तीन बार इन्द्र के लिए[123], एक बार इन्द्रवायू के लिए[124] और एक बार मित्रावरुण के लिए[125] दध्याशिर् अर्पण करने का उल्लेख मिलता है। एक मंत्र के अनुसार सोम दधि मिश्रित होकर सर्वत्र व्याप्त हो गए (व्यानशुः)[126]। एक अन्य मंत्र में दधि-मिश्रित सोम की शोभा सूर्य के समान दर्शनीय बतलाई गई है।[127]

ऋग्वेद में दधि व घृत को जौ के सत्तू में मिला कर तैयार किये हुए करम्भ का उल्लेख भी हुआ है जो पूषा[128अ] और इन्द्र[128आ] को अर्पण किया जाता है। एक मंत्र में करम्भ को औषधिवत् पुष्टिकर और रोगनिवारक और कामोद्दीपक कहा गया है।[128इ]

अथर्ववेद में एक प्रार्थना में कहा गया है कि गृह में बालक आवे, युवक आवे, चलने वालों के साथ बछड़े आवें और मीठे रस से भरे घड़े दही से भरे हुए घड़ों के साथ आवें।[129] इससे पता चलता है कि दही भी दूध के साथ कितना प्रिय रहा है।

गोघृत

गायें घी प्रदान करती हैं। घी यज्ञ का साधक तो है ही; जीवन यात्रा के लिए भी सभी खाद्य-पदार्थों में उत्तम, आवश्यक पदार्थ है। इसीलिए ऋग्वेद में घी से भरे पूरे गृह होने की प्रार्थना की गई है।[130] सुखप्रदा शाला का एक विशेषण 'घृतवती' भी अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है।[131] घी को मधुरता से परिपूर्ण तृप्तिदायक तीव्ररस कहा गया है।[132] एक मंत्र में तो घृत की धारा को अमृत रस से पूर्ण भी कहा गया है।[133]

---

119 ऋ० 9।81।1 120 ऋ० 8।2।9

121 यथा ऋ० 9।97।43

122 दध्ना युक्तः सोमः दध्याशीः—स्कन्दस्वामी–ऋ० 1।5।5 पर भाष्य।

123 ऋ० 1।5।5;7।32।4;9।63।15

124 ,, 5।51।7 125 ऋ० 1।137।2

126 ,, 9।22।3 (हिन्दी ऋग्वेद)

127 ,, 9।101।12

128अ ऋ० 3।52।7;6।56।1;57।2 आ ऋ० 3।52।1;8।91।2

इ ,, 1।187।10 (हिन्दी ऋग्वेद)

129 अवे 3।12।7

130 गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु—ऋ० 10।18।12 तुलनीय-क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा—अवे० 3।12।1 तथा 3।12।4

131 अवे 3।12।2 132 मधुपृचाम् अरंगमः तीव्रःरसः। अवे 3।13।5

133 घृतस्य धारामृतेन संभृताम्—अवे 3।12।8

घृत पवित्र व निर्दोष होता है ।[134] उसके सेवन करने से बल-वृद्धि होती है,[135] शरीर पुष्ट होता है[136] व ग्रायु में वृद्धि होती है ।[137] इसलिए यज्ञ में घृत-मिश्रित दुग्ध पीने का उल्लेख मिलता है ।[138] ग्रथर्ववेद में देवों द्वारा घी पीने की बात भी कही गई है ।[139]

प्राचीन भारत में घी, दूध की नदियां बहने की बात प्रसिद्ध है । ऋग्वेद में बहती हुई घृतधाराग्रों के उल्लेखों से इस बात की पुष्टि भली प्रकार हो जाती है ।[140] यह कहा गया है कि घृत धाराग्रों के रूप में बहता हुग्रा यज्ञभूमि की ग्रोर जाता है ।[141]

घृत गायों में रहता है ।[142] ग्रत: गौग्रों का एक विशेषण 'घृतदुह्'[143] भी है । उनको 'सबर्दुघा' (ग्रमृतवर्षी) भी कदाचित् घृत के कारण ही कहा गया हो ।[144] ग्रथर्ववेद में गौग्रों को घृत की माता कहा गया है ।[145] एक मंत्र में तपे हुए गोघृत को देवताग्रों के लिए भी स्पृहणीय कहा गया है ।[146] मित्रावरुण ग्रौर ग्रग्नि

---

134 ऋ० 4।10।6;6।10।2;8।12।4
135 ऋ० 10।19।7 (दध ऊर्जा घृतेन पयसा)
136 घृतेन तन्वं वर्धयस्व—ऋ० 10।59।5
137 ग्रवे 2।13।1 (यहाँ घृत, मधु व सुन्दर गव्य पीकर घृतप्रतीक ग्रौर घृतपृष्ठ ग्रग्नि द्वारा ग्रायु प्रदान करने का उल्लेख है । ग्रत: व्यंजना से यह भी ग्रर्थ निकलता है कि घृत पिला कर ग्रायु बढ़ावे । तु०क० ग्रायुर्वै घृतम्)
138 पयो घृतवद्विदथेषु—ऋ० 1।64।6 (दयानन्द भाष्य)
139 घृतं पिब—ग्रवे 7।26।3 तथा वां जिह्वा घृत प्रति ग्राचरण्यात् । ग्रवे 7।29।1;2
140 ऋ० 4।58।5;7;8 (हिन्दी ऋग्वेद) तुलनीय ग्रवे 12।3।41;18।3।72 तथा 18।4।57
141 ऋ० 4।58।9; 10 (हिन्दी ऋग्वेद)
142 ऋ० 4।58।4
143 ऋ० 9।89।5 (हिन्दी ऋ०
144 ऋग्वेद 1।20।3;3।55।16 ग्रादि स्थल (ग्रिफिथ, स्कन्दस्वामी व वेंकटमाधव के रूपान्तर) । सायण ने सबर् को दुग्धवाची बताया है । वेंकटमाधव व स्कन्दस्वामी की साक्षी से यह 'ग्रमृत' का वाचक रहा प्रतीत होता है । सबर्दुघा में सम्पूर्ण धनों को दोहने की शक्ति मानी गई है (ऋ० 1।134।4)
100 वर्ष की पूर्ण ग्रायु को प्राप्त करने को ग्रमृत कहा गया है—
एत द्वै मनुष्यस्य ग्रमृतत्वं यत्सर्वमायुरिति
(शतपथ 9।5।1।10 ताण्ड्य म० ब्रा० 24।19।2 तथा शत० ब्रा० 10।2।6।8 भी द्रष्टव्य)
घृत ग्रायुवर्द्धक व जीवनीय रसायन है इसलिए उसे ग्रमृत कहा गया है ।
145 घृतस्य मातर: गाव:—ग्रथर्ववेद 6।9।3
146 शुचि घृतं न तप्तमघ्न्याया: स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनो: ऋ० 4।1।6

देवताओं के लिए घृतान्न विशेषण प्रयुक्त हुआ है ।[147] कतिपय देवताओं के अन्य विशेषणों--घृतश्री[148], घृतपृष्ठ[149], घृतासुति (घृत द्वारा आहुत होने योग्य)[150] एवं घृतयोनि'[151] का सम्बन्ध भी घृत से है ।

देवता घृत और मधु से युक्त हवि का स्वाद लेते हैं ।[152] सोम भी घी मिलाने पर स्वादिष्ट हो जाता है ।[153] घृत चूता हो ऐसे अन्न का उल्लेख भी मिलता है ।

घृत में मधु मिलाकर पीने से क्षत्रवृद्धि होती है ।[155] बलवृद्धि के लिए ही कदाचित् घोड़ों की पीठ पर घृतमर्दन किया जाता हो ।[156] सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा घी का काजल आँखों में लगाने का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है ।[157] घृत से आहुत अग्नि से कीटाणु नष्ट हो जाते हैं ।[158] हल की फाल को घी और मधु से सिंचित करना[159] कदाचित् भूमि को उर्वरा करने का उपाय समझा गया हो ।

मधु जैसे (मधुवर्ण) घृत को मरुत् प्रदान करते हैं ।[160] द्यावा और पृथिवी को भी घृतवृधा (घृत बढ़ाने वाली) बताया गया है ।[161] अश्विनीकुमारों का रथ घृतयुक्त कहा गया है ।[162] उनके रथ का एक और विशेषण 'घृतवर्तनि' है ।[163] इससे संकेत मिलता है कि घृतसिंचित यज्ञमार्ग पर अश्विन्-द्वय का रथ चलता है गव्यूति को घृतसिंचित करने का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है ।[164]

---

147 ऋ० 6 67।8;7।3।1

148 " 1।2४।4; 5।8।3 (अग्नि);6।70 4(द्यावापृथिवी);10।65।2(सोम)

149 " 5।4।3; 14।5 (अग्नि)

150 " 1।156।1 विष्णु); 6।69।6 (इन्द्राविष्णू); 1।136।1;2।41।6 (मित्रावरुणौ) ।

151 ऋग्वेद 3।4।2 (यज्ञ); 5।8।6 (अग्नि); 5।68।2 (मित्रावरुणौ)

152 ऋ० 10।110।10

153 ऋ 10।29।6

154 ,, 8।8।15-16

155 ,, 1।157।2

156 ,, 1।14।6 में वह्नय: का विशेषण घृतपृष्ठा:

157 इमा नारीरविधवा: सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु । अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे । ऋ० 10।18।7

158 ऋ० 1।12।5

159 अवे० 3।17।9

160 ,, 1।87।2

161 ऋ० 6।70।4 (सा०; वेभा०)

162 घृतवन्तं चित्रं रथम् ऋ० 1।34।10 तुलनीय 5।77।3

163 ऋ० 7।69।1

164 3।62।16; 7।62।5; 65।4 यहां घृत का अर्थ आपातत: ही जल प्रतीत होता है । यज्ञ में घी की आहुति देने से वह वाष्पमय होकर वायुमण्डल में जाता है जिसके फलस्वरूप वर्षा होती है । इस प्रकार जन्यजनक भाव को दृष्टिगत रखते हुए जल को घी कहा गया ज्ञात होता है । इस प्रकार गव्यूति को घृत से सींचने की बात कहने से यह ध्वनित होता है कि यज्ञ में प्रचुर घृत का प्रयोग होता था, फलत: वर्षा द्वारा मार्ग जलसिंचित होते थे ।

गोमय व गोमूत्र

पौराणिक काल में गोबर में लक्ष्मी का निवास माना गया है । यज्ञशाला व घर की शुद्धि के लिए गोबर व गोमूत्र का उपयोग अब भी होता है; परन्तु ऋग्वेद में इनके ऐसे उपयोग का कोई उल्लेख नहीं मिलता । केवल एक मन्त्र में जलते हुए गोबर के धुएँ (शकमय धूमम्)[165] का उल्लेख मिलता है । अथर्ववेद में कहा गया है कि यदि दासी गोमूत्र व गोबर (पल्पूलन शकृत्)[166] को इधर उधर फेंक दे तो उसके विरूप सन्तान होती है । ऋग्वेद में एक स्थान पर 'गोमय वसु'[167] का उल्लेख है । सम्भव है इन शब्दों से गोबर को धन के रूप में (व्यंजना से गोधन) स्वीकार करने की ओर संकेत हो जैसा कि लोक में अब भी माना जाता है । गोमय का गोबर अर्थ में प्रयोग भी होता है ।

गो-चर्म

प्राचीन काल में मरी हुई गो के चर्म का उपयोग कर लिया जाता था । उसे रथ पर मँढने से रथ सुदृढ़ हो जाता था । 'गोभिः संनद्धः रथः' उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है ।[168] सायण के विचार से चमड़े की ताँत से धनुष की डोरी भी बनाई जाती थी ।[169] अथर्ववेद में गोचर्मवेष्टित ढोल का भी उल्लेख मिलता है ।[170]

ऋग्वेद में गोचर्म (गो त्वचि) पर सोम रस का पात्र रखने का भी उल्लेख मिलता है ।[171] गो त्वचा को सोमशोधक भी माना गया है ।[172]

अतिथि के लिए गो

भारत में अतिथि को देवता के समान आदर दिया गया है ।[173] अतिथिसत्कार में पवित्र पशु गो के दुग्धादि का प्रभूत प्रयोग किया जाता था । ऋग्वेद में मित्र के सत्कार के लिए दूध दुहने का उल्लेख मिलता है ।[174] अथर्ववेद में अतिथि को दुग्ध व घृत समर्पण करने को क्रमशः अग्निष्टोम तथा अतिरात्र के समान फलदायी बताया गया है ।[175] वहीं यह भी कहा गया है कि गौ का क्षीर और खोया आदि से निर्मित

---

165 ऋ० 1।164।43 (सायणभाष्य । सम्भवतः वेमा का भी यही अभिप्राय है ।)
166 अवे 12।4।9 (ग्रिफिथ) ।
167 ऋ० 10 62।2
168 ,, 6।47।26 मन्त्र 27 भी द्रष्टव्य । अवे 6।125 1;2 में भी ये मन्त्र आये हैं ।
169 ऋ० 6।75।11
170 अवे 5।20।1;5।21।3 (—संभृत उस्रियाभिः) ।
171 ऋ० 1।28।9;
172 ,, 9।70।7; तुलनीय ऋ० 9।65।25; 66।29
173 अतिथिदेवो भव तैत्तिरीयोपनिषद् 1।11।2 तथा गद्यपारिजात विवरण (सुधीरकुमार गुप्त) में पृ. 26 पर इस का अनुवाद ।
174 दुहीयन् मित्रधितये-ऋ 1।120।9 तुलना करो दयानन्द भाष्य ।
175 अवे. 9।6।40,41

पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट होते हैं अतः अतिथि के भोजन करने से पूर्व इन पदार्थों को यजमान न खावे।[176]

यज्ञ के लिए गो

जैसा कि आगे प्रकट होगा, गो यज्ञ के लिए अत्यन्त आवश्यक मानी गई है। ऋग्वेद में यज्ञ में (संभवतः दूध दुहने के लिए) गौओं को रोकने का उल्लेख मिलता है।[177] यज्ञ में उनको रोकने का अन्य प्रयोजन उनका पूजन, सत्कार आदि करना भी हो सकता है। अथर्ववेद के अनुसार मूढ़ राक्षस-याजक तो गो व कुत्तों के अंगों से यज्ञ भी किया करते थे;[178] परन्तु सामान्य लोग गो का यज्ञ में सत्कार ही किया करते थे।[179] गोदान भी यज्ञ का आवश्यक अंग माना गया है।[180]अ

---

176 अवे 9।6 39 एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं मांस वा तदेव नाश्नीयात्। इस मंत्र से पहले अतिथि से पूर्व खाने वाले यजमान को होने वाली हानियों का, अतिथि से पूर्व न खाने का और अतिथि के खा लेने पर खाने का विधान है। अतः उस प्रसंग में अर्थ होगा-'गोदुग्ध और सारभूत अंश को ही अतिथि से पूर्व न खावे' [सभवतः यह आशय प्रतीत होता है कि अतिथि (देवातिथि-अग्नि व मनुष्य अतिथि) को भोजन कराने (अग्निहोत्र करने व अतिथि को खिलाने) के पूर्व कुछ भी न खावे। गोदुग्ध व अभिलषणीय अन्न (मांस-नीलकण्ठ के मत में माक्षि-कांक्षायाम् धातु से व्युत्पन्न अथवा मनः सीदति अस्यामिति) ही न खावे, क्योंकि इनमें सुस्वादिता के कारण खाने की प्रवृत्ति विशेषतया हो सकती है। इससे यह व्यंजित है कि अन्य वस्तुएँ खाई जा सकती हैं, परन्तु उनकी ओर प्रवृत्ति होगी नहीं। अतः व्यंजना से यह अर्थ होगा क्षीर व खोये के मिष्टान्न आदि सुस्वादु पदार्थों को न खावे जिससे अन्य पदार्थों को खाने में प्रवृत्ति न हो अर्थात् कुछ भी न खावे।]

अतिथि को गोघ्न भी कहा जाता है। महर्षि पाणिनि ने 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' सूत्र में अतिथि के लिए गो प्रदान किये जाने का उल्लेख किया है (गावः हन्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मै सः गोघ्नोऽतिथिः)। पं० सातवलेकर ने भी (गोज्ञानकोश-प्रथम भाग-भूमिका) में ऐसा माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति के 'महोक्षं श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' का अर्थ विज्ञानेश्वर ने 'तत्प्रीत्यर्थं न तु दानाय व्यापादनाय वा' किया है। अतः अतिथि को गोदर्शन मात्र कराया जाता था। उसका मांस खाया या खिलाया नहीं जाता था।

177 अध्वरे परिरोधना गोः—ऋ० 1।121।7 सायण का अर्थ —'अहिंसनीय यज्ञ में यूप में नियोजन करने के लिए गो' (यूपे नियोजनाय)। स्कन्द ने (मारयित्री) मारने योग्य अर्थ किया है जो ऋग्वेद की गोवध में प्रवृत्ति न होने से मानना संभव नहीं है। पं० सातवलेकर ने भी गोज्ञानकोश में 'गोनिरोध' यज्ञ के लिए दुग्धादि ग्रहण करने के लिए ही माना हैं।

178 अवे 7।5।5

179 ऋ० 1।13।9 पं० सातवलेकर की टिप्पणी-गोको० द्वि०भा० पृ० 25 पर द्रष्टव्य

180अ दक्षिणा तु यागांगम्—सायण—ऋ० 10।107।1 पर भाष्य।

गो प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा

गो से प्राप्त समृद्धि और उसकी यज्ञादि में उपयोगिता को देखते हुए गोप्राप्ति की अभिलाषा स्वाभाविक ही है। परवर्ती साहित्य में कामना की गई है—

गावो ममाग्रतो नित्यं गाव. पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव तेषां मध्ये वसाम्यहम् ॥

ऋग्वेद में भी सैंकड़ों हजारों की संख्या में गायों की कामना गई है।[181] एक मंत्र में गोरहित व्यक्ति के जीवन की निराशा व्यंजित होती है।[182] निष्पाप यजमान स्त्री-पुरुष इन्द्र को तृप्त करके बहुसंख्यक गोधन की प्राप्ति के लिए (गव्यन्ता) हव्य प्रदान करते हुए यज्ञ का विस्तार करते हैं। वे गोधन प्राप्त करके स्वर्ग-गमन की इच्छा करते हैं।[183] इससे प्रकट है कि गोप्राप्ति का आनन्द स्वर्गीय आनन्द के समकक्ष समझा जाता था। ताण्डच महाब्राह्मण में कदाचित् इसी आधार पर सहस्र गोयुक्त यज्ञभूमि को स्वर्गलोक कहा गया है।[184]

गोप्राप्ति की उत्कट अभिलाषा इस बात से भी प्रकट होती है कि गो को इन्द्र रूप माना गया है, हृदय व मन से जिसकी इच्छा की जाती है।[185]

अथर्ववेद में भूमिसूक्त में मातृभूमि को गायों, अश्वों और अन्नों से भरी हुई बताया गया है।[186] ऋग्वेद के एक मंत्र में गोप्राप्ति की इच्छा करते हुए बड़े २ परशु लेकर पूर्व की ओर युद्ध के लिए जाने वाले व्यक्तियों का उल्लेख भी मिलता है।[187]

गोप्राप्ति के लिए सबसे अधिक इन्द्र की स्तुति की गई है।[188] सोम से भी गवाभिलाषी की इच्छा पूर्ण करने की प्रार्थना की गई है।[189]

दूध, दधि, घृतादि के विना गृहस्थजीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए वेदों में उत्तम गृहस्थ जीवन का शब्द चित्र खींचते समय गो का स्मरण किया गया है।[190]

180आ मभा अनुशासन पर्व 80।3; तुलनीय-पद्मपुराण 50।152-53
181 ऋ० 8।88।2;
182 न हि मे अस्ति अघ्न्या—ऋ० 8।102।19 (ग्रिफिथ का अनुवाद)।
183 ऋ० 1।131।3 (हिन्दी ऋग्वेद)।
184 तामब्रा 16।8।6–'यावद्वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तवदास्मात् लोकात् स्वर्गो लोक इति।'
185 ऋ० 6।28।5
186 गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।
187 प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः। ऋ० 7।83।1
188 यथा—ऋ० 7।27।1;7।32।23;10।160।5;8।78।9 आदि। ऋ० 10।131।3 भी देखें।
189 जिन्वा धियः गविष्टये। ऋ० 9।108।10
190 ऋ० 7।60।5;3।12।3;9।3।13 [illegible] यजु० 22।22

गो-पालन

गोओं से अल्पबुद्धि ही दूर रहता है[191] अन्यथा सभी लोग उनको पालते हैं। ऋग्वेद में 'गोपा' (गोपालक)[192] विशेषण देवताओं तक के लिए प्रयुक्त हुआ है। उनके गोरक्षण, दुग्धवृद्धि, गोविजय, गोनिर्माण, गोप्राप्ति, गोदान आदि विविध कार्यों का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। [192अ] देवों के कार्यों का अनुसरण करने वाले मनुष्य भी गोरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

ऋग्वेद में गायों को जंगल से आने पर गोष्ठ या शाला में बिठाये जाने का उल्लेख मिलता है।[193] उनके लिए उत्तम सुखकर वायु: पुष्टिकर जल व बलवर्द्धक ओषधियों का प्रबन्ध करने को आकांक्षा भी प्रकट की गई है।[194] गोओं के लिए रोगरहित अन्न प्रदान करने के लिए सोम की प्रार्थना की गई है।[195] वर्षा काल में कृश गोओं को घर में आश्रय दिया जाता है।[196]

एक मंत्र में यज्ञ की समृद्धि का उपमान गायों को परिपुष्ट करने की विशेष क्रिया को बनाया गया है—क्रतुं पुष्यसि गा इव। पोषण के लिए गोओं को उत्तम गोपालक द्वारा यवादि प्रदान किए जाते थे।[197]

पशुपाल रहित गोओं के इधर उधर भटकने व जौ की ओर जाने का उल्लेख मिलता है।[198] अन्यत्र कहा गया है कि "अनेक गोएँ एकत्र होकर यव खा रही हैं। मैं इन्द्र स्वामी के समान गोओं की देखभाल करता हूँ। मैं देखता हूँ कि चरवाहों के साथ गौएँ चर रही हैं। वे आह्वान करने पर स्वामी के पास आती हैं और स्वामी प्रचुर दूध दुह लेता है।[199]

अतः ऋग्वेद से यह बात स्पष्ट हो जाता है कि गोएँ पाली जाती थीं और यह माना जाता था कि गो पालन करने वाले का कभी पतन नहीं होता।[200]

---

191 ऋ० 8।101।16 गा दभ्रचेता: मर्त्यो अवृक्त।

192 " 1।22।18,94।5;3।10।2;1।5।2 आदि

192अ 'गो व अन्य देवता' अनुच्छेद द्रष्टव्य

193 आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे। ऋ० 6।28।1 तथा अवे० 7।101।1

194 ऋ० 10।169।1

195 ऋ० 3।62 14 अनमीवा इषस्करत्। यहाँ द्विपद और चतुष्पद सभी के लिए रोगरहित अन्न की प्रार्थना है। अतः गो गम्य अर्थ माना गया है।

196 वर्षमाशारैषी कृशगुरेतस्त्वम्।-अथर्ववेद 4।15।6 (कृशगु: आशार-एषी अस्तं एतु-योजना) कृश गोओं वाला घर आ जावे जिससे उसकी गायों को आश्रय मिले यह भाव ध्वनित होता है।

197 ऋ० 3।45 3

198 ऋ० 7।18।10

199 गावो यवं प्रयुता अर्यो अक्षन् ता अपश्यं सह गोपाश्चरन्ती:। हवाइदर्यो अभित: समायन् कियदासु स्वपतिश्छन्दयाते। ऋ० 10।27।8

200 तु० क० अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्—ऋ० 10।177।3

गोओं की सेवा

गोसेवा ऋग्वेद की दृष्टि से स्पृहणीय कार्य है। एक मन्त्र में कहा गया है कि "जिस प्रकार गोओं की परिचर्या की जाती है और उन्हें गोष्ठ में रक्खा जाता है उसी तरह वरुण की परिचर्या करो।'[201] इस कथन से पता चलता है कि गोसेवा को आदर्श कार्य माना गया था। इसीलिए उसे देवपरिचर्या के लिए उपमान बनाया गया है। गोओं को स्नान कराने का उल्लेख मिलता है।[202] उन्हें आहार सामग्री की ओर ले जाने,[203] सोम पिलाने,[204] पोषक यज्ञीय हवि खिलाने,[205] दोहन के लिए बुलाने,[206] उनके गोष्ठ को सींचने[207] व उष्ण बनाये रखने[208] तथा जौ आदि से उनको प्रसन्न रखने[209] का वर्णन भी मिलता है। उनको सन्तुष्ट रखने की बात कही गई है।[210]

गो-चोरी व गोचोर को दण्ड

गो यज्ञादि के लिए अत्यन्त उपयोगी पशु है। अतः यज्ञद्वेषी लोग यज्ञप्रेमियों की गोओं को चुरा लिया करते हैं। इसलिए ऋग्वेद में इन्द्र से, गोओं को प्राप्त करने में चोर समर्थ न हों या उनके स्वामी न बन जायें, ऐसी प्रार्थना की गई है।[211] एक मंत्र में गो चुराने के प्रायश्चित्त के लिए गोओं को यवादि खिला कर तृप्त करने वाले व्यक्ति का उल्लेख मिलता है।[212] यह भी सम्भव है कि चुराई हुई गोओं को अपने पास रखने के लिए वे उन्हें तृप्त करते हों। ऐसे गोचोरों के लिए ऋग्वेद में कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है—

रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च।[213]

ऐतिहासिक काल में चाणक्य ने भी गोचोर या गोचोरी की प्रेरणा देने वाले का वध करने का आदेश दिया है।[214]

गोओं के लिए युद्ध

गोधन की रक्षा के लिए आर्यों को युद्ध करने पड़ते थे ऐसे युद्धों को 'गविष्टि'[215] भी कहा गया है जिसका अर्थ है--'गो प्राप्ति की इच्छा' अथवा 'गोप्राप्ति

---

201 त्रितं जूती सपर्यतं व्रजे गावो न--ऋ० 8।41।6

202 ऋ० 10।76।3 (हिन्दी ऋग्वेद) तुलनीय 10।4।5 [अग्नि की उपमा वृषभ से—अतः गो, वृषभादि को स्नान कराने की बात ध्वनित होती है।

203 ऋ० 10।165।5 — 204 ऋ० 1।84।10

205 " 9।71।4 — 206 " 1।4।1

207 " 10।26।3 — 208 " 10।4।2

209 " 5।53।16 — 210 " 8।35।18 (धेनुर्जिन्वतम्)

211 मा स्तेन इन्द्र ईशत—ऋ० 6।28।7

212 पशुतृपं न तायुं—ऋ० 7।86।5

213 ऋ० 7।104।10 तथा अवे 8।4।10

214 चाणक्य अर्थशास्त्र (गैरोला संपादित) 2।29 पृ० 269

215 ऋ० 1।36।8, 1।91।23; 3।47।4; 5।63।5; 6।31।3; 6।59।7 आदि मंत्रों में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

के लिए किया जाने वाला पवित्र कार्य (इष्टि–यज्ञ-पवित्रकर्म)' । गौओं के लिए युद्ध में लड़ने वाले वीरों की निन्दा कोई भी नहीं कर सकता।[216] बड़े ही उत्साह पूर्वक स्तोता इन्द्र से प्रार्थना करता है--

"हे इन्द्र ! वह समय कब आयेगा जब तुम शत्रुओं के पक्ष के वीरों को हमारे वीरों से--वीरों से वीरों को संयुक्त कराते हुए हमें युद्धों में विजय प्राप्त कराओगे। तुम स्वयं कब गमनशील शत्रुओं से क्षीर, दधि और घृतादि (त्रिधातु का सायण प्रदत्त अर्थ) धारण करने वाली गौओं को जीतोगे और वह धन हमें प्रदान करोगे।[217]

ऋग्वेद में 'अध्रिगु' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है--जिसकी गौओं को कोई धर्षित न कर सके।[218]

गोविजय में इन्द्र प्रमुख रूप से भाग लेता है। उसकी 'गोजिता बाहू'[219] उल्लिखित हुई हैं। वह स्वयं 'गोजित्'[220] व 'गवेषणः धृष्णुः' (गायों को खोजने वाला साहसी वीर)[221] जैसे विशेषणों से विभूषित किया गया है। वह युद्ध में शत्रुओं से गो आदि पशुओं को छीन लेता है।[222] गोरक्षा के लिए किये जाने वाले युद्धों में कोई उसे रोक नहीं सकता।[223] उसकी प्रेरणा से स्त्रियां तक गोरक्षा के लिए युद्ध करती थीं। मुद्गलानी ने रथ पर चढ़ कर, शत्रुओं को युद्ध में परास्त करके सहस्र गौओं को जीता था।[224] इन्द्र के रथ को गोप्रापक (गवेषणं रथम्)[225] तथा 'गोविद्'[226] कहा गया है। अन्य देवता गोविजय में या तो उसके सहायक होते हैं या स्वतन्त्र रूप से विजय प्राप्त करते हैं।[227]

---

216 न किरेषा निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषुयोधाः।
ऋ० 3।39।4

217 ऋ० 6।25 2

218 गोः द्यौः। तत्राधृता व्यवस्थातारः अध्रिगावः। अधार्यगमना वा अध्रिगावः। स्कन्दस्वामी ऋ० 1।64।3 पर भाष्य। अन्यत्र ऋ० 1।61।1; 1।112।20;3।21।4;5।10।1;5।73।2;6।45।20;8।12।2;8।22।11 8।70।1;93।11;60 17;9।98।5;8।22।10 में यह शब्द विविध विभक्तियों में प्रयुक्त हुआ है।

219 ऋग्वेद 1।102।6

220 ऋग्वेद 2।21।1 इस मंत्र में विश्वजित्, स्वर्जित्, अब्जित् आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्गजय के लिए युद्ध की कल्पना सम्भव नहीं है। अतः विजय वर्णन प्रतीकात्मक जान पड़ता है। प्रतीकों के विषय में अन्यत्र विवेचन किया गया है। तुलनीय 6।60।2 उषा, धेनु व जल के लिए युद्ध।

221 ऋ० 7।20।5

222 ऋ० 4।17।10;11

223 गोषु त्वा न किः वृण्वते, ऋ० 7।32।16 (ग्रिफिथ आदि का अनुवाद)

224 ऋ० 10।102।2

225 ऋ० 7।23।3

226 " 1।82।4

227 देवताओं की गोविजय के विषय में विस्तार से 'गो तथा अन्य देवता' नामक अनुच्छेद में द्रष्टव्य।

मनुष्यों को गौओं के लिए युद्ध करने की प्रेरणा इन देवताओं से ही मिलती है। गौओं की रक्षा के लिए वीर पुरुषों की नियुक्ति का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[228] एक मंत्र के अनुसार पृश्नि गो ने युद्ध के लिए (हो सकता है) अपनी रक्षा के लिए, वीर मरुतों को उत्पन्न किया।[229] गौओं की प्राप्ति के साथ विजय प्राप्त करने की प्रार्थना अथर्ववेद के इस प्रेरणास्पद मंत्र में मिलती है --

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥[230]

ऋग्वेद में भी गोजित् होने के लिए प्रार्थना की गई है।[231]

गौओं के व्रज

गौओं को बन्द करने के सुरक्षित स्थानों को व्रज[232] और गोष्ठ[233] कहा गया है। अथर्ववेद में[234] कामना की गई है कि स्तोता का भवन 'गोमती शाला' हो। इससे बलात् यह निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि घरों में गो आदि पशुओं के लिए अलग-अलग स्थान कल्पित किए हुए थे। ऋग्वेद में गौओं के व्रज बनाने की प्रेरणा दी गई है।[235] 'गो यज्ञ में देवों के लिए अपना शरीर तक अर्पित कर देती है। अतः उसे सुरक्षित गोष्ठों में रक्खा जाता है जहाँ वे प्रजावती बनें।[236] कल्याणकारिणी गौओं को (ऐसे) गोष्ठों में रक्खा जाता है जहाँ उनका उषःकाल के पूर्व दोहन किया जा सके।[237] व्रज में गौओं को रस्सी से बाँधा जाता है।[238] उनको हाँकने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला डण्डा अष्ट्रा कहा गया है।[239]

एक मंत्र में कहा गया है कि "इस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर क्यों जाते हो? कौनसा स्थान है ऐसा जहाँ गौएँ रमण नहीं करतीं?[240]" इससे व्यंजित होता है कि गौएँ हर जगह प्रसन्न रहती है।

अथर्ववेद में गोष्ठ के लिए कहा गया है कि इसमें एक ओर घास रक्खा है दूसरी ओर बछड़े सुरक्षित बँधे हुए हैं।[241] ऐसे गोष्ठ में-गौएँ वृद्धि को प्राप्त होती

---

228 अदधुर्गोषु वीरान्, ऋ० 3।31।10
229 ऋ० 1।168।9
230 अथर्ववेद 7।50।8
231 कृणुहि गोजितो नः। ऋ० 3।31।20
232 ऋ० 1।101।7;4।1।15;5।6।7 आदि
233 ,, 8।43।17;1।191।4;6।28।1 आदि
234 अवे 3।12।2;
235 व्रजं कृणुध्वम् 10।101।8
236 ऋ० 10।169।3
237 ऋ० 6।28।1
238 अवे 3।11।8
239 ऋ० 6।53।9; ऋग्वेद 4।57।4; 6।58।2 भी द्रष्टव्य
240 ,, 1।38।2 मंत्र से ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है कि स्तोता किसी विशेष स्थान को छोड़ कर जाना नहीं चाहता।
241 अयं घासो अयं व्रज इह वत्सा निबध्नीमः, अवे० 4 38 7

है।[242] एक मंत्र में गोष्ठ में गौएँ उत्पन्न करने के लिये वाचस्पति से प्रार्थना भी की गई है।[243]

गोचरभूमि

भारत में गोचारण को पवित्र व पुण्यदायक माना जाता है। गोचरभूमि छोड़ने का माहात्म्य भी स्वीकार किया गया है। राजस्थान में 'चरणोट' (चरने योग्य भूमि) राज्य की ओर से कृषि योग्य भूमि में से छुड़वाई जाती थी। ऋग्वेद में 'गोचर' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। पं० बलदेव उपाध्याय ने चरने के मैदान को 'गोष्ठ' माना है;[244] परन्तु यह कथन उचित नहीं जान पड़ता। गोष्ठ का अपभ्रंश रूप गोठ राजस्थान में अब भी प्रचलित है और गायों को बन्द करने के खुले (छप्पररहित) वाड़े के लिये प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद में गौओं के चरने के लिए अरण्य को उत्तम स्थान माना गया है जो गौओं की उपस्थिति से घर के समान (आनन्ददायक) प्रतीत होता है।[245] (गौओं से युक्त) अरण्य की शोभा का ऋग्वेद में बड़ा ही उदात्त वर्णन मिलता है। उसमें कहीं बैल की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, कहीं से चीं-ची ध्वनि आ रही है।[246] यदि कोई हिंसक प्राणी न आवे तो अरण्यानी से किसी प्रकार का भय नहीं, वह किसी का वध नहीं करती।[247] वह सभी पशुओं की माता के समान है।[248]

गायों के लिए पर्वत भी चरने योग्य स्थान होते हैं।[249] (अरण्य और पर्वतों पर प्रभूत औषधियाँ मिलती हैं जिनसे गौएं नीरोग या सुखी रहती[250] व उत्तम दुग्ध प्रदान करती हैं।[251] गायों को जौ अत्यन्त प्रिय होते हैं। एक मन्त्र में जौ खाती हुई गायों[252] व एक अन्य मन्त्र में जौ पकाने का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः प्रसूता गायों के लिए पकाये जाते थे जिससे वे क्षीणकाय न हों।[252अ] गायों के घास की ओर जाने का तो बहुधा उल्लेख मिलता है।[253] सम्भव है जौ या घास के

---

242 इह गावो प्रजायध्वम् अवे० 20।127।12 अवे० 13 1।19 की दृष्टि में इस मंत्र के इह का अर्थ गोष्ठ किया गया है।

243 गोष्ठे नो गा जनय, अवे० 13।1।19

244 वैदिक साहित्य और संस्कृति--पृ० 456

245 उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। ऋ० 10।146।3

246 वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। ऋ० 10।146।2

247 ऋ० 10 146।5 248 ऋ. 10।146।3

249 ऋ० 10।68 3; 8।3।19 इन मन्त्रों में क्रमशः बृहस्पति व इन्द्र द्वारा पर्वतों से गौएं निकालने का उल्लेख है। वृत्रादि द्वारा चारे आदि की सुलभता की दृष्टि से पर्वतों में गाएँ रखी जाती होंगी। अतः उपयुक्त अर्थ ग्रहण किया गया है। 250 अवे 8।7।25

251 10 73।9 252 10।27।8 तुलनीय 8।63।9

252अ ऋ० 1।135।8 यव पकाने की बात गौओं के प्रसूता होने (सुवते) के साथ कही गई है अतः उन्हीं के लिए पकाया जाना ध्वनित होता है।

253 ऋ० 1।91।13; 5।53।16; 8।92।12; 10।25।1

कृत्रिम चरागाह बनाये जाते हों। एक मंत्र में अप्रस्तुत के रूप में क्षेत्र (सम्भवत: कृत्रिम चरागाह) में विचरण करते हुए गोसमूह का उल्लेख मिलता है।[253अ] कदाचित् गोसनि इळा[255] (गोप्रदात्री भूमि–जहाँ पुष्ट गौएँ उत्पन्न होती हों।) भी कृत्रिम चरागाह ही हों।

'गव्यूती:' शब्द गोचरभूमि के अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है। एक मन्त्र में उपमान के रूप में गोचरभूमि को जाती हुई गायों का उल्लेख है।[256] 'गव्यूति' प्रदेश की रक्षा करके उसे भयरहित बनाने[257] और घृत (जल-सायण) से सींचने का[258] वर्णन भी मिलता है। यह स्थान पर्याप्त विस्तृत होता है।[259] अथर्ववेद में गोचरभूमि (खिल) में बैठी हुई गायों का उपमान के रूप में वर्णन है।[260]

'गोत्र'[261] पर्वतों से घिरे हुए कदाचित् ऐसे चरागाह हों जिनमें आर्यों के शत्रु उनकी गौओं को छुपा दिया करते थे। इन्द्र ऐसे निरोधस्थलों का पता लगा कर गोत्रों को तोड़ देता है। अत: उसे 'गोत्रभिद् भी कहा गया है।[161]

गौओं के पीने के लिए जल की व्यवस्था

चरागाहों की तरह गौओं के पानी पीने के लिए वर्षा से उत्पन्न प्रभूत जल

253अ ऋ० 5।2।4 254 ऋ० 10।106।10

255 ऋ० 3।1।23 गोसनि (सनि √षणु दाने से व्युत्पन्न) से निकले गो प्रदात्री अर्थ का यही भाव पृथिवी के साथ हो सकता है। वह गौओं को पुष्ट करने वाली हो।

256 गावो न गव्यूतीरनु- ऋ० 1।25।16
गव्यूती;-गो + ऊती:-गो का रक्षण करने वाली भूमि, गोचरभूमि-- (Pasturage Ground)। गोको० भाग 2 पृ० 15-पं० सातवलेकर भी देखें।

257 ऋ० 7।77।4; 9।78।5; 9।80।4 आदि

258 ,, 3।62।16;7।62।5; 8।5।6

259 उर्वी गव्यूति: ऋ० 5।66 3; 9।74।3, 9।85।8 आदि

260 खिले गा विष्ठिता इव--अवे० 7।115।4 (खिल का सायण ने व्रज ह्विट्ने ने बंजर और ग्रिफिथ ने सर्वभोग्या भूमि, अत: गोचरभूमि अर्थ किया है।

261 बल से गौओं के मोचन को इन्द्र और बृहस्पति का वीरकर्म माना गया है। इस का स्पष्ट उल्लेख ऋ० 2 23।18 में है–गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिर:। यद्यपि भाष्यकारों ने ऋ० 1।51।3 में गोत्र को मेघवाची माना है, तथापि इसे मत्रांश (2 23।18) में ग्रिफिथ ने गायों का स्थान---व्रज अर्थ किया है। प्रस्तुत वर्णन से भी 'गोत्र' गायों के छिपाने के स्थान का वाचक ही ठहरता है। ऐसे प्रदेश में चारे आदि की सुलभता का दृष्टि से यहां उसे 'गोचरभूमि' का वाचक लिया गया है। ऋ० 10।103।6—7 में गोत्र का ग्रिफिथ का अनुवाद भी देखें।

262 ऋग्वेद 2।23।3; 6।17।2; 10।103।6

से युक्त सुन्दर 'प्रपान' का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।[263] गायों को पिलाने के लिए एक मन्त्र में दिव्य जलों का आह्वान किया गया है।[264] एक अन्य मंत्र में गायों से प्रचुर प्राणतृप्तिकर (जीवधन्याः) जल पीने के लिए कहा गया है।[265]

गो का शरीर

गो के शरीर के समस्त अंगों का उल्लेख अथर्ववेद में ही मिलता है।[266] वहीं उसके शरीर को सर्वदेवमय भी कहा गया है।[267] ऋग्वेद में कुछ ही अवयवों का नाम उल्लिखित है। गौओं और बैलों के सींगों का उल्लेख मिलता है।[269] सींगों का उल्लेख बहुधा उपमान के रूप में मिलता है।[269] एक मंत्र में गो के एक, दो, चार, आठ व नौ पदों का वर्णन है।[270] एक अन्य मंत्र में गोधन के विशेषण 'पद्वत्' तथा 'शफवत्' प्रयुक्त हुए हैं।[271] शफयुक्त गोव्रज का उल्लेख भी मिलता है।[272] पर्जन्य के व्रत का पालन करते हुए खुरवाले (शफवत्) गो आदि पशु पुष्ट होते हैं।[273] वृषभ की ककुत् का भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।[275] गो के स्तनों[276] व ऊधप्रदेश[277] का भी उल्लेख हुआ है। गोचर्म का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

गो-शरीर को चिह्नित करना

ऋग्वेद में अष्टकर्णी (जिनके कानों पर आठ का अंक गुदा हुआ हो) गौओं का उल्लेख मिलता है।[278] संभव है अधिक गायों में से अपनी गाये ढूँढ निकालने के लिए ऐसे चिह्न अंकित किए जाते हों। अथर्ववेद मे भी लोहशलाका से पशुओं के कानों पर मिथुन चिह्न अंकित किये जाने की बात कही गई है;[279] किन्तु एक मंत्र में गौओं के कानों पर ऐसे चिह्न बनाने या कुरेदने को निन्दित ठहराया गया है।[280] उसे देवों से वियुक्त और अपने को हीन बनाने वाला कहा है। कान छेदने व अन्य

---

263 सुप्रपाणं भवतु अघ्न्याभ्यः। ऋ० 5।83।8

264 आपो देवीरूपह्वये यत्र गावो पिबन्ति नः। ऋ०1।23।18 अ.वे. 1।7।3

265 ऋ० 10।169।1

266 अथर्ववेद 10।9।13-25 (देवता-शतौदना)

267 अवे० 9।7।1-26 (देवता-गौः)

268 ऋ० 4।58।3; 8।60।13; 5।1।8; 7।55।7

269 ,, 5।59।3; 9।15।4

270 ,, 1।164।41 [यह वर्णन प्रतीकात्मक है जिसका अर्थ विस्तार आगे किया गया है।]

271 ऋ० 3।39।6 272 ऋ० 5।6।7 (हिन्दी ऋग्वेद)।

273 यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति—ऋ० 5।83।5

275 ऋ० 10 8 2; 10।102।7

276 ,, 10।120 8

277 ,, 10।172।1; 179।3 (हिन्दी ऋग्वेद)

278 ऋ० 10।62।7 [लम्बे कानों वाली-हिन्दी ऋग्वेद]

279 अवे० 6।141।2 280 अवे० 12।4।6

प्रकार के चिह्न बनाने के उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं।[281] इससे यही प्रमाणित होता है कि चिह्न गोदना यद्यपि प्रशस्त नहीं माना जाता था; परन्तु फिर भी लोग ऐसा करते थे।

कई वर्णों की गौएँ

अरुण वर्ण की गौएँ कदाचित् सर्वप्रिय रही हैं। ऋग्वेद में अरुणी गौओं का बहुधा उल्लेख मिलता है।[282] ऋग्वेद में गौरवर्ण की (गौरी) गो का वर्णन भी मिलता है।[285] गौओं को पृश्नि[286], सरूपा (एक रंग की)[287], विरूपा (अनेक रंग की)[288] भी कहा गया है। गो रूप में कल्पित उषा और किरण आदि को ऐनी (श्वेतवर्णा)[289], कृष्णा (काली)[290], रुशत् (स्वर्णिम रंग की)[291], रोहिणी (लाल रंग की)[292], अरुषी (दीप्तिवर्णा)[293] नामों से अभिहित किया गया है।

गो का वात्सल्य

ऋग्वेद में 'वत्स के प्रति गो के अभिगमन' को प्रेम का आदर्श रूप मान कर बहुधा उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया है।[294] एक मंत्र में रंभाती हुई, बछड़े की ओर जाती हुई, दुधारू गो का वर्णन मिलता है

> हिङ्कृण्वन्ती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाऽभ्यागात् ।
> दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ।[295]

गो के वत्स-प्रेम का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है

> यथा मांसं यथा सुरा, यथाक्षा अधिदेवने ।
> यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
> एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से निहन्यताम् ।।[296]

गो बड़े ही स्नेह से नवजात वत्स को चाटती है।[297] इसीलिए कामना की गई है कि गौएँ अपने बछड़ों से विरक्त न हो जाएं।[298] अथर्ववेद में मनुष्य मात्र को

---

281 मैत्रायणी संहिता–4।2।9 चिह्न-वंशी (कर्करिकर्ण्यः); हँसुआ (दात्रकर्ण्यः); खम्भा (स्थूणाकर्ण्यः); कान छेदना (छिद्रकर्ण्य)। पाणिनि की अष्टाध्यायी (6।3।115) में भी गायों को चिह्नित करने का उल्लेख मिलता है। तब तक यह प्रथा प्रचलित थी।

282 ऋ० 1।112।19 (यहां अरुणी गाय का पर्यायवाची माना गया है); 4।1।16;2।16;5।80।3; 10।61 4 आदि।

285 ऋग्वेद 1।164।41;1।84।10; 4।12।6;10।126।8 आदि।

286 ऋ० 1।84।11

287 ऋ० 1।169।2 (हिन्दी ऋग्वेद)

288 वही।

289 ऋ० 10।12।3;10।20।2

290 ऋ० 1।62।9

291 ऋ० 5।64।7

292 ,, 1।62।9

293 ऋ० 1।92।1 ; 2

294 ऋ० 2।2।2; 6।45।25; 8।88।1; 9।12।2; 9।13।7, 10।119।4 10।75।4 आदि।

295 ऋ० 1।164।27

296 अवे 6।70।1

297 ऋ० 1।186।7 यहाँ तरुणम् का अर्थ ऋ० 9।100।1 की दृष्टि में जातम् लिया गया है।

298 ऋ० 1।120।8

गो के वत्सप्रेम के समान, सांमनस्यपूर्वक परस्पर प्रीति करने का उपदेश दिया गया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातं इवाघ्न्या ।[299]

वत्स के साथ संयुक्त रहने से ही गो को सहवत्सा[300], वत्सिनी[301]; नित्य वत्सा[302] आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। स्वयं को वत्सवत् दीक्षित करके गो का वात्सल्य पाने वाले वत्स[303] व पुनर्वत्स[304] नामक ऋग्वेद के दो प्रसिद्ध ऋषि भी हैं।

गो दोहन

गौओं के सुदुघा[305], सबर्दुघा[306], कामदुघा[307], सूददोहस: (हौज भर क दूध देने वाली)[308], विश्वदोहस:[309], आदि विशेषण मिलते हैं। वात्सल्य के कारण उनके स्तनों से दूध स्वत: ही प्रस्रवित होने लगता है।[310] एक मंत्र में पृश्नि द्वारा तीन सरोवर भर कर दूध देने का उल्लेख मिलता है।[311] दुधारू गो की पुत्री भी वैसी ही दुधारू होती है।[312] कुछ गौओं के स्तनों में सदैव दूध रहता है उन्हें 'स्मदूध्नी'[313] कहा जाता है। पुष्ट स्तनों वाली सहस्रधाराओं में दूध देने वाली गाय 'अच्छिद्रोध्नी' कही गई है।[314]

दूध दुहने के लिए गो को पुकारा जाता है।[315] मधुर दूध देने के कारण ही गौएँ माध्वी कहीं गई होंगी।[316] इनका दोहन उत्तम कुशल हाथ हो कर सकते हैं—

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।[317]

गायों को तीन बार दुहने का उल्लेख मिलता है।[318]

---

299 अथर्ववेद 3।30।1 300 ,, 1।32।9

301 ऋ० 7।103।2 302 अवे 7।109।1

303 ऋ० 10।187; 8।6; 8।11 सूक्तों के ऋषि।

304 ,, 8।7 के ऋषि।

305 ,, 1।4।1; 1।164।26; 5।31।3 आदि।

306 ,, 1।134।4; 3।55।16; 6।48।11; 8।1।10 आदि।

307 अथर्ववेद 18।4।33 308 ऋ० 8।69।3

309 ऋ० 1।130।5; 6।48।13

310 प्रस्नातीरिवोस्रा:—ऋ० 8।75।8

311 ऋ० 8।7।10

312 ,, 3।55।12 (ग्रिफिथ का अनुवाद। पाटि० में उन्होंने और सायण ने इसे प्रतीक माना है)

313 ऋ० 1।73।6 (हिन्दी ऋग्वेद)

314 ,, 10।133।7 सायण ने मही को पृथिवी का वाचक माना है यह गो: का विशेषण है।

315 ऋ० 6।45।7

316 '' 1।90।8। अवे० 18।4।30 भी देखें।

317 '' 1।164।26

318 दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि—अथर्ववेद 4।11।12

कदाचित् वत्स को गो से संयुक्त करके दुहने के लिए प्रवृत्त होने का नाम संगव[319] हो। सायण ने भी संगव काल तक (दोपहर के पूर्व का समय) वत्स को गो के साथ रहने देने का उल्लेख किया है।[320] दूध दुहते समय उनको अच्छी घास डालने की बात भी कही गई है।[321] अथर्व के अनुसार अरुन्धती नामक ओषधि से गोदुग्ध बढ़ता है।[322] अत: उस को गौओं को प्रचुर मात्रा मे खिलाया जाता होगा। ऋग्वेद में गीत गाकर गौओं को सन्तुष्ट करने का भी कथन प्रतीत होता है।[323] जिससे प्रसन्न मुद्रा में वे प्रचुर दूध प्रदान करें। आधुनिक काल में संगीत द्वारा गौओं का दूध बढ़ाने के प्रयोग पश्चिमी देशों में हुए है। न दुही गई गायें (अदुग्धा धेनव:) झुक जाया करती थीं -शान्त हो कर दोहन करा लेती थीं।[324]

गोदान

धर्मपरायण भारतीय प्रत्येक पवित्र कार्य में गोदान को आवश्यक मानते हैं। ऋग्वेद में गोदान के अनेक प्रसंग उल्लिखित हैं। गोदान करने वाली वाणी को 'गोषाता गिर:।[325] कहा गया है। अथर्ववेद में भी एक मंत्र में गोदान में प्रवृत्त होने वाली वाणी के लिए आकांक्षा प्रकट की गई है--

गोसनिं वाचमुदेयम्[326]

ऋग्वेद में गोदाताओं मे श्रेष्ठ इन्द्र के लिए 'गोदा' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[327] उसे गोदाताओं का रक्षक (गोदत्र)[328] भी कहा गया है। इन्द्र के शत सहस्र गोदान का उल्लेख मिलता है।[329] वह गायों का यूथ ही दान कर देता है।[330] अन्य देवता भी गोदान करते हैं।[331] (देवताओं का अनुकरण करते हुए) स्तोता ऐन्द्र लव भी गोदान करने की अभिलाषा प्रकट करता है[332]। सभी गोदाताओं में

---

319 ऋग्वेद 5।76।3
310 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1।5।3।1 पर सायण भाष्य द्रष्टव्य
321 ऋ० 7।18।4 322 अवे० 6।59।2
323 ऋग्वेद 8।20 19 गा: स्त्रीलिंग भी है और पुल्लिग भी। सायण ने यून: वृष्ण: पावकान् का समान लिंग उपमान बनाने की दृष्टि से इसे 'बैल' का वाचक माना है। चर्क्षत् का 'पुन: पुन: कर्षण करने वाले' अर्थ ने भी इस में योग दिया होगा। ग्रिफिथ ने इसी का अनुसरण किया है। यहां 'गा:' को स्त्रीलिंग मानकर 'गाय' अर्थ करना अभीष्ट है। किसान गौओं के गुणों का भी कथन करते हैं।
324 ऋ० 7।32।22 325 ऋ० 8।84।7 326 अवे० 3।20।10
327 ऋग्वेद 1।4।2;4।22।10;5।42।8;8।45।19। पं० सातवलेकर ने इसे God के समकक्ष माना है--गोज्ञानकोश भाग 1 पृ० 280
328 ऋग्वेद 8।21।16। गोदत्र-गोदान् त्रायते इति गोदत्रः व्युत्पत्ति की दृष्टि में हिन्दी ऋग्वेद का 'गाय देने वाला अर्थ स्वीकार्य नहीं है।
329 ऋग्वेद 8।78।1
330 ऋग्वेद 1।81।7 (ददिर्यूथा गवाम्) ऋ० 10।2४।7 व 10।62।7 भी द्रष्टव्य
331 द्रष्टव्य--'गो व अन्य देवता' नामक अनुच्छेद
332 मे मनो ... ऋ० 10।119।1

श्रेष्ठ होने के आकांक्षी रहते हैं।[333] यज्ञ में गो दक्षिणा रूप में दी जाती है।[334] अतः गो का एक नाम ही दक्षिणा प्रयुक्त हुआ है।[335]

ऋग्वेद में बीस गायों[337]; सौ गायों,[338] एक सौ बीस गायों,[339] दो सौ गायों,[340] सैंकड़ों हजारों गायों,[341] चार सहस्र गायो[342] तथा दस हजार गायो[343] के दान का उल्लेख मिलता है। देवातिथि को साठ सहस्र गो समूह दान में प्राप्त हुए थे,[344] जिस पर वृक्षों ने भी हर्ष ध्वनि की।[345] एक मंत्र में बछड़े दान करने का उल्लेख[346] किया गया है। अश्वमेध में 100 वृषभ दान करने का वर्णन है। गोदाता अग्नि के प्रिय होते हैं।[348]

गो बेचने व अयज्ञशील को देने का निषेध

धर्मप्राण हिन्दू अपने परिवार की गो को बेचना अनुचित समझते हैं। इसका कारण गो को परिवार का अभिन्न अंग मानने के अतिरिक्त यह आशंका भी ज्ञात होती है कि सम्भवतः दूसरा उसकी वैसी देखभाल न करे। यह विचार अति प्राचीन काल से चला आया ज्ञात होता है। ऋग्वेद में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह किसी पणि (व्यापारी एवं अयज्ञशीलजन) को गौएँ न दे।[350] पणियों को गायें क्यों न दी जायें ? इस प्रश्न का उत्तर एक अन्य मन्त्र के सन्दर्भ में स्पष्ट होता है जिसमें इन्द्र से प्रार्थना की गई है—'हे इन्द्र, हमें गो देने में पणि (कंजूस) न बनना।'[351] इस मन्त्र से प्रकट होता है कि अयज्ञशील पणि (व्यापारी)

---

333 दिविष्याम पार्ये गोषतमाः ऋग्वेद 6।33।5

334 दक्षिणा गां ददाति—ऋग्वेद 10।107।7

335 ऋ० 10।107।7 दक्षिणां वर्म कृणुते से ज्ञात होता है कि इस मंत्र के प्रथम भाग दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति में भी दक्षिणा पद अश्वम् और गाय का समानाधिकरण है। ऐसी स्थिति में दक्षिणापद प्रदत्त गाय का भी वाचक ठहरता है। कठोपनिषद् 1।1।3 पीतोदका जग्धतृणा की दृष्टि में 1।1।2 के तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा विवेश में दक्षिणा स्पष्टतः ही गोवाची है।

337 ऋग्वेद 6।27।8

338 ऋग्वेद 1।122।7,1।126।2,5।52।17,5।61।10,6।47।24, 7।103।10

339 ऋग्वेद 5।27।2 340 ऋग्वेद 7।18।22

341 ऋग्वेद 5।30।13,8।34।14,8।51।2,8।78।1

342 ऋग्वेद 5।30।12,14,15

343 ऋग्वेद 8।1।33 (यहाँ गोपद न होने पर प्रकरणबल से अनुमेय है। 8।5।37,8।6।47,8।46।22

344 ऋग्वेद 8।4।20, 345 ऋग्वेद 8।4।21

346 " 8।70।14 348 " 7।16।7

350 " 8।97।2 (पणौ मा धेहि)

351 पणिः मा भू— ऋग्वेद 1।33।3

गोदानादि धार्मिक कृत्यों के प्रति उदासीन व कंजूस होते हैं। अतः वे धार्मिक अनुष्ठानों में गो का उपयोग न करके व्यापारिक दृष्टि से उनके साथ क्रूरता बरतेंगे, ऐसा समझकर उन्हें गो देने का निषेध किया गया ज्ञात होता है।

यज्ञादि क्रियाओं में विनिमय का साधन गो--

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि "ऐसा कौन है जो इन्द्र (की मूर्ति) को दस गौएँ देकर खरीद रहा है।[352] इस उल्लेख से प्रमाणित है कि देवविग्रह क्रय करने में गो विनिमय का माध्यम थी। एक अन्य मन्त्र में भी गो को इसी प्रकार विनिमय का साधन माना गया मालूम पड़ता है। वहां इन्द्र को खरीदने के लिए सौ, हजार या दस हजार (गौओं) को भी पर्याप्त नहीं माना गया है।[353] ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम खरीदने के लिए सोमक्रयणी गो[354] का उल्लेख भी मिलता है। धर्म कार्यों के अतिरिक्त अन्यत्र गो के ऐसे उपयोग का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता। ऐतिहासिक काल में भी यज्ञ के लिए ही गो देकर शुनःशेप को खरीदा गया था[354अ]। अनुदार व्यापारियों (पणियों) को गो न देने की बात से तो यही सिद्ध होता है कि गो सम्भवतः केवल यज्ञादि कार्यों में ही विनिमय का माध्यम थी।

गो से यश प्राप्ति

ऋग्वेद में गौओं की ऋद्धि को ही समृद्धि कहा गया है।[355] इसीलिए स्तोता गौओं को प्राप्त करके मनुष्यों में यशस्वी होने की कामना करता है--

गोभिः ष्याम यशसो जनेषु।[356]

अतः ऋग्वेद में गो को यश प्राप्ति का साधन माना गया है।

गौओं के लिए मंगलकामना—

ऋग्वेद की उपर्युक्त साक्षी से प्रकट है कि गो और उससे प्राप्त होने वाले पदार्थ जीवन के अंग बन गए हैं। अतः गो के लिए स्तोता बारम्बार मंगल कामना करता है। वह ओषधियों से द्विपदों और चतुष्पदों को नीरोग रखने की प्रार्थना करता है,[357] विवाहिता वधू से चतुष्पदों के लिए सुखकारिणी होने की अपेक्षा रखता है[358] और कपोत से कहता है कि वह गो को सुख दे, उसको हिंसित न करे।[359] ऋग्वेद में सविता,[360] अश्विनौ द्वय,[361] रुद्र,[362] सोम-रुद्र,[363] आदित्यगण[364]

---

352 क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति—ऋ० 4।24।10

353 महे च न त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघम्॥ऋ० 8।1।5

354 ऐतरेय ब्राह्मण 5।2 तथा शतपथ ब्राह्मण 3।2।6,1—18 भी देखें।

354(अ) वाल्मीकि रामायण 1।61।13

355 ऋग्वेद 2।30।5 अस्मां अर्द्धं (समृद्धम्) कृणुतादिन्द्र गोनाम्।

356 ऋग्वेद 10।64।11

357 ऋग्वेद 10।97।20

358 " 10।85।43,44

359 " 10।165।3 मं० 1 भी देखें

360 " 5।81।2

361 " 8।5।20,1।157।3

362 " 1।43।6,1।114।1

363 " 6।74।1

364 ऋग्वेद 8।47।12

सोम,[365] इन्द्रादि[366] देवताओं से भी द्विपदों, चतुष्पदों और गायों के लिए मंगलकारी होने की प्रार्थना की गई है।

मंगलकारिणी गो

गो स्वयं मंगलकारिणी है। अदिति-गो से व्रतों सहित सुखकारिणी होने की प्रार्थना की गई है।[367] अन्यत्र देवों से रक्षित पृश्नि से मंगलकारिणी होने के लिए कहा गया है।[368] गायों से सुखकर[369] व मधुयुक्त[370] होने की भी अपेक्षा की गई है। यह भी प्रार्थना की गई है कि गो मंगलकारिणी हो।[371]

वृषभ

गो के विषय में किया गया उपर्युक्त विवेचन वृषभ पर भी घटित होता है। अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरुण आदि के विशेषण के रूप में भी 'वृषभ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[374]

ऋग्वेद में वृषभ को कोई सूक्त संबोधित नहीं किया गया। एक सूक्त का ऋषि वैराज ऋषभ है।[374] इस सूक्त में वृषभ को समान शत्रुओं का विजेता, हन्ता, विराज् और गौओं का गोपति कहा गया है।

वृषभ की कृषि कर्म में उपयोगिता

ऋग्वेद के एक मंत्र से गौओं या वृषभों की सहायता से कृषक द्वारा जौ का खेत जोते जाने की सूचना मिलती है।[375] अथर्ववेद में भी श्रम करके कृषक का हित साधन करने वाले अनड्वान् का उल्लेख मिलता है।[376]

रथ में वृषभ को जोतना

ऋग्वेद में रथ में वृषभ जोतने का उल्लेख भी मिलता है।[377] रथ की उपयोगिता कदाचित् युद्धादि में रहती होगी। सामान्यतया साधारण गाड़ी का ही प्रयोग होता है। ऋग्वेद में गाड़ी में वृषभ जोतने का उल्लेख भी मिलता है।[378]

गौओं के समूह में वृषभ

अथर्ववेद में वृषभ को वत्सों का पिता व अघ्न्या का पति कहा गया है।[379]

---

365 ऋग्वेद 9।11।3,7;61।15, 9।69।7

366 ऋ० 8।68।13

367 ऋग्वेद 7।35।9 शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः।

368 ऋग्वेद 7।35।13 शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः।

369 शमु सन्तु गावः—ऋ० 7।35।12

370 माध्वीर्गावो भवन्तु नः। ऋग्वेद 1।90।8

371 ऋ० 10।105।10 श्रिये ते पृश्निः।

373 'गो तथा अन्य देवता' अनुच्छेद द्रष्टव्य।

374 ऋग्वेद 10।166 यहाँ वृषभ अथर्ववेदीय अनड्वान का प्रतिरूप प्रतीत होता है।

375 गोभिर्यवं न चर्कृषत्–ऋग्वेद 1।23।15 तुलनीय 1।176।2

376 अथर्ववेद 4।11।10

377 रथं न गावः समनाह पर्वसु। ऋग्वेद 8।48।5

378 ऋग्वेद 5।27।1,10।59।10

379 अथर्ववेद 9।4।2

ऋग्वेद में गोयूथ में बैठे हुए या विचरते हुए वृषभ का वर्णन मिलता है।[380] उसके अप्रतिम बल[381] व रव[382] का उल्लेख भी मिलता है। वृषभ अपने तीखे सींगों (तिग्मश्रृंग) से भयंकर दिखाई पड़ता है।[383] उसके भीषण क्रोध को भी संकेतित किया गया है।[384] एक मंत्र से पता चलता है कि वृषभ को यज्ञ में छोड़ दिया जाता था।[385] आजकल भी देवल साँड या सूरज साँड छोड़े जाते हैं।

380 ऋग्वेद 1।58।5,9।110।9

381 ऋ० 3।53।18 इन्द्र से अनड्वान में बल भरने की प्रार्थना की गई है। इससे अनड्वान में इन्द्र का बल पाया जाने की बात व्यंजित होती है।

382 ऋ० 10।86।15 (रोरुवत् का प्रयोग), 10।75।3 भी देखें।

383 ऋग्वेद 10।86।15 वृषभ के भीमत्व के लिए तुलना करें--
5।56।3,8।70।3

384 वृषमेव मन्युना ऋ० 6।46।4

385 यद्यपि सायण ने यहाँ 'अवसृष्टास:' का अर्थ आहुति रूप दिये गए लिया है तथापि अन्य स्थलों पर उसने इसका अर्थ मुक्त किए, छोड़े गए अर्थ लिया है शब्द के धातु से भी यही भाव प्राप्त होता है। √सृज धातु का अर्थ सृष्टि है। जिसमें पदार्थों के तत्वों को एक व्यवस्था में बांधा जाता है। अव उपसर्ग लगा इसके विपरीत भाव प्रकाशित किया गया है। अत: जो पशु पहले यज्ञ में श्रेणी बद्ध किए हुए थे वे अब मुक्त किए जाते हैं ऐसा भाव प्रतीत होता है। अपि च सायणादि के पशुओं के हिंसापरक अर्थ वैदिक भावनाओं के अनुकूल प्रतीत नहीं होते।

चतुर्थ अनुच्छेद : गो-देवता

ऋग्वेद में मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने एक सूक्त को पूर्ण रूप से, एक को आंशिक रूप से और ३ सूक्तों का वैकल्पिक रूप से गो में अर्थ के स्वामित्व की इच्छा से स्तुति के रूप में प्रयुक्त किया है। इस तरह गो भी ऋग्वेदिक देव परिवार की सदस्या बन गई है।[1] गो के सूक्त संख्या में कम और मंत्र संख्या की दृष्टि से लघुकाय हैं फिर भी सभी देवताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण[2A] गो को देवता के रूप में भी अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि इन छोटे २ सूक्तों में भी गो की वे समस्त विशेषताएं आ गई हैं जिनसे गो को देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध गो सूक्त का भाव इस प्रकार है—

सुखकर वायु बहे गौओं की ओर
बलकारी औषधि का भक्षण करें नित्य ही ढोर,
प्राण-तृप्ति-कर, पोषक जल का करें नित्य ही पान,
रुद्र ! पद्वती, अन्नस्वरूपा को सुख का दो दान।१।

विविध, रूप में एक, जान पड़ती हैं सभी समान,
अग्नि, यज्ञ द्वारा उनके नामों को जाते जान।
जिनका तप से किया अंगिरा-सन्तति ने निर्माण
हे पर्जन्य ! महत्सुख का दो, उनको जी भर दान।२।

देवों के हित निज शरीर गौओं ने किया प्रदान
सोम सफल रूपों की, उनके, रखते हैं पहचान ;
उन्हें दुग्ध से पूर्ण करो औं दो सुन्दर सन्तान
इन्द्र ! भेज दो रिक्त गोष्ठ में, यह दो हमको दान। ३।

पितरों और सभी देवों की सम्मति का कर मान
मुझे प्रजा-पालक स्रष्टा ने दिया धेनु का दान।
कल्याणी गौओं को व्रज में पहुंचाओ हे देव !
गोसन्तति का जिससे होता रहे वहाँ विस्तार। ४।[2B]

इस सूक्त से गो के विषय में निम्न प्रकार की जानकारी मिलती है—

(1) अंगिरा की सन्तानों के तप से गौओं की सृष्टि हुई है।

(2) देवों और पितरों से परामर्श करके प्रजापति ने इन गौओं को मनुष्यों को दिया है।

---

1 देवता का लक्षण—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां आर्थपत्यं इच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। निरूक्त 7।1 तुलनीय बृहद्देवता–1।6

2A 'गो और अन्य देवता' शीर्षक अनुच्छेद में यह सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है

2B ऋग्वेद १०।१६९।१-४ का पद्यानुवाद

(3) गौओं ने अपने शरीर को (यज्ञ में) देवों के लिए समर्पित किया है।

(4) यज्ञ द्वारा अग्नि गौओं के नामों को जान जाता है और सोम उनके रूपों को जानता है।

(5) वे सरूपा, विरूपा और एकरूपा हैं।

(6) रुद्र और पर्जन्य उन्हें सुख प्रदान करते हैं।

(7) उन्हें दुग्ध से परिपूर्ण करने वाला इन्द्र है। वह उन्हें सन्तानों से युक्त बनाकर स्तोता के गोष्ठ की ओर प्रेरित करता है।

(8) गौएँ मंगलकारिणी होती हैं। उनकी सन्तानें भी सुख प्रदान करने वाली होती हैं (वयं प्रजया सं मदेम)। तथा

(9) वे ऊर्जस्वती ओषधियों का भक्षण करती व पोषक जल का पान करती हैं। सुखकारी वायु उनके लिए भी आवश्यक है।

उपर्युक्त बातों में से कुछ सामान्य हैं (यथा ८ वीं व ९ वीं); कुछ उनका सम्बन्ध देवताओं से स्थापित करती हैं (यथा ६ठी व ७वीं) और कुछ उनके विशेष स्वरूप की ओर संकेत करती हैं (यथा १ म, २ य, ४ थ व ५ म)। ये सभी बातें आगे गोतत्त्व पर विचार करते समय सहायक होंगी।

ऋग्वेद का एक अन्य सूक्त छठे मण्डल का है जिसके आठ मंत्रों में से छह की देवता गो है और दो की गो अथवा इन्द्र। गो देवता के मंत्र इस प्रकार हैं—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसः दुहानाः। १
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह। ३
न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः। ४
गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्। ५
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु। ६
प्रजावतीः सुयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः। ७[3]

इन मंत्रों से निम्न बातों की ओर ध्यान जाता है—

1 सन्ततियुक्त गौएँ सुन्दर जौ आदि का भक्षण करतीं व सुखप्रद प्रपा का निर्मल जल पीतीं हैं।

2 वे घरों में रहती हैं, कल्याण करती हैं और गोष्ठ में बैठती हैं, (सम्भवतः गोष्ठ घर के निकट उसका अभिन्न अंग होता हो)।

3 वे नष्ट न हों, चुराई न जायँ, शस्त्र से आहत न हों, न उन्हें हिंसक जन्तु मारें—इत्यादि बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

3 ऋ० 6।28।1, 3—7

4 वे बहुत से रूपों वाली होती हैं।

5 गौओं से देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है और उनके निमित्त उनका दान भी किया जाता है।

6 इन्द्र गौओं का स्वामी (-गोपति) है। वह उनके साथ रहा करता है (ताभि: सह गोपति: सचते)। उसके लिए उषाकाल में गौएँ दुग्ध प्रदान करती हैं।

7 यज्ञकर्त्ता की गौएँ निर्भय होकर स्वच्छन्द विचरण करती हैं। न उन्हें युद्धार्थ आने वाले अश्व प्राप्त करते हैं और न वे संस्कारों (विशसनादि-सायण) के स्थानों को ही प्राप्त होती हैं।

8 गौएँ ऐश्वर्यरूपा होती हैं। इन्द्र गौएँ प्रदान करता है।

9 इन्द्र स्वयं गोरूप है जिसकी मन और हृदय से कामना की जाती है।

10 गौएँ पुष्टि प्रदान करतीं व क्षीण और अमंगल अंग को सुन्दर बनाती हैं। उनके पुष्टिकर अन्नों की सभाओं में प्रशंसा होती है।

11 रुद्र का शस्त्र (हेति) उनसे दूर ही रहता है।

यहाँ और कुछ बातें तो प्रथम कहे गये सूक्त के समान ही हैं तथा कुछ विशेष ये हैं—गो का पुष्टिकर अन्न, इन्द्र का गोपति रूप, इन्द्र व गो की अभिन्नता। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में भी इन्द्र को गोरूप कहा गया है।[4] कदाचित् इसी अभिन्नता के कारण गो यज्ञ में इन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है (जैसा कि आगे यज्ञ और गौ का विवेचन करते समय स्पष्ट किया जायगा)।

इन्द्र और गो की अभिन्नता को दृष्टिगत रखते हुए ही इस सूक्त के २ मंत्रों में इन्द्र व गो विकल्प से देवता के रूप में स्तुत हुए हैं। ये मंत्र निम्नलिखित हैं—

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वयं मुषायति।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम्।[5]
उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।[6]

इन मंत्रों के अनुसार इन्द्र (अथवा इन्द्ररूपा गो) याजक और स्तोता को अभीष्ट धन तो प्रदान करता ही है, उनके अपने धन को कभी नहीं लेता। उसे बढ़ाता ही रहता है। देवाभिलाषियों को वह शत्रुओं द्वारा दुर्भेद्य स्थान में स्थापित करता है। गौओं की पुष्टि और वृषभों की सेचन सामर्थ्य से इन्द्र का बल बढ़ता है और वह तृप्त होता है। यहां गो के दानगुण का उल्लेख है जो देवत्व का आवश्यक लक्षण है।[7]

ऋग्वेद के दो मंत्र, जो गो की अहिंसनीयता तथा ग्राह्यता को प्रमाणित करते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि:।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।[8]

---

4 गोरसि वीर गव्यते—ऋग्वेद 6।45।26

5 ऋ० 6।28।1 6 ऋ० 6।28।8

7 देवो दानाद्–निरुक्त 7।4।2 8 ऋ० 8।101।15

वचोविदं वाचमुदीरयन्ती विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्य: पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता: ।[9]

इन मंत्रों से गो विषयक निम्न जानकारी मिलती है—

(1) रुद्रों की माता

रुद्र मध्यमस्थानीय :देवगण है और मरुतों से पितृत्व भाव से सम्बद्ध है । गो को इनकी माता के रूप में बतलाकर गो की अन्तरिक्षीय स्थिति को संकेतित किया गया है ।[1]

(2) वसुओं की दुहिता

वसुओं का पार्थिव-गण है, जिनमें अग्नि प्रधान हैं । इनसे दुहितृत्व का सम्बंध सिद्ध होता है ।[11]

(3) आदित्यों की स्वसा

यहाँ द्यु स्थानीय आदित्यगण से गो का स्वसृत्व का सम्बन्ध उल्लिखित है ।

ये तीनों सम्बन्ध एक ही अग्नि के साथ माने जा सकते हैं जो तीन स्थानों (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक) पर तीन रूपों में व्याप्त होता है ।

(4) अमृत की नाभि

नाभि केन्द्रस्थान का नाम है । अमृत की नाभि के रूप में गो का सूक्ष्म, रहस्यात्मक स्वरूप संकेतित है ।[12] देवताओं को अमृत-स्वरूप माना जाता है । संभव है देव-शक्तियों की अमरता का का कारण अमृत की नाभि रूप गो ही है ।

(5) अहिंसनीया गो

'अनागामदितिं मा वधिष्ट' कह कर उपर्युक्त मंत्र में गो की अहिंसनीयता प्रतिपादित की गई है ।

(6) गोज्ञान के पात्र बुद्धिमान्

गो सम्बन्धी उपर्युक्त बातों का ज्ञान सुपात्र के लिए है । इसीलिए स्पष्ट कह दिया गया है—चिकितुषे जनाय प्रवोचम्' । इस उल्लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि मंत्र के पदों में सूक्ष्म अर्थ निहित है जिसे बुद्धिमान् चिन्तन, स्वाध्याय, साधना और तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा ग्रहण का सकते हैं ।

(7) दिव्य गुण सम्पन्न गो

'देवी गो' (देवीं गाम्) शब्द से गो की दिव्यता का पता चलता है । देवताओं के साथ संयुक्त होने से तो उसे देवी कहा गया है, साथ ही उसकी दिव्य प्रकृति का स्वतंत्र रूप से विकास भी सूचित होता है । 'देवेभ्य: पर्येयुषीं'[13] पदों से भी उसके दिव्यभाव का पता चलता है ।

---

9 ऋग्वेद 8।101।16

10 रुद्र व गो का सम्बन्ध 'गो व अन्य देवता' अनुच्छेद में विस्तार से द्रष्टव्य ।

11 'गो, व अन्य देवता' अनुच्छेद द्रष्टव्य

12 विस्तार से देखें 'रहस्यमयी गो' अनुच्छेद ।

13 अर्थ—देवताओं के प्रति स्तोता को शासन करने वाली ।

(8) अपरिवर्जनीया गो

यज्ञादि में उपयोगिता आदि को देखते हुए गो संग्राह्या मानी गई है। यहाँ भी कहा गया है कि केवल छोटी बुद्धि का (दभ्रचेता) व्यक्ति ही गो को परिवर्जित करता है।

(9) गो देवी का वाक्संयुक्त रूप

'वचोविदं' और 'वाचमुदीरयन्ती' पदों से गो का सम्बन्ध वाक् से ध्वनित होता है, जिससे उसे अभिन्न माना गया है।[14]

(10) धी —धारण कर्मों से गो का सम्बन्ध

'विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्' वाक्यांश से गो का समस्त धारण-कर्मों (धीः) से सम्बन्ध प्रकट होता है। यज्ञ की प्रतिष्ठा गो है।[15] इस परवर्ती विचार का उत्स इस उपर्युक्त वाक्यांश में देखने को मिलता है जिसमें √ धा धातु से व्युत्पन्न 'धी' शब्द के साथ √ स्था धातु का प्रयोग भी हुआ है।

आपो देवी का विकल्प गो देवता

ऋग्वेद के एक सूक्त[16], जिसमें कुल 8 मंत्र हैं, के यमपुत्र मथित या वरुण पुत्र भृगु या भृगु पुत्र च्यवन ऋषि है और वैकल्पिक रूप से देवता हैं गो या आपो देवी। आपो देवी और गो की अभिन्नता[17] परवर्ती साहित्य में स्वीकार की गई है। इस सूक्त से गो के विषय में निम्न तथ्यों की ओर ध्यान जाता है—

(1) काम्या गो

दुग्धादि कमनीय या काम्य[18] पदार्थों की प्रदात्री होने से गो की कामना की जाती है। इस सूक्त का यह मन्त्र, चारों दिशाओं से गौओं की प्राप्ति हो, स्तोता की इस उत्कट अभिलाषा का सूचक है—

आ निवर्तन वर्तय निवर्तन वर्तय।
भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना निवर्तय ॥[19]

गो कामनाओं का दोहन करने वाली[20] है तो दिव्यजल (आपो देवी) भी जीव को आप्यायित करने वाले (जीवधन्याः)[21] हैं। जीवन से दोनों का सम्बन्ध

---

14. वाग्वै धेनुः—तांड्य महाब्राह्मण 18।9।21; गोपथ पू० 2।21 शतपथ 14।8।9।1 आदि।
15. गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः–महाभारत अनु०-पर्व 78।7-8
16. ऋग्वेद 10।19
17. आपो वै धेनवः-कौ० ब्रा० 12।1 यदापो अघ्न्या इति—अथर्ववेद 19।43।9 यजुर्वेद वा० सं० 20।18 शतपथ 12।4।4।4
18. ऋग्वेद 5।19।4
19. ऋग्वेद 10।19।8
20. ऐतरेय ब्राह्मण 26।3
21. ऋग्वेद 10।30।14; 10।169।1

होने के कारण ही इस सम्पूर्ण सूक्त के देवता के रूप में गो व दिव्यजल दोनों विकल्प से स्वीकार किए गये हैं।

(2)गो की देवताओं से यज्ञ में उपलब्धि

घृत व दुग्ध बलकारी हैं। यज्ञ में घृत, दुग्धादि के रूप में साक्षात् शक्ति ही संयुक्त करने पर देवगण गोधन प्रदान करते हैं—

परि वो विश्वतो दध ऊर्जा घृतेन पयसा।
ये देवा: के च यज्ञियास्ते रय्या संसृजन्तु न: ।[22]

(3) इन्द्र से गो-याचना

इन्द्र गोदाता के रूप में प्रसिद्ध है ।[23] स्तोता इसीलिए उससे गो प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। इन्द्र द्वारा प्रदत्त गौओं का वह आत्मा से उपभोग करना चाहता है—

आ निवर्त निवर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि।
जीवाभिर्भुनजामहे ।।[24]

(4) गोरक्षक की सुरक्षा की कामना

गौओं का रक्षक गायों को खोजता है, चरागाह में चराता है और उन्हें सुरक्षित घर पर ले आता है। गायों की सुरक्षा के लिए इस प्रकार व्यवस्था करने वाले गोपाल की सुरक्षा की कामना करता हुआ स्तोता चाहता है कि वह कुशलता-पूर्वक गौओं सहित घर लौट आवे--

य उदानड् व्ययनं य उदानड् परायणम्।
आवर्तनं निवर्तनमपि गोपा निवर्तताम् ।।[25]

उसका भी आह्वान यज्ञ में किया जाता था—

गोपा अपि तं हुवे ।[26]

(5) गो की विविध गतियाँ

गो के धात्वर्थ 'गति' का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ एक मंत्र में उसकी गोष्ठ में गति (नियानं), गृह में गति (न्ययनं), स्तोता से मिलन के लिए गति (संज्ञानं), गोचर भूमि की ओर गति (परायणं) और पुन: लौटने के रूप में गति का उल्लेख मिलता है ।[27] स्तोता इन सभी गतियों का आह्वान करता है।

(6) गोधन का संरक्षक अग्नि

"गाएँ लौटें और गोस्वामी के पास पुष्टि लाभ करें। सम्पत्ति के रूप में वे रहें और अग्नि उनका वहीं (स्वामी के पास) संरक्षण करें।"[28] स्तोता अग्नि को

---

22 ऋग्वेद 10।19।7
23 ऋग्वेद--1।4।2; 3।30।21; 4।22।10; 8।45।19 आदि
24 ऋग्वेद 10।19।6 इन्द्र एना नियच्छतु--ऋ० 10।19।2
25 ऋग्वेद 10।19।5
26 ऋग्वेद 10।19।4
27 ऋग्वेद 10।19।4 (राम गोविन्द त्रिवेदी--'गो सम्मेलन की प्रार्थना')
28 ऋग्वेद 10।19।3

संरक्षक मान कर उपर्युक्त बात कह रहा है। वह यह भी जानता है कि अग्नि ही गौओं को उपयोगिनी बनाता है।[29]

(7) बार-बार गोधन देने वाले अग्नीषोम

अग्नि और सोम के लिए संयुक्त रूप से 'पुनर्वसू' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है--'बार-बार धन देने वाला।' वे जिस धन को देते हैं वह गौओं का है जिनके विषय में स्तोता कहता है--गौओ ! हमारे निकट आओ, हमसे पृथक् होकर किसी अन्य व्यक्ति के पास मत जाओ।[30]

गो और उसके अग्नि, सूर्य, जल तथा घृत विकल्प

ऋग्वेद के एक सूक्त[31] का देवता विकल्प से गो। अग्नि, सूर्य, बल या घृत स्तुति है। सूक्त में जगती व त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुए हैं। जगती छन्द का सम्बन्ध आदित्य से तथा त्रिष्टुप् का इन्द्र से माना गया है।[32] अतः सूक्त से इनका सम्बन्ध होना चाहिए। इन्द्र और गो अभिन्न होने से[33] इन्द्र को भी सूक्त का देवता माना जा सकता है। आदित्य अग्नि का ही द्यु स्थानीय रूप है। अन्तरिक्षस्थानीय गो या इन्द्र का सम्बन्ध जल से तथा द्यु स्थानीय आदित्य का सम्बन्ध तेज से है। तेज का नाम घृत भी है।[34] अतः यहां इन सबको पर्याय मान लिया गया ज्ञात होता है। पूरा सूक्त व उससे संकेतित विचार सूत्र इस प्रकार है--

(1) गोः समुद्र से उत्पन्न रश्मि (ऊर्मि)

इस सूक्त में समुद्र से उत्पन्न ऊर्मि का उल्लेख मिलता है जिसे अमृतत्व प्रदान करने वाली रश्मि भी कहा गया है।—

समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारदुपांशुनां सममृतत्वमानट्।[35]

रश्मि का नाम गो भी है।[36] अतः समुद्र से उत्पन्न होने वाली तथा अमृतत्व की कारणभूता रश्मि ही गो है। उपर्युक्त समुद्र को हृद्य समुद्र कहा गया है जिसे शत्रु नहीं देख पाते।[37]

---

29 अग्निरेना उपाजतु--ऋ० 10।19।2

30 इस मन्त्र का देवता 'गावः' है। ऋ0 10।19।1

31 ऋग्वेद 4।58

32 यास्क–निरुक्त 7।3।3-5

33 ऋग्वेद 6।28।5--इमा या गावः स जनास इन्द्रः। तथा—गाव इन्द्रो मे अच्छान्।

34 घृतं तेजः, तैत्तिरीय आरण्यक 3।12--सायण ने स्वतः दीप्तिमान् होने से घृत-- (√घृ--क्षरणदीप्त्योः धातोः) का अर्थ ब्रह्म भी किया है--तैत्तिरीय आरण्यक 10।10 का भाष्य।

35 ऋग्वेद 4।58।1

36 निघण्टु 1।5

37 ऋग्वेद 4।58।5

(2) घृत का गुह्य नाम व गुह्यरूप

देवताओं के जिह्वा स्वरूप तथा अमृत की नाभि इन विशेषणों से विशिष्ट घृत के गुह्य नामों का उल्लेख भी सूक्त में मिलता है, जो यजमान द्वारा स्तुत्य है और उसे यज्ञ में नमस्कार द्वारा अथवा अन्न द्वारा (नमोभिः) अथवा मन से[38] धारण किया जाता है। उसके लिए उच्चारित स्तवों को परिवृद्ध (घृत से परिवृद्ध) देव सुनते हैं। उपर्युल्लिखित रश्मि (गो) की दीप्ति ही यहाँ घृत कही गई ज्ञात होती है–

> घृतस्य ना गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः । 1 ।
> वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्यज्ञे धारयामा नमोभिः ।
> उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानम्..............................। 2 ।[39]

कहा गया है कि "इस घृत को पणियों द्वारा तीन रूपों में गो में गुप्त रूप से रक्खा गया है जिसे देवता प्राप्त कर लेते हैं। घृत के तीन रूपों में से एक को इन्द्र तथा दूसरे को सूर्य ने उत्पन्न किया और तीसरे रूप को स्वधा (अन्न—सायण) द्वारा वेन (वायु) ने उत्पन्न किया।[40]

(3) घृत की धाराएँ

इस सूक्त में घृत की धाराओं का उल्लेख भी मिलता है। कहा गया है कि 'मैं घृत की धारा को और उस के मध्य में निविष्ट हिरण्यरूप अग्नि (--सायण) को देख सकता हूँ।'[41] 'प्रीणयित्री नदी के समान वे (घृतधाराएँ) क्षरित होती हैं और हृदय और मन द्वारा पवित्र हैं। घृत की ऊर्मि प्रवाहित होती है जैसे व्याधे को देख कर मृग भाग जाते हैं।'[42]

(4) घृतधाराओं का लक्ष्य—अग्नि व सोम

घृत की धाराएँ अग्नि की ओर वैसे ही गति करती हैं जैसे कल्याणी, हास्य-वदना योषित् एकचित्त होकर पति में आसक्त होती हैं। ये घृतधाराएँ दीप्तिप्रद होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं। तृप्तिलाभ करके अग्नि इन धाराओं की कामना किया करते हैं।[43]

घृतधाराएँ, यज्ञ में पति के निकट जाने के लिए वेश-विन्यास करने वाली कन्या के समान, सज्जित होकर, सोमाभिषव के स्थान पर यज्ञ के अभिमुख होकर गमन करती हैं।[44]

(5) स्तुत्या गो के कार्य

गो कल्याणकारी धनों को धारण करती है और यज्ञ को देवताओं तक

---

38 नमः वे आद्यन्त विपर्यय से मनः पद प्राप्त हो जाता है।

39 ऋग्वेद 4।58।1-2

40 ऋग्वेद 4।58।4

41 ऋग्वेद 4।58।5

42 ऋग्वेद 4।58।6; 4।58।7 भी द्रष्टव्य।

43 ऋग्वेद 4।58।8

44 ऋग्वेद 4।58।9

पहुँचाती है। घृत की मधुर धारा वहा देती है। ऐसी गो स्तुति द्वारा सन्तुष्ट करने योग्य है।[45]

(6) गो के धाम

गो के धामों में समस्त भुवनों की प्रतिष्ठा है।[46] गो के धाम में घृत रूप रस हैं जिसे प्राप्त करने के लिए कामना की जाती है।[47]

(7) महावृषभ

सूक्त में मर्त्यों में निविष्ट, उच्च शब्द करने वाले वृषभ रूप महान् देव का उल्लेख है जिसके 4 शृंग, 3 पाद, 2 सिर और 7 हाथ कहे गये हैं और जो तीन प्रकार से बद्ध है।[48] इस महावृषभ के समान ही महाधेनु का स्वरूप भी है।[49]

गो देवता के कुछ अनिर्दिष्ट-दैवत मंत्र

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका पृथक् रूप से देवता निर्दिष्ट नहीं हुआ है। उन्हें विश्वे देवों का कहा गया है; अथर्ववेद में वे ही मन्त्र गो देवता के कहे गये हैं। उनका वर्ण्य विषय गो ही है अतः उन्हें गो-दैवत माना जा सकता है।

इनमें से एक मन्त्र में दुग्धवती धेनु का आह्वान किया गया है जिसके दुग्ध का निपुण व्यक्ति दोहन करता है—

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदुषु प्रवोचम्।[50]

एक मंत्र में गो का वात्सल्य भाव प्रकट होता है। वह वसुओं का पालन करने वाली (वसुपत्नी), हम्बारव करते हुए, वत्स की ओर गमन करने वाली तथा मन से वत्स की कामना करती हुई उसके पास जाती है। वह महान् सौभाग्य के लिए वृद्धि को प्राप्त होती है तथा अश्विनी कुमारों के लिए वह अहिंसनीया, दूध प्रदान करती है—

हिङ्कृण्वन्ती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।[51]

गौ वत्स के प्रति रँभाती है, उसके सिर को चाटने के लिए हिंकार करती है, दुग्ध फेन लगे हुए बछड़े को देख कर उसकी कामना करने वाली वह दूध पिला कर उसे पुष्ट करती है—

---

45 ऋग्वेद 4।58।10 46 ऋग्वेद 4।58।11
47 ऋग्वेद 4।58।11 (हिन्दी ऋग्वेद)
48 ऋग्वेद 4।58।2—3
49 देखो अनुच्छेद—'ऋग्वेद में गो तत्त्व'
50 ऋग्वेद 1।164।26. अ. वे 9।10।4
51 ऋग्वेद 1।164।27. अ. वे. 9।10।5

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ।[51]अ

गो का बछड़ा उसके चारों ओर घूम कर शब्दोच्चारण करता है। वह स्वयं रँभाती है तथा अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा मनुष्य मात्र को लज्जित करती है और विद्युत् के समान अपने रूप को प्रकट करती है—

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि चकार मर्त्यान्विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ।[52]

गो भगवती और अघ्न्या है। वह तृण खाती है, शुद्ध जल पीती है व स्तोताओं को ऐश्वर्य-सम्पन्न करने में समर्थ है—

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।[53]

एक अन्य मन्त्र में अन्तरिक्षीय जलों का निर्माण करने वाली अनेकपदी व सहस्राक्षरा गौरी-गौ का वर्णन है जो परम व्योम में निवास करती है—

गौरीमिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।[54]

दक्षिणा सूक्त

दक्षिणा शब्द √ दक्ष गतिहिंसनयो अथवा 'वृद्धौ शीघ्रार्थे' च धातु से निष्पन्न हैं। यह प्रत्येक दशा में गतिभाव का द्योतक है अतः गो का पर्यायवाची माना जा सकता हैं। कोश में दक्षिणा शब्द का अर्थ सुदुघा गो या बहुप्रज-गो भी दिया गया है।[55] वहाँ उसका एक अन्य अर्थ 'ब्राह्मणों को यज्ञादि में दी जाने वाली भेंट' भी दिया हुआ है। सम्भव है दक्षिणा में दिये जाने से ही गो का नाम दक्षिणा हो गया है। ऋग्वेद में एक सूक्त दक्षिणा का है।[56] विकल्प में इस सूक्त के देवता दक्षिणा देने वाले यजमान भी कहे गये हैं। सूक्त में 11 मन्त्र हैं। उनमें संकेतित विचार सूत्र इस प्रकार निबद्ध किये जा सकते हैं—

(1) पितृगण द्वारा प्रदत्त महती ज्योति

दक्षिणा पितृगण द्वारा प्रदत्त महती ज्योति है। पितरों के इस दान से ही दक्षिणा का मार्ग प्रशस्त हुआ। इन्द्र का जो विपुल तेज प्रकट हुआ वही दक्षिणा है। उसके प्रकट होने से सारे प्राणी अन्धकार से मुक्त हुए।[57]

---

51 अ० ऋग्वेद 1।164।28. अ. वे. 9।10।6
52 ऋग्वेद 1।164।29 अ. वे. 9।10।7
53 ऋग्वेद 1।164।40
54 ऋग्वेद 1।164।41 इस मंत्र व अन्य मंत्रों का वाक् परक अर्थ भी किया गया है—देखें सा. भा।
55 V. S. Apte. Sanskrit English Dictionary P. 244
56 ऋग्वेद 10।107
57 आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पंथा दक्षिणायाः अदर्शि॥
ऋग्वेद 10।107।1 तुलनीय 10।169।4

(2) दक्षिणादाता को स्वर्ग प्राप्ति

दक्षिणा प्रदान करने वाले स्वर्ग में उच्चासन पाते हैं।[58] दक्षिणा प्रदान करने से यश में पूर्णता आ जाती है। इसलिए वह यज्ञ की अंगस्वरूप है।[59] दक्षिणा-दाता निन्दा से डरते हैं इसलिए अपने कार्य को शीघ्र पूर्ण कर देते हैं।[60]

(3) दक्षिणा का दोहन

वायु, सूर्य आदि मानव हितकारी देवों के लिए शतधाराओं (में प्रवाहित घृत) को तथा हवि को प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार देवों को तृप्त करने वाले व गोदान करने वाले लोगों के लिए सात माताओं वाली दक्षिणा को दुहा जाता है।[61]

(4) दक्षिणा देने वाले का सम्मान

दक्षिणा-स्वरूप गो देने वाले का प्रभूत रूप में सम्मान होता है। उसे सबसे पहले बुलाया जाता है तथा ग्रामणियों में श्रेष्ठ पद दिया जाता है। यहाँ तक कहा गया है कि दक्षिणा देने में प्रमुख व्यक्ति ही मनुष्यों का राजा है।[62] सर्वप्रथम दक्षिणा प्रदान करने वाले को ऋषि, ब्रह्मा, यज्ञ-संचालक (यज्ञन्यं) सामगायक तथा स्तोता (उक्थशासम्) कहा जाता है और वह अग्नि के तीन रूपों या शरीरों को जानता है।[63]

दक्षिणा अश्व, गो, मनःप्रसादकर स्वर्ण प्रदान करती है और आत्मस्वरूप अन्न भी प्रदान करती है अतः विज्ञाता (विद्वान्) व्यक्ति दक्षिणा को देहरक्षक

---

58 उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः। ऋग्वेद 10।107।2

59 दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या--ऋग्वेद 10।107।3

60 अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति। ऋ० 10।107।3

61 दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्—ऋ० 10।107।4
[सायण ने इसका अर्थ किया है—दक्षिणा पाने के अधिकारी सात पुरोहित, यह उचित नहीं जान पड़ता। 'सप्तमातरम्' और 'दक्षिणाम्' यहाँ समानाधिकरण ज्ञात होते हैं अतः इस प्रकार 'सप्तमातरम्' पद दक्षिणाम् का विशेषण हुआ।]

62 ऋग्वेद 10।107।5

63 तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥
ऋग्वेद 10।107।6

कवच के समान धारण करते हैं।[64] यही नहीं, गोदाता[65] मरते नहीं—देवत्व प्राप्त कर लेते हैं। न वे कभी दरिद्र होते हैं और न दु:खी। दक्षिणा से उन्हें स्वर्ग व पृथ्वी के समस्त पदार्थ हस्तगत हो जाते हैं।[66]

(5) गोदाता को गोप्राप्ति

दक्षिणा देने वाले को उपभोग्य पदार्थों की आधारभूता (योनि) गो सबसे पहले मिलती है। उनको अन्य पदार्थों में सुन्दर परिच्छेद वाली नवोढा पत्नी, सुरा का अभ्यन्तर पेय[67]; अश्व: पुष्करिणी के समान निर्मल व देवालय के समान मनोहर गृह[68] आदि भी मिलते हैं।

(6) गोदाताओं को देवताओं का संरक्षण

दक्षिणा देने वाले की रक्षा देवता करते हैं। वह अश्वों द्वारा वहन किया जाकर तथा[69] सुगठित रथ में आसीन होकर युद्ध में विजय प्राप्त कर लेता है।

---

64 दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ।
ऋग्वेद 10।107।7
[इस मन्त्र में दक्षिणा (दी जाने वाली गो) से मिलने वाले फलों का उल्लेख है। गोदान देने से सम्भवत: सामाजिक प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि होने से इस प्रकार के लाभ होते हों।]

65 भोज शब्द √भुज पालनाभ्यवहारयो: धातु से व्युत्पन्न है। हिन्दी ऋग्वेद में सायण की साक्षी से रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'भोज' का अर्थ दाता, फलप्रदाता आदि ही किया है (यथा 2।14।10; 4।51।3; 6।23।9 आदि)। एक मन्त्र में 'पालक'–इन्द्र का उल्लेख है (ऋ० 2।17।8) जिसे जल वा अन्नदाता कहा गया है। एक अन्य मन्त्र (ऋ० 10।3।24) में 'भोजम्' और 'दातारम्' दोनों पद आये हैं। अत: इन्द्र के पालक स्वरूप का आधार उसके दान हैं। इस दृष्टि से 'भोज' पद का 'दाता' अर्थ उपयुक्त ज्ञात होता है। यहाँ पर दक्षिणा (गो) का प्रसंग चल रहा है अत: दाता का लक्षणा से गोदाता अर्थ लिया गया है।

66 न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजा: ।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥
ऋ० 10।107।8

67 भोजा जिग्यु: सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं: या सुवासा: ।
भोजा जिग्यु: अन्त: पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूता: प्रयन्ति ॥
ऋ० 10।107।9
सुरा का अर्थ 'उत्तम अन्न रस' भी है। देखो सुरा—डा० सुधीर कुमार गुप्त, आर्यावर्त्त, लश्कर, जुलाई 1963।

68 ऋग्वेद 10।107।10

69 भोजमश्वा सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्त्तते दक्षिणाया: ।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोज: शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥
ऋग्वेद 10।107।11

पृश्नि देवता

ऋग्वेद में एक सूक्त तृणपाणिक-पृश्निसूक्त के नाम से अभिहित किया गया है।[70] इसके अन्तिम मंत्र (22) का देवता विकल्प से पृश्नि भी है। मंत्र के अनुसार द्युलोक एक बार ही उत्पन्न हुआ और एक बार ही पृथिवी उत्पन्न हुई। पृश्नि का दुग्ध एक ही बार दुहा गया। इनके समय और कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ।[71] इस मंत्र में उल्लिखित पृश्नि ही अथर्ववेद की एकमात्र गो (एका गौः)[72] ज्ञात होती है, क्योंकि उसे 'केवली' भी कहा गया है, जो इन्द्र के लिए प्रथम बार दुही गई। उसका पुनर्दोहन नहीं हुआ बल्कि प्रथम बार (इन्द्र के लिए) दुहे गये दुग्ध से ही चार प्रकार से मनुष्य, असुर, देवता और ऋषि तृप्त हो गए।[73]

त्रिदेवियाँ

ऋग्वेद में यास्क ने इळा, सरस्वती और मही (भारती) को गो के पर्याय-वाची नाम माना है।[74] ये तीनों ही नाम गत्यर्थक धातुओं से निष्पन्न होने से भी गो अर्थ वाची हैं।[75] इन तीनों देवियों को पं० सातवलेकर ने मातृभाषा (इळा), मातृसंस्कृति (सरस्वती) और गोमाता या मातृभूमि (मही)[76] माना है। ऐसा ज्ञात होता है कि भारती, सरस्वती और इळा क्रमशः सौरमण्डल, अन्तरिक्ष और पृथिवी की देवी गतिमती शक्तियों के नाम हैं। इन देवियों को ऋग्वेद में सुखदात्री,[77] यज्ञ धारिका[78] और कल्याण के लिए प्रेरित करने वाली[79] कहा गया है तथा यज्ञ में आकर कुशासन पर बैठने के लिए उनका आह्वान किया गया है।[80] वे यज्ञ का पालन करती हैं।[81] भारती को घृतपदी भी कहा गया है[82] सरस्वती को सत्यवाणी को प्रेरित करने वाली व यज्ञ को धारण करने वाली कहा गया है।[83] वह आयु की

---

70 ऋग्वेद 6।48। इस का ऋषि शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः) है।

71 सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत।
पृश्न्या दुग्धं सकृत् पयस्तदन्यो नानु जायते ।। ऋग्वेद 6।48।22

72 अथर्ववेद 8।9।26

73 अथर्ववेद 8।9।24

74 देखो—'गो व तदर्थवाची शब्द' अनुच्छेद।

75 वही।

76 गोज्ञानकोश—भाग 2 पृ० 25

77 ऋग्वेद 1।13।9, 5।5।8 (मयोभुवः)

78 ऋग्वेद 10।70।8 (यज्ञं सुधिताः)

79 ऋग्वेद 1।188।8

80 ऋग्वेद 1।13।9; 1।142।9; 3।4।8; 5।58; 7।2।8

81 ऋग्वेद 2।3।8

82 ऋग्वेद 10।70।8 (सायण भाष्य; मेक्डोनल ने वैदिक माइथोलोजी में इसे इळा का विशेषण माना है।)

83 ऋग्वेद 1।3।11

आश्रयभूता है।[84] उससे घृत व पय का दोहन भी किया जाता है।[85] कदाचित् इसीलिए उसके लिए यज्ञद्वार खोल दिये जाते हैं।[86] यज्ञ में पूजा के लिए उसका आह्वान किया जाता है।[87] वह पितरों के साथ यज्ञ में आती है और आनन्दित होकर रोगरहित अन्न प्रदान करती है।[88] यज्ञ में विस्तीर्ण होकर पितर सरस्वती का अनुकूलभाव से आह्वान करते हैं और वह यजमान को प्रचुर व बहुमूल्य अन्न प्रदान करती है।[89]

अदिति

गो को अदिति भी कहा गया है। अदिति प्रमुख देवताओं की माता है और पृथिवी, वाक् आदि से उसे अभिन्न माना गया है।[90] गो के रूप में अदिति का देवों से माता, बहिन व पुत्री का सम्बन्ध है।[91] वह अन्य देवताओं के साथ आयु की रक्षा करती है।[92] मित्रावरुण की प्रसन्नता से प्रीणयित्री अदिति (गो) पुष्ट हो जाती है।[93] उषा को अदिति का मुख कहा गया है[94] और इस प्रकार अदिति का सम्बन्ध प्रकाश से जोड़ कर उससे प्रकाश की याचना की गई है[95] क्योंकि वह अक्षय ज्योति से समवेत है।[96] यद्यपि अदिति को ऋग्वेद में किसी सूक्त के स्वतन्त्र देवता के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

आपः

आपः और गो को भी अभिन्न माना गया है।[97] दिव्य आपः इन्द्र के व्रतों का पालन करती हैं।[98] इन्द्र ने इनका विस्तार किया और इनके मार्गों को प्रशस्त

---

84 श्रितायूंषि देव्याम्—ऋ० 2।41।17
85 ऋग्वेद 7।95।2
86 ऋग्वेद 7।95।6
87 ऋग्वेद 10।17।7
88 ऋग्वेद 10।17।8
89 ऋग्वेद 10।17।9
90 देखो अनुच्छेद 2 व 6
91 ऋग्वेद 8।101।15
92 ऋग्वेद 1।94।16
93 ऋग्वेद 1।153।3
94 ऋग्वेद 1।113।19
95 ऋग्वेद 4।25।3—तुलनीय 10।36।3
96 ऋग्वेद 7।82।10
97 अथर्ववेद 19।44।9
98 ऋग्वेद 7।47।3.
(इन्द्र के व्रतों को नहीं तोड़ती, अतः पालन करती है।)

किया ।[99] ये स्तोता की रक्षा करती है ।[100] इनका राजा वरुण है ।[101] ये सुख की आधार है ।[102] शिवतम हैं और माता के समान रस प्रदान करती हैं ।[103] वे यज्ञ के लिए सुख सुखविधान करती हैं ।[104] वे औषधि रूप होती है ।[105] 'आप:' अहिंसनीय यज्ञ में कुशाओं पर आसीन होती हैं[106] उन्हें जीव तृप्तिकर (जीवधन्या:) कहा गया है ।[107] वे घृत, पय और मधु धारण करती हैं ।[108] आप: यज्ञकार्य में सहायक होती हैं और यज्ञानुष्ठान के समय दुग्धस्थान का द्वार खोल देती हैं ।[109] वे संसार की जननी व रक्षिका हैं ।[110]

वाक्

डा० फतहसिंह के अनुसार विराज-वाक् एक स्तनवती गाय है ।[111] यह सृष्टि की एक मात्र प्रथनशील प्रधान और श्रेष्ठ शक्ति है । यह शक्ति परमात्मा की अपनी ही है और समस्त प्राणों और क्रियाओं की धारक है ।[112] वरुण की वाक् को गौरी और इन्द्र की वाक् को गो माना गया है । प्रथम प्रकृति की पूर्वावस्था (—सलिलावस्था) की द्योतक है जिसका अधिष्ठाता वरुण है और द्वितीय इन्द्र द्वारा अधिष्ठित सृष्टि की व्यक्तावस्था है ।[113]

ऋग्वेद में वाक् के चार पदों, तीन गुह्य व एक प्रकट-व्यवहार्य का उल्लेख मिलता है ।[114] इसके सर्पणशील (गति) रूप का कथन भी मिलता है ।[115]

---

99 ऋ० 7।47।4
100 ऋ० 7।49।1-4
101 ऋ० 7।49।3-4
102 ऋ० 10।9।1
103 ऋ० 10।9।2
104 ऋ० 10।9।4
105 ऋ० 10।9।4-7
106 ऋ० 10।30।15
107 ऋ० 10।30।14
108 ऋ० 10।30।13
109 ऋ० 10।30।11
110 ऋ० 10।30।10
111 वैदिक दर्शन—पृ० 207
112 वेद लावण्यम्-भाग 2 भूमिका पृ० 11
113 Vision in the Long Darkness—Dr. V. S. Agrawal P. 147-49.
114 ऋग्वेद 1।164।45
115 ऋग्वेद 3।53।15-16

राष्ट्री (प्रदीपक) वाक् अपने चार रूपों से बल या अन्न का दूहन करती हैं।[116] देवी वाक् को देवों ने उत्पन्न किया और सब शरीरधारी उसका प्रयोग करते हैं। वह वाग्धेनु अन्न व बल का दूहन करती करती है।[117]

वागाम्भृणी सूक्त में[118] वाक् का सर्जक रूप प्रकट हुआ है। वाक् रूप सर्जक-गति रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, वसु, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि तदधिष्ठातृ शक्तियों के साथ चरण व धारण रूप सृजन कार्यों में प्रवृत्त रहती है।[119] वह रूपनिष्पादक, पोषक और सेवनीय तत्त्वों को धारण करती है।[120] वह प्राणियों को विविध कर्मों में लगाने वाली तथा सबकी संरक्षक है।[121] इन्द्रियों को विषयों से संयुक्त करने वाली वाणी कही गई है।[122] वह सभी लोकों में व्याप्त है।[123] लोकों में सृजन-रूप-गति को भरती हुई वह पृथिवी को अपनी महिमा से व्याप्त कर लेती है।[124]

इस विवेचन से स्पष्ट है वाक् विश्व की माता है और इस प्रकार गो से अभिन्न है।

अथर्ववेद के गो सूक्त

अथर्ववेद अध्ययन का विषय न होने पर भी उसमें आये हुए गो सूक्तों के विचारों को संक्षेप में जान लेना असंगत न होगा। ऋग्वेद के कुछ मंत्र अथर्ववेद में यथावत् प्रयुक्त हुए हैं परन्तु कुछ मंत्र ऐसे भी हैं जिनका देवता ऋग्वेद से भिन्न कहा गया है उदाहरण के लिए ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त के मंत्र या सार्पराज्ञी सूक्त को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अथर्ववेद में गो सम्बन्धी कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जिनका ऋग्वेद से सीधा कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। इसमें गो को वशा,[125] विराज,[126] ब्रह्मगवी,[127] शतौदना[128]

---

116 ऋग्वेद 8।100।10 राष्ट्री नाम ऋग्वेद में 10।125।3 में भी प्रयुक्त
117 ऋग्वेद 8।100।11
118 ऋग्वेद 10।125
119 वही मंत्र 1
120 वही मंत्र 2
121 वही मंत्र 3
122 वही मंत्र 4
123 वही मंत्र 6 : 7
124 वही मंत्र 8
125 अथर्ववेद 10।10; 12।4
126 अथर्ववेद 8।9
127 अथर्ववेद 5।18; 19; 12।5
128 अथर्ववेद 10।9

आदि नामों से देवता के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इनमें गो के रहस्यात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। एक सूक्त में गो शरीर को सर्वदेवमय वर्णित किया गया है।[129]

गो की तरह अथर्ववेद में वृषभ को भी रहस्यात्मक वर्णनों का माध्यम बनाया गया है। उसको भी सर्वदेवमय वर्णित किया गया है।[130] पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्ष को धारण करने वाले[131] अनड्वान् के सप्त दोहों का वर्णन भी मिलता है।[132]

अथर्ववेद के इन सभी[133] सूक्तों पर ऋग्वेदीय विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में यथास्थान विचार किया गया है।

---

129 अथर्ववेद 9।7

130 अथर्ववेद 9।4।8—15

131 अथर्ववेद 4।11।1

132 अथर्ववेद 4।11।9

133 परिशिष्ट में अथर्ववेदीय गो सूक्त दिये गये हैं।

पंचम अनुच्छेद : गो तथा अन्य देवता

पशु रूप में गो पर विचार करते समय उसकी यज्ञीय उपयोगिता, सम्पत्ति रूप में संग्राह्यता, वत्सलता, पूजनीयता आदि पर विचार किया गया है। यज्ञ देव-शक्तियों को पुष्टि प्रदान करने के लिए किया जाता है। यज्ञ से तृप्ति लाभ करके देव .मानव के जीवन व्यापार में सहायक बनते हैं। यज्ञ गो से प्राप्त दूध, दही, घृतादि द्वारा किया जाता है। अतः यज्ञ में उपहूत देवशक्तियों के साथ गो का सम्बन्ध स्वतः ही स्थापित हो जाता है। आगे प्रकट होगा कि देवों के साथ गो का सम्बन्ध जननी, स्वसा, पुत्री, पोषिका, प्रकाशिका, पत्नी आदि के रूप में अनेक प्रकार का है, वह देवों की क्रियाशक्ति की द्योतक है। देवों व पितरों की स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार व मनुष्यों की हन्तकार के द्वारा अन्न-प्रदात्री होने से उपजीव्या है। इसीलिए देवगण गोविजय के अभिलाषी रहते हैं और उनके द्वारा यजमान को प्रदान किए गए अन्नधनादि में प्रमुखता गौओं की ही रहती है। देव-परिवार की प्रिय-सदस्या होने के कारण देवता के रूप में उसकी स्तुति भी हुई है। यहां उसके देवरूप और अन्य देवताओं से सम्बन्ध का विवेचन किया जा रहा है।

गो व द्यु लोक स्थित देवता

आदित्य और गो

द्यु स्थानीय देवगण में आदित्यों को प्रथमागामी[1] कहा गया है। आदित्य नाम मातृनामोद्गत है जो इनकी माता अदिति[2] से बना है। यास्क ने 'अदितेः पुत्रः[3] , व्युत्पत्ति में इस ओर संकेत किया है; परन्तु साथ ही उसने कर्म के आधार 'आदत्ते रसान् (इति आदित्यः)' तथा स्वरूप के आधार पर 'आदत्तो भासं ज्योतिषाम् तथा 'आदीप्तो भासा' व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। रसग्रहण व प्रकाशदान आदित्य अपनी रश्मियों के द्वारा करते हैं जिनको बहुधा गो कहा गया है।[4] आदित्य को गौ कहने का[5] कारण भी उसकी स्वरूपनिर्मात्री रश्मियों से उसकी अभिन्नता दिखाना ही ज्ञात होता है। अन्यथा-विशेष-बोध युक्तजन के लिए (—चिकितुषे जनाय) अखंडनीया (= अदिति) गो को आदित्यों की स्वसा भी कहा गया है।[6] इस प्रकार गो आदित्य से अभिन्न होने के साथ ही उसकी माता भी है स्वसा भी। अथर्ववेद में आदित्यों की माता हिरण्यवर्णा मधुकशा कही गई है।[7] इससे मधुकशा का गो से

1 निरुक्त 12।4।1

2 ऋग्वेद 8।18।5; 8।47।9; 10।72।8;9

3 उपर्युक्त 2।4।1

4 निघण्टु 1।5; ऋग्वेद 5।64।7

5 निरुक्त-2।2।2

6 ऋग्वेद 8।101।15

7 अथर्ववेद 9।1।4

सम्बन्ध स्थापित होता है। एक मन्त्र में मधुकशा के 7 मधुओं में धेनु को भी[8] गिनाया गया है।

प्रमुख आदित्य 7, 8 या 12 हो सकते है। संख्या भेद का कारण दृष्टिकोण भेद है। ये सभी शक्ति सम्पन्न हैं[9] यज्ञ के रक्षक हैं,[10] पृथिवी व द्युलोक को धारण करने वाले हैं[11] और सभी का कल्याण करते हैं।[12] आदित्यों के व्रतों[13] और मनोहर नामों[14] का उल्लेख भी मिलता है। आदित्यों की प्रतिष्ठा ऋत के कारण है।[15] ये प्रीणयित्री गौओं का कल्याण करने वाले हैं।[16]

आदित्यों का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख भी मिलता है। मित्र और वरुण के अतिरिक्त (जिनका आगे उल्लेख होगा) अर्यमा का नाम आदित्यों में प्रमुख रूप से लिया जाता है। अंगिराओं को देवों ने जो धेनु दी अर्यमा उसका दोहन करते हैं और जानते हैं कि वह धेनु मेरे साथ समवेत है।[17]

भग ऐश्वर्य का नाम भी है और आदित्य का भी। एक मंत्र में गो को भगवती कहा गया है और उसे प्राप्त करके प्रभूतऐश्वर्य सम्पन्न (भगवान्) होने की कामना की गई है।[18] यहाँ भग को भग देवता व ऐश्वर्य दोनों अर्थों में प्रयुक्त श्लिष्ट पद माना जा सकता है। इस प्रकार भग से संयुक्त होना गो का विशिष्ट लक्षण होगा। भग को स्पष्ट ही अदिति का पुत्र कहा गया है।[19] भग का सम्बन्ध भाग्य से है। इसीलिए बार-बार भगवान् बनने की आकांक्षा उल्लिखित है।[20] भग गो व अश्व की समृद्धि प्रदान करते हैं।[21] उषा को भग की स्वसा कहा गया है[22] संभवतः इसका एक कारण ऐश्वर्य रूप भग की तरह उषा का गोमती होना भी हो।

अंश और दक्ष भी आदित्यों के नाम हैं। इनमें अदिति को दक्ष से उत्पन्न कहा गया है[23] साथ ही अदिति को दक्ष को उत्पन्न करने वाली भी कहा गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि पूर्वयुग में, जिसका उल्लेख इसी सूक्त में मिलता है, जिसमें असत् अवस्था से सत् अवस्था (नामरूपात्मक जगत्) का विकास हुआ,[24] दक्ष (अव्यय पुरुष) से अदिति (गो) का आविर्भाव हुआ; और उत्तर युग (सृष्टि की

---

8 अथर्ववेद 9।1।22
9 ऋग्वेद 5।61।1; 8 67।1
10 ऋग्वेद 3।8।8
11 ऋग्वेद 5।69।4
12 ऋग्वेद 5।51।12; 6।51।5; 10।66।3
13 ऋग्वेद 3।59।2;3
14 ऋग्वेद 3।56।4
15 ऋग्वेद 10।85।1 (ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति) तथा 2।27:8
16 गवे च भद्रं धेनवे वीराय च। ऋग्वेद 8।47।12
17 ऋग्वेद 1।139।7
18 ऋग्वेद 1।164।40
19 ऋग्वेद 7।41।2
20 ऋग्वेद 7।41।4;5
21 ऋग्वेद 7।41।3
22 ऋग्वेद 1।123।5
23 ऋग्वेद 10।12।4;5
24 ऋग्वेद 10।72।2;3

व्यक्तावस्था) में अदिति से पुरुष प्रजापति का जन्म हुआ। पुरुष सूक्त में तीन पाद वाले ऊर्ध्वपुरुष से उत्पन्न विराज् (गो) और विराज् से उत्पन्न अधिपुरुष[25] का वर्णन दक्ष के पितृत्व और पुत्रत्व की समस्या का समाधान करने में सहायक होता है।

मित्र, वरुण और गो

वरुण की यास्क ने द्युलोकस्थ देवताओं[26] के अतिरिक्त मध्यमस्थानीय[27] देवताओं में भी गणना की है। बृहद्देवता में शौनक ने भी इस मत को स्वीकार किया है।[28] वरुण की स्तुति कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से किन्तु बहुधा मित्र के साथ की गई है। दो स्थानों से सम्बन्ध रखने के कारण वरुण की प्रकृति द्विविध रूप से उल्लिखित है। द्युस्थान में आदित्य रूप से वह रस ग्रहण व रश्मियों से धारण कर्मों से समवेत है और अन्तरिक्ष में इन्द्र, वायु आदि का सहयोगी बन कर वृष्टि कर्म में सहायक होता है। द्विविध प्रकृति का पता इससे भी चलता है कि उसमें असुरत्व व देवत्व दोनों पाये जाते हैं। उसके असुर[29] कहने का कारण उसकी माया ज्ञात होती है, जिसके विषय में बहुधा उल्लेख मिलता है।[30] वह माया से ही विश्व को धारण करता है।[31] उसके पाश[32] माया के बन्धन ही हो सकते हैं, जिन्हें संख्या में तीन[33] या सात[34] या अनेक[35] कहा गया है। दूसरी ओर वह राजा,[36] सम्राट्[37] और स्वराट्[38] कहा गया है। उसके पास ऋत का उत्स है।[39] वह ऋत की सर्जना भी करता है।[40] सर्व दर्शनीय वरुण रथ में[41] आसीन होकर धृतव्रत वरुण[42] लोकों का

---

25 ऋग्वेद 10।90।4;5

26 निरुक्त 12।3।3—6

27 निरुक्त 10।1।3

28 बृहद्देवता-2।4 तथा 2।11

29 ऋग्वेद 1।24।14; 2।28।7; 8।42।1

30 ऋग्वेद 5।85।6, 8।41।8

31 मायया दधे विश्वम् ऋग्वेद 8।41।3

32 ऋग्वेद 1।24।13;15; 1।25।21: 7।88।7

33 ऋग्वेद 1।25।21 अथर्ववेद 7।83।3

34 अथर्ववेद 4।16।6

35 ऋग्वेद 7।65।3

36 ऋग्वेद 1।24।14, 2।28।10, 7।87।5, 6

37 ,, 2।28।6, 5।85।1, 48।2।1, 1।17।1, 7।82।2, 6।68।9

38 ,, 2।28।1

39 खामृतस्य—ऋग्वेद 2।28।5

40 ऋग्वेद 2।28।4

41 विश्वदर्शतं रथम्—ऋग्वेद 1।25।18

42 ऋग्वेद 1।25।6, 10 आदि में धृतव्रत विशेषण आया है।

अवलोकन करते हैं। उनके व्रतों को तोड़ा नहीं जा सकता।[43] सूर्य का निर्माण करके वह उसे द्युलोक में सुनहरे झूले के समान स्थापित कर देता है।[44] सूर्य की ज्योति से सम्बन्ध होने के कारण ही वरुण से कभी ज्योति से प्रोषित--पृथक् न होने के लिए प्रार्थना की गई है।[45]

यह वरुण अपनी महिमा से गौओं में दुग्ध का विस्तार करता है।[46] गोमती उषा के उदित होने पर प्रकाशित होता है।[47] उसे गोरक्षक (गोपा) कहा गया है।[48] 'गोपा' विशेषण वरुण के लिए इतना रूढ़ हो गया है कि उसे 'ऋतस्य गोपा'[49] और 'अमृतस्य गोपा'[50] कहा गया है। गोरक्षण विशेषकृत्य है विशेषतया वरुण का। इसीलिए वरुण के मनुष्यों व पशुओं की रक्षा के कार्य के लिए गोरक्षण को उपमान बनाया गया है।[51] वरुण का गो से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह गौओं के अन्तर्निहित गुह्य नामों को भी जानता है।[52] गुह्य पदों का ज्ञाता वरुण मेधावी लोगों को शिक्षा देता है, उसी ने बतलाया है कि अहिंसनीया गो 21 नाम धारण करती है।[53] यद्यपि वरुण के लिए दूध की धारा बहती है (ऋ० 10।61।26) परन्तु वरुण की किसी गो का नाम ऋग्वेद में नहीं मिलता। अथर्ववेद में अवश्य ही उसकी सत्या या वशा[54] गो का नाम मिलता है। वरुण इस सुदुघा, नित्यवत्सा पृश्नि गो को अथर्वा को देता है।[55] अथर्ववेद में[56] इस पृश्नि गो के विषय में वरुण व अथर्वा में हुआ एक रोचक संवाद मिलता है। वरुण ने अथर्वा से अपनी पृश्नि वापस मांगी। अथर्वा ने स्वयं को ज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप और जातवेदस् सिद्ध किया[57] तो वरुण ने उसे पृश्नि रखने योग्य मानकर पृश्नि को अथर्वा के पास ही रहने दिया। कक्षीवान् ने भी वरुण से इस गो को मांगा था।[57अ] गौओं की प्राप्ति के लिए गो-अभिलाषी (गविषः) इन्द्र के साथ वरुण की भी[58] प्रार्थना करते हैं। मनुष्य

---

43 अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि। ऋ० 1।14।10

44 ऋग्वेद 7।87।5 45 ऋ० 2।28।7

46 ,, 5।85।2 47 ,, 2।28।2

48 ,, 8।41।4 49 ,, 5।63।1

50 ,, 8।42।3 51 ,, 8।41।11

52 य उस्राणामपीच्या वेद नामानि गुह्या–ऋग्वेद 8।41।5

53 उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्ति ऋग्वेद 7।87।4

54 अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः। अथर्ववेद 1।10।1

55 अथर्ववेद 7।104।1 56 अथर्ववेद 5।11

57 सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः। अवे० 5।11।3

57अ ऋ० 1।122।7

58 ऋग्वेद 4।41।7

जब देखते हैं कि इन्द्र व वरुण उन पर प्रसन्न हैं तो वे बड़े-बड़े परशु लेकर गो प्राप्ति की इच्छा करते हुए पूर्व-दिशा की ओर जाते हैं।[59]

वरुण के साथ संयुक्त होने पर मित्र भी ऋत और वृतों का रक्षक बन कर सभी कार्यों में वरुण का सहभागी बनता है। डॉ० फतहसिंह ने वरुण को सम्राजता (ज्योतिर्मयता) प्रदान करने वाला भी कहा है।[60]

वरुण द्वारा प्रदत्त दुग्ध पृथिवी व अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर उन्हें अभिसिंचित करता है।[61] रात्रि का आलिंगन करके[62] अपने मायी व कृष्णस्वरूप में ही स्थित रहने वाला वरुण संसार में दुग्ध की श्वेतिमा विस्तार करने की योग्यता मित्र से संयुक्त होकर ही प्राप्त करता जान पड़ता है। संयुक्त रूप से दोनों सम्राट् (सम्राजौ)[63] 'ज्योतिषस्पती'[64] 'ज्योतिष्मत् क्षात्र' सम्पन्न,[65] तथा 'हिरण्यनिर्णिजग् रथ[66] में आसीन कहे गये हैं। ये सभी विशेषण उनका सम्बन्ध ज्योति से स्थापित करते हैं। वे दोनों ही पूतदक्ष,[67] असुर,[68] ऋतावान्[69] ऋतस्पृशौ,[70] प्रचेतसौ,[71] विचेतसौ,[76] दक्षस्य सूनु[73] शवस: नपातौ, ऋतावृधौ,[74] भुवनस्य गोपा,[75] विश्वस्य गोपा,[76] ऋतस्य गोपा,[77] अमृतस्य सेतु,[78] महिक्षत्रौ[79] तथा विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा[80] कहे गए हैं। सुप्रतीक सूर्य दोनों का चक्षु है।[81] सहस्रस्थूण घर में दोनों बैठते हैं।[82] वे परम व्योम में रथ पर आसीन होते है।[83]

---

59 ऋ. 7।83।1 पिटरसन ने 'प्राचा' का अर्थ 'forward' किया है। साथ ही लुड्विग के मत को भी उल्लिखित किया है जिसने यहाँ ऋ० 2।26।4 पर सायण भाष्य (प्राचा प्राचीनेन ऋजुना मार्गेण) के अर्थ को तुलनीय कहा है। Hymns from the Rigveda—P. 226.

60 वैदिक दर्शन पृ० 85 (प्रथमावृत्ति, 2006)

61 ऋग्वेद 5।85।5

62 स क्षप: परिषस्वजे। ऋ० 8।41।3

63 ऋ० 1।136।1, 2।41।6, 5।63।2,3, 5।68।2, 8।25।4

64 ,, 1।23।5

65 ऋ० 1।136।3

66 ,, 5।62।7

67 ,, 1।2।7 व 7।65।1

68 ,, 7 65।2

69 ,, 8।25।4, 7, 5।67।4

70 ,, 5।67।4, 1।2।8, 1।23।5

71 ,, 5।71।2

72 ,, 10।132।6

73 ,, 8।25।5

74 ,, 1।2।8, 1।23।5

75 ,, 5।62।9

76 ,, 8।25।1

77 ,, 5।63।1, 7।64।2

78 ,, 7।65।3

79 ,, 5।68।1

80 ,, 7।60।2

81 ,, 7।61।1

82 ,, 2।41।5, 5।62।6

83 ,, 5।63।1

दोनों को 'धृतस्नू'[84] कहा गया है, घृत उनका अन्न है, (घृतान्नौ)[85]। उनके लिए घृत ग्रहण होता है।[86] 'घृतयोनी' दोनों का अन्य विशेषण है।[87] पर्जन्य (जिसे वरुण की तरह ही असुर संज्ञा दी गई है) की शक्ति (माया) से मित्र और वरुण वर्षा करते हैं (इसलिए उन्हें वृषभ कहा गया है)[88] और इस प्रकार औषधियों को बढ़ाते व गौओं को पुष्ट करते हैं।[89] रातहव्य की गो को उसकी सेवा से प्रसन्न होकर मित्र और वरुण ने दुग्धवती किया अतएव उनसे यजमान की धेनु को दुग्धवती बनाने के लिए प्रार्थना की गई है।[90]

वरुण और मित्र दिव्य व पार्थिव अन्नों (इष:) के दाता हैं।[91] इस दान का माध्यम गौएँ हैं क्योंकि उनसे ये अन्न प्राप्त होते हैं। अतएव व्यंजना से वे गोदाता भी हैं। वरुण को तो स्पष्ट ही गोयुक्त अन्न या धन (गोमत् वाजस्य) का स्वामी कहा गया है।[92] गो से प्राप्त अन्नों में घृत कदाचित् मित्र और वरुण को सबसे प्रिय है। इसी से वे गौओं के मार्ग या चरागाह[93] को घृत से सिंचित करते है[94] तथा उनके रथ का निर्माण करने वाले को भी घृत द्वारा ही उन्नत करते हैं।[95]

दुग्ध और दधि मिश्रित सोम दोनों को प्रिय है।[96] यज्ञ में दुग्ध, दधि, घृतादि गव्यों से सर्वप्रथम मित्र और वरुण की ही पूजा की जाती है।[97] दिव्य धेनुएँ और जल मित्रावरुण को परितृप्त करते हैं और वे दोनों गौओं का दुग्धपान करते हैं।[98] दुग्धवती गौएँ (—इरावती धेनव:) उनके लिए मधुर दुग्ध प्रदान करती है और उनकी ही आज्ञा से तीन रेतोधा वृषभ (अग्नि, वायु, आदित्य) तीन स्थानों में अधिष्ठित होते हैं।[99]

---

84 ऋ० 1।153।1 85 ऋ० 6।67।8
86 ,, 1।136। , 2।41।6 घृतासुती 87 ,, 5।68।2
88 ,, 5 63।3 89 ,, 5।62।3
90 ,, 1।153।3 91 ,, 8।25।6
92 ,, 8।25।20
93 गव्यूती - 'गावोऽत्र यूयन्त' अथवा 'गवो यवनमत्र' इति—सायण ऋग्वेद 1।25।16 पर भाष्य। Pasture-land—पिटरसन—Hymns from the Rigveda—P. 76
94 घृतैर्गव्यूतीमुक्षतम्—ऋग्वेद 7।65।4, 3।62।16। यह भी कहा गया है कि जीवन प्रदान करने के लिए हमारी गव्यूती को घृत से सिंचित करो। 'जीवसे न आनो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन - ऋ० 7।62।5। सायण ने घृत का अर्थ जल किया है।
95 ऋग्वेद 7।64।4 96 ऋ० 1।137।1,2
97 ,, 1।151।8 98 ,, 1।153।4
99 ,, 5।69।2

धुरी में योजित वंशों की तरह विस्तृत द्युलोक में उन्होंने अपने को प्रतिष्ठित किया है,[100] जहाँ उनकी महिमा से सूर्य स्थावर जलराशि का दोहन करते हैं जिससे उसकी प्रीतिदायक दीप्ति बढ़ती है।[101] मित्र और वरुण जिन गायों को वरणीय प्रदेश में ले जाते हैं, उन्हें कोई कष्ट नहीं पहुँचा सकता। वे दूध देती हैं। गौशाला लौट आती हैं और उषा काल में सूर्य को देख कर ध्वनि करती हैं।[102] मित्र और वरुण गौओं में अमृत के समान प्रिय दुग्ध की रक्षा करते हैं।[103] अदिति के पुत्र तो वे हैं ही।[104]

सविता, सूर्य और गो

सविता और सूर्य आदित्यों में ही गिने जाते हैं। इनकी स्तुति ऋग्वेद में पृथक् 2 अवश्य हुई है परन्तु विशेषताओं की दृष्टि से दोनों समान हैं। सविता द्युस्थानीय होने के साथ अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में भी स्थान पाता है। सविता को सबको उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[105] हिरण्यपाणि,[106] पृथुपाणि,[107] हिरण्याक्ष,[108] असुर,[109] हिरण्यजिह्व,[110] नृचक्षस्,[111] धृतव्रत,[112] प्रजापति,[113] आदि विशेषण सविता के लिए प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्णिम रश्मियों वाले,[114] स्वर्णिम रथ,[115] जिसे शुभ्र अश्व[116] या श्वेतपाद (शितिपाद) वाले श्यावाश्व[114] खींचते हैं-- पर बैठ कर यह लोकों का निरीक्षण करता है। अजस्र ज्योति संपन्न होने से इसे सूर्यरश्मि व हरिकेश भी कहा गया है।[117] अन्तरिक्ष में सविता की उपमा सुपर्ण से दी गई है।[118] उनके भी व्रत हैं।[119] जिनका उल्लंघन वरुण, मित्र, इन्द्र, अर्यमा, रुद्र ही क्या, शत्रु भी नहीं कर सकते।[120] मर्त्य और अमर सबको अपने में धारण करते हुए[121] वे राक्षसों को हिंसित करते[122] व यजमानों को रमणीय

---

100 ऋ० 1।151।4
101 " 5।62।2
102 ऋ० 1।151।5
103 " गोषु प्रियं अमृतं रक्षमाणा–ऋ० 1।71।9
104 ,, 7।60।5, 8।25।3, 10।132।6
105 निरुक्त 10 3।7
106 ऋ० 1।22।5, 1।35।9, 6।71।4, 7।38।2
107 ,, 2।38।2
108 ऋग्वेद 1।35 8
109 ,, 1।35।01, 4।53।1
110 ,, 6।71 3
111 ऋ० 1।22।7
112 ऋ० 4।53।4
113 ,, 4 53।3
114 ,, 1।35।5
115 ,, 1।35।3
116 ,, 1।35।3
117 ,, 10।139।1
118 " 1।35।7
119 ,, 4।53।4, 1।22।6
120 ,, 2।38।7
121 ,, 1।35।2, 6
122 ,, 1।35।10

धन प्रदान करते हैं ।[123] वे वरेण्य भर्ग वाले तथा कर्मों के प्रचोदयिता हैं ।[124] द्विपद् व चतुष्पद् पशुओं से युक्त धन के उत्पादक सविता ही कहे गये हैं वे इनका कल्याण भी करते हैं ।[125] गायों को यातना देकर उनके विषरूप दुग्ध का पान करने वाले दुष्टों को सविता उच्छिन्न करने में समर्थ हैं ।[126] सविता के साथ गो का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं मिलता परन्तु एक मंत्र में वाक् से संयुक्त धेनुओं का उल्लेख मिलता है;[127] परन्तु उनका सविता से सम्बन्ध अज्ञात है। ऋग्वेद में सविता का महत्त्व इस दृष्टि से स्थापित किया गया है कि उसी ने मनुष्यों को बताया है कि पासों से जुआ मत खेलो, कृषि करो और उससे प्राप्त आय से सन्तोष करो क्योंकि गौओं और पत्नी की इसी से प्राप्ति होती है ।[128]

सूर्य से प्रजनन भाव (सुवते) के साथ गति (सर्त्ती, सु-ईर्य्यते वा)[129] का सम्बन्ध भी जोड़ा गया है। जातवेदस्,[130] विश्वचक्षस्,[131] उरुचक्षस्,[132] शोचिष्केश,[133] केशी,[134] हरिकेश,[135] विभ्राट्,[136] विश्वभ्राट्,[137] दिवस्पुत्र[138] आदि विशेषण सूर्य के महत्त्व को प्रकट करते हैं। सभी ज्योतियों में श्रेष्ठ उत्तम ज्योति से[139] सम्पन्न होकर वह अन्धकार को नष्ट करता है ।[140] वह शीर्ष का भी शीर्ष (शीर्ष्णः शीष्णो) और चराचर की आत्मा कहा गया है ।[141] उसको रश्मियों को सुपर्ण संज्ञा दी गई है ।[142] सूर्य जिन गौओं में गमन करता है वे भी उसकी रश्मियाँ हो सकती हैं (युवा कविर्दीदयद्गोषु गच्छन्) ।[143] किरण रूप गौओं के धारण करने वाला समस्त रूपों का प्रकाशक गन्धर्व सूर्य ही है,[144] जिसकी गौएँ सहस्र कही गई हैं ।[145] चक्षुओं का पालक सूर्य ही विश्वकर्मा रूप से अपने मन से घृत उत्पन्न करता है ।[146] सूर्य को पृश्नि-गो भी कहा गया है ।[147] सूर्य और गो के

---

123 ऋ० 2।38।1, 4।54।1
124 ,, 3।62।10
125 ऋ० 1।124।1; 5।81।2
126 ,, 10।87।18
127 वस्त्रयेकधेनुभिर्निपातु 7।38।5
128 ऋग्वेद 10।34।13
129 निरुक्त 12।2।3
130 ऋ० 1।50।1
131 ऋ० 1।50।2; 7।63।1
132 ,, 7।63।4
133 ,, 1।50।8
134 ,, 10।136।1; 1।164।44
135 ,, 10।37।9
136 ,, 10।170।1,4
137 ,, 10।170।3
138 ,, 0।37।1
139 ,, 10।170।3; 1।50।10
140 ,, 10।37।4
141 ,, 7।66।15; 1।115।1
142 ,, 1।164।46; 47; 52
143 ,, 5।45।9
144 ,, 9।85।12 ऋग्वेद 8।1।17 भी द्रष्टव्य।
145 ,, 10।80।5
146 ऋ० 10।82।1
147 ऋग्वेद 10।189।1 आदित्योऽपि गौरुच्यते । निरुक्त 2।2।2 तथा पृश्नः आदित्यो भवति निरुक्त 2।4।2

अभिन्न सम्बन्ध के कारण ऋग्वेद के एक सूक्त (4.58) के देवता विकल्प से सूर्य या गो भी हैं। सूर्य को 3 पाद, 2 शीर्ष, 7 हाथ व 3 बन्धनों से बँधा वृषभ भी कहा गया है।[148] वत्स को धारण करते हुए उदय होने वाली गो भी सूर्य या उसकी किरण ज्ञात होती है।[149] गो में त्रिधानिहित पणियों द्वारा छुपाये हुए घृत के एक रूप को सूर्य भी उत्पन्न करता है।[150] इंद्र ज्यों हो सूर्य को उत्पन्न करता है उसी समय गौओं को भी प्राप्त करता है।[151] सूर्य और गौओं का अन्य प्रकार का सम्बन्ध यहाँ देखा जाता है। इस रूप में सूर्य गौओं का सर्जन करता है।[152] सूर्य की ये गौएँ तीन स्वरूप वाली (त्रिधातव:)[153] कही गई है। एक मन्त्र में गो व सूर्य का पूर्वापर सम्बन्ध अन्यथा उल्लिखित है जिसके अनुसार अथर्वा ने पहले गौओं के लिए मार्ग बनाया। तदनन्तर व्रतपा सूर्य आविर्भूत हुए।[155] इस रूप में वह सुदुघा धेनु का दोहन करता है।[154] एक अन्य मन्त्र में उसे स्पष्ट ही वत्स कहा गया है जिसे अन्य का वत्स जानती हुई भी गो चाटती व दूध पिलाती है।[156] इस प्रकार सूर्य गौओं का जनक, सहचारी, पुत्र, धारक (गन्धर्व) तथा अन्य दृष्टिकोण से उनसे अभिन्न रूप में उल्लिखित है।

पूषा और गो

यास्क के अनुसार जब सूर्य पोषक रश्मियों से परिपुष्ट होता है तब पूषा कहा जाता है।[157] ऋग्वेद के अनुसार जन्मदाता सविता ही अपने पोषण कर्म से पूषा हो जाता है।[158] असुर,[158] वृषा,[160] अजाश्व,[161] आघृणि;[162] कपर्दी,[163] रथीतम,[164]

---

148 ऋ० 4.58.3
149 ऋ० 1.164.17
150 " 4.58.4
151 " 2.19.3
152 " 7.36.1 (ससृजे सूर्यो गा:)
153 " 5.47.4
154 " 1.164.26 सायण भाष्य द्रष्टव्य।
155 यज्ञैरथर्वा प्रथम: पथस्तते तत: सूर्यो व्रतपा वेन आजनि। ऋग्वेद 1.83.5
156 ऋग्वेद 10.27.14
157 अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। निरुक्त 12.2.5
158 ऋग्वेद 5.81.4
159 ऋग्वेद 5.51.11
160 ऋग्वेद 10.26.3
161 ऋ० 6.55.3;4; 6.58.2, 9.67.10 तथा ऋ० 6.57.3 व 10.26.8 भी द्रष्टव्य।
162 ऋ० 6.48.16; 53.3;8; 55.3; 9.67.12
163 " 6.55.2 व 9.67.11
164 ऋग्वेद 6.55.2; 6.56.2

ऋतस्य रथी,[165] विमुचोनपात् (मुक्तिप्रदाता)[166] भुवनस्य गोपा[167] आदि विशेषणों के अतिरिक्त पशुपा,[168] अनष्टपशुः,[169] अनष्टवेदस्[170] आदि कुछ ऐसे विशेषण हैं जिनसे उसका सम्बन्ध पशुओं की रक्षा से प्रमुख रूप से जुड़ जाता है। पशुओं के विचरण करने योग्य मार्गों का ज्ञाता होने से ही संभवतः इसे 'पथस्पति'[171] नाम दिया गया है। पशुओं को हाँकने के साधन के रूप में (पशुसाधनी) इनकी अष्ट्रा का उल्लेख भी मिलता है।[172] ऋग्वेद के और किसी भी अन्य देवता के साथ अष्ट्रा का उल्लेख नहीं मिलता। उसके पास आर (लोहे की कील) भी है जिसे वह पशुओं के स्थान पर मनुष्यों पर प्रयुक्त करता है। अतः प्रार्थना की गई है कि वह पशुदान में कृपण पणियों के हृदय पर उस आर का आघात करके उन्हें कोमल हृदय बनावें।[173] इस आर का ब्रह्मचोदनी विशेषण भी मिलता है।[174] मानव हृदय को पशुदान में प्रवृत्त करने का ऐसा साधन किसी भी अन्य देवता के पास नहीं पाया जाता। यज्ञ के अर्द्धांश का भागी[175] पूषा को कहने का कारण भी उसका यही कार्य ज्ञात होता है।

उसकी सर्वाधिक प्रवृत्ति गोरक्षण की ओर है। अतः उससे प्रार्थना की गई है कि वह गौओं की रक्षार्थ उनका अनुगमन करे।[176] जिससे न वे खोयें, न हिंसित हों और न कुएँ या गड्ढों में ही गिरें।[177] दूर गए हुए गोधन की रक्षा के लिए भी उनसे अपने दक्षिण हाथ को फैलाने के लिए कहा गया है (परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्)।[178] यदि कोई पशु खो भी जाये तो वे उसे ढूढ कर ला देते हैं। नष्ट पशु को खोजने के उनके कार्य को सोमान्वेषण का उपमान बनाया गया है।[179] हल की फाल को भी पूषा नियमित करते हैं[180] जिससे फाल बैलों को चोट न पहुँचावे।

---

165 ऋग्वेद 6।55।1

166 ऋग्वेद 6।55।1

167 " 10।17।3

168 " 6।58।2

169 " 10।17।3 अथर्ववेद 18।2।54

170 " 6।54।8

171 " 6।53।1, 6।49।8

172 " 6।53।9, 6।58।2

173 पणेश्चिद्वि म्रदा मनः— ऋ० 6।53।3; परितृंधिपणीनामारया हृदया कवे--ऋ० 6।53।3, 5,6,7।

174 ऋग्वेद 6।53।8

175 ऋग्वेद 10।26।5

176 पूषा गा अन्वेतु—ऋ० 6।54।5,6

177 ऋग्वेद 6।54।7

178 ऋ० 6।54।10

179 नष्टं यथा पशुम्–ऋग्वेद 1।23।13

180 ऋ० 4।57।7

पूषा अपनी हिरण्मयी नौका में अन्तरिक्ष में सूर्यदूत के रूप में भ्रमण करते रहते हैं।[181] वहाँ से वे गोष्ठ में जल-सिंचन करते हैं।[182] मनुष्यों में वे गोप्रदात्री बुद्धि (गोषणि धियं)[183] को जन्म देते हैं। गवाभिलाषी को वे यथेष्ट गोलाभ कराते हैं।[184] स्तोता प्रार्थना करता है कि कभी वह पूषा के व्रत (गोरक्षण) का उल्लंघन न करे।[185]

करम्भ पूषा का प्रिय भोजन है।[186] गौओं में वे सूर्य के हिरण्मय चक्र को प्रवर्तित करते हैं।[187] इस मन्त्र में उन्हें रथीतम कहने का कारण यह ज्ञात होता है कि गोरक्षक पूषा बड़ी ही सावधानी से (बिना) गौओं को हानि पहुँचाये चक्र को निकाल ले जाते हैं। उनका एक विशेषण 'सुगोपा'[188] भी है।

सोम के साथ वे धनों के उत्पादक (जनना रयीणाम्), समस्त भुवनों के गोपा और अमृत की नाभि[189] कहे गए हैं। इनकी सहायता से ही इन्द्र अपक्व गौओं में पक्व दूध को उत्पन्न करता है।[190] गोधन के पालक और गव्यों के उत्पादक होने से ही पूषा को आयु व विश्वायु के परिपालक कहा गया है।[191] वे धन की धारा (रायोधारा) या राशि (वसो राशि)[192] कहे गए हैं। पूषा अन्नों के स्वामी और पुष्टियों के सखा[193] भी हैं। वे मर्त्यों को सुज्ञात गोधन (उस्रियं वसु) प्रदान करते हैं।[194] वे सोने के सींगों वाली गायों (चन्द्राग्रा) का दान करते हैं। (ऋ० 6।49।8) उनसे प्रार्थना की गयी है कि नित्य गोचर भूमि से लौट कर आने वाली गौओं का धन प्राप्त हो और वह शाश्वत रूप से बना रहे।[195] इस प्रकार पूषा गोरक्षक, गो प्रदाता, गव्योत्पादक, गोधन, गव्यभक्षी, तथा मनुष्यों को गो के प्रति उदार बनाने वाले कहे गए हैं।

विष्णु और उनकी गौएँ

360 नाम वाले चक्र (संवत्सर) को प्रवर्तित करने वाला युवा[196] सूर्य ही हो सकता है जिसे संसार में व्याप्त होने या प्रविष्य होने से विष्णु[197] कहा गया है।

---

181 ऋ० 6।58।3
182 ऋ० 10।26।3
183 " 6 53।10
184 ऋग्वेद 6।56।5
185 ऋग्वेद 6।54।9
186 " 6।56।1, 6।57।2
187 " 6।56।3
188 " 6।51।11
189 " 2।40।1
190 पक्वमामास्वन्तः जनदुस्रियासु-ऋ०2।40।2
191 ऋग्वेद 10।17।4
192 ऋग्वेद 6।55।3
193 " 10।26।7
194 " 8।4।16
195 " 8।4।18
196 " 1।155।6
197 अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुः। विशतेर्वा। व्यश्नोतेर्वा यास्क--निरुक्त 12।2।7

इसके वीरकर्म (वीर्याणि) अथवा विक्रम बहुधा उल्लिखित हैं। यह तीन पदों से[198] समस्त विश्व को नाप लेता है। इसीलिए इसे 'उरुगाय' (विस्तृत पाद प्रक्षेप वाला)[199] व 'उरुक्रम'[200] कहा गया है। विष्णु की महिमा का अन्त नहीं है[201] जिसके तीनों पदों में विश्व का निवास है।[202] ये तीनों पद मधु से पूर्ण हैं।[203] उसके परम पद का उल्लेख भी मिलता है।[204] उसके दो पद ही जाने जाते हैं, तीसरा दिखाई नहीं पड़ता है।[205] तीसरे के ज्ञाता व स्वयं है।[206] विष्णु के इस परम पद में मधु का उत्स है[207] और बहुत से सींगों वाली गायें निवास करती हैं।[108] एक अन्य मंत्र के अनुसार विष्णु के इस उत्तम पद को अग्नि धारण करता है उससे गायों के गुह्य नामों की रक्षा करता है।[209] विष्णु को घृताहुतिभाजन (घृतासुति) भी कहा गया है।[210]

विष्णु परम तेजस्वी (शिपिविष्ट)[211] हैं। यह रश्मियों से (मयूखैः) द्युलोक व पृथिवी (रोदसी) को धारण करते हुए मनुष्यों को प्रदान करने के लिए उन्हें अन्न, धन व शस्य से सम्पन्न (इरावती, धेनुमती, सुयवसिनी) बनाते हैं।[212] इन्द्र के साथ विष्णु शम्बर के 99 पुरों का विनाश करते हैं[213] और सखाओं के साथ गोव्रज का उद्घाटन करते हैं।[214] उनको इन्द्र का प्रिय सखा (इन्द्रस्य युज्यः सखा) कहा गया है।[215] पूषा और विष्णु यज्ञ को (धियः—सायण द्वारा प्रदत्त अर्थ), गो प्रधान (गावोऽग्रे यासां ता गो अग्राः अथवा गोलाभफलाः—स्कन्दस्वामी का भाष्य), करते हैं।[216] विष्णु का 'गोपा' विशेषण भी मिलता है।[217] वे आह्लादक धन प्रदान करते हैं।[218] उनको 'सुदानु'[219] कहने का यही कारण है।

---

198 ऋग्वेद 1।22।17; 18; 1।154।1; 3; 1।155।4; 6।49।13; 8।12।28; 8।52।3.

199 ऋग्वेद 1।154।1;3;2।1।3; 4।3।8; 7।100।1

200 " 1।154।5; 1।90।9, 3।54।14; 8।77।10

201 " 7।99।1; 2

202 ऋ० 1।154।2

203 " 1।154।4

204 " 1।22।20; 21

205 " 1।155।5

206 ऋग्वेद 7।99।1

207 " 1।154।5 (विष्णो पदे परमे मध्वः उत्सः)

208 " 1।154।6 (यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।)

209 पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्। ऋग्वेद 5।3।3

210 ऋग्वेद 1।156।1; 6।69।6

211 ऋग्वेद 7।99।7;7।100।5

212 " 7।99।3

213 " 7।99।5

214 " 1।156।4

215 " 1।22।19

216 उत नो धियः पूषन्विष्णावेवयावः। ऋग्वेद 1।90।5

217 ऋग्वेद 1।22।18

218 " 7।100।2 (पुरुश्चन्द्रस्य रायः)

219 ऋ० 8।25।12

विष्णु के उपर्युक्त स्वरूप से ही पुराणों में उनके गोपाल रूप व तत्संबद्ध गो, गोपी, गोप, गोलोक आदि की भावना को विस्तार मिला है।

उषा और उसकी गौएँ

उषा और गो का सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ व अनेकविध है। उदय होती हुई उषा की उपमा धेनु से दी गई है (जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्)।[220] यह लुप्तधर्मोपमा है। यहां गो को रश्मि स्वीकार कर लिया जाय, तो उषा का साधारण धर्म प्रकाश होगा। एक अन्य मंत्र में उपमान और उपमेय का भेद दूर हो गया है और समान धर्म के कारण गो और उषा में अभेद प्रदर्शन किया गया है।[221]

उषा के अधिकतर विशेषण गो से सम्बन्ध रखते हैं। गोमती,[222] विशेषण का तो गो से सीधा सम्बन्ध है। विभावरी,[223] स्वसरस्य पत्नी,[224] अमृतस्य केतु,[225] हिरण्यवर्णा,[226] ज्योतिषां ज्योतिः,[227] सुप्रतीका,[228] सूर्यस्य योषा,[229] अह्नां नेत्री[230] आदि विशेषणों का सम्बन्ध प्रकाश से है। गोयुक्त अन्न और धन (गोमती रिषः,[231] गोमद् रत्नम्,[232] गोमद् राधः,[233] गोमतः वाजान्,[234] गव्य राधांसि[235] आदि विशेषण प्रयुक्त) को धारण करने के कारण वह मघोनी,[236] वाजिनी,[237] वाजिनी-वती,[238] वस्वी,[239] वाजपत्नी,[240] सुम्नावरी[241] तथा चित्रामघा[242] कही गई है। अतः गोयुक्त अन्न को प्रदान करने की प्रार्थना उषा से बार-बार की गई है।[243] उसके द्वारा प्रदत्त सुरूप, विश्ववरणीय, सुखकर धन[244] में गौएँ प्रमुख रूप से होती

---

220 ऋ० 5।1।1
221 " गावो अरुषीर्यन्ति मातरः ऋग्वेद 1।92।1 (उषसो अत्र गाव उच्यन्ते-स्कन्द स्वामी) अन्यत्र-उस्रा-उषा-ऋ० 10।35।4
222 ऋ०1।48।2; 92।14; 113।18; 123।12; 7।41।7; 7।80।3
223 " 1।30।20; 48।1; 10; 92।14; 4।52 6; 5।79।4; 10
224 ऋ० 3।61।4
225 ऋ० 3।61।3
226 " 3।62।2, 7।77।2
227 ऋ० 1।113।1
228 " 1।92।6, 5।5।6
229 " 7।75।5
230 " 7।77।2
231 " 1।48।15, 5।79।8
232 " 7।75।8
233 " 7।77।5
234 " 7।81।6
235 " 5।79।7
236 " 1।48।8, 113।13, 17, 124।10, 3।61।1, 3।61।4, 4।51।3, 5।79।4, 7, 6।65।3, 6, 7।75।5, 7।77।4, 78।4, 7।79।3
237 ऋ० 3।61।1
238 ऋ० 1।48।6, 16, 92।13, 7।75।5
239 " 6।64।1
240 ऋ० 7।76।6
241 " 1।113।12
242 " 7।75।5, 7।77।3
243 अस्मासु गोमद् वाजं धा—ऋ० 1।48।13;1।48।15 आदि
244 ऋ० 1।48।13

हैं।[245] इसीलिए उसे ऐसे धनों की स्वामिनी (व स्व ईशिषे)[246] कहा गया है। स्पृहणीयधनों को वह अन्धकार से प्रकट करती है। (1।123।6)

उषा को ऋत से सम्बन्ध होने के कारण ऋतपा, ऋतेजा,[247] ऋतजातसत्या,[248] ऋतस्य योषा (ऋ० 1।123।9), ऋतावरी[249] आदि विशेषणों से भी सम्बोधित किया गया है। ज्योतिस्वरूपा उषा ऋत के मार्ग पर गमन करती रहती है।[250] उसको वृहद्रथ[251] वहन करता है; जिसमें दीप्तिमती गौएँ जोती जाती हैं।[252] अन्यत्र रथ को खींचने के लिए अरुणवर्णा गौओं के[253] अतिरिक्त अरुण वर्ण अश्वों का[254] उल्लेख भी मिलता है।

उषा कान्तिमान् (सूपेशस ऋ० 1।49।2) रथ से ऋत की रश्मि का अनुगमन करती हुई[256] आती है तथा मनुष्य व पशुओं को प्रबोधित करती है।[257] आती हुई प्राणियों की प्राणस्वरूपा उषा का भावपूर्ण वर्णन इन शब्दों में हुआ है—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।[258]

वह ससार को ज्योति प्रदान करती है[259] इसीलिए संसार के प्राणियों की जीवन स्वरूपा है।[260] वह अजर-अमर[261] है। उषा को यज्ञ की प्रज्ञापिका देवमाता तथा समग्र ज्योतिसमूह की प्रदात्री (स्कन्द स्वामी) कहा गया है।[262] इस रूप में वह प्रकाशमान वत्सों वाली दीप्तिमती गो है (रुशद्वत्सा रुशती) और अदिति से अभिन्न है।

---

245 गो अग्रान् वाजान्। ऋग्वेद 1।92।7
246 ऋ० 4।52।3
247 ऋ० 1 113।12
248 ऋ० 1।123।9
249 " 3।61।6; 4।52।2, 4।80
250 ऋतस्य पन्थामन्वेति ऋ० 1।124।3, 5।80।4
251 ऋग्वेद 1।123।1; 5।80।2
252 अरुषीर्गा अयुक्षत। ऋ० 1।92।2
253 युक्ते गवामरुणानामनीकम्। ऋ० 1।124।11, वहन्तु अरुणप्सवः— ऋ० 1।49।1, 5।80।1 अरुणप्सुरुषा ऋ० ।73।16 (स्कन्द स्वामी ने 'प्सुः' का अर्थ अश्व भी किया है); 5।80।3, 6।64।3
254 1. युक्ष्वा अद्यारुणान् अश्वान् ऋ० 1।92।15
2. प्रबोधयन्ती अरुणेभिरश्वैः ऋ० 1।113।14
3. चन्द्ररथा अरुणायुग्भिरश्वैः ऋ० 6।65।2
256 ऋ० 1।123।13
257 ऋ० 4।51।5, 1।92।9
258 " 1।113।16
259 " 1।48।8
260 " 1।48।10
261 " 1।113।13
262 माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुः विभाहि ऋ० 1।113।19

उषा के आने पर विचित्र दीप्ति वाले सूर्य का आविर्भाव होता है ।[263] सूर्य गौओं का सर्जन करता है ।[264] अतः पूर्वापर योग से उषा को भी गायों की माता कहा गया है ।[265] गौओं का आनयन करने से वह 'गवां नेत्री' भी कही गई है ।[266] वह गौओं के निवास स्थान या चरागाह (गव्यूती) को निर्भय बनाने वाली है ।[267] गौओं के प्रति अतीव उदार होने से उषा से गौओं के दुःस्वप्न को दूर करने के लिए प्रार्थना की गई है ।[268]

उषा की अरुणी गौओं का उल्लेख ऊपर हुआ है । उषा उनको उक्थोच्चारण से अन्धकार का नाश होने पर प्रकट करती है ।[269] उषा को सत्यमंत्र-अंगिराओं ने निगूढ़ ज्योति के रूप में जन्म दिया है ।[270] उषा के सहयोग से अंगिराओं ने गायों के अद्रिनिहित गोत्रों का उद्घाटन किया है ।[271] अंगिरा लोग गौओं की प्राप्ति के लिए एक मत रहते हैं ।[272] उनके गो प्राप्ति कार्य में प्रवृत्त होने पर उषा अद्रियों के दृढ़ द्वारों को खोल देती है ।[273] अन्धकार के व्रजों के द्वारों को [274] उन्मुक्त करते समय पणियों को सोते रहने देने की बात कही गई है ।[275]उषा की गौएँ अन्धकार को भली प्रकार आच्छादित कर लेती हैं ।[276] सत्य से सत्यव्रती, महिमा से महती; दिव्यभाव से देवी और यज्ञों से यजनीया उषा अन्धकार भेदन करके गौओं को प्रकाश प्रदान करती है, अतः गायें उषा की कामना करती हैं ।[277] जैसे उसकी गायें अपने ऊध प्रदेश को प्रकट करती हैं और व्रज को आच्छादित करती हैं वैसे ही उषा अपने वक्षस्थल को प्रकट करती तथा समस्त भुवनों को ज्योति प्रदान करती हुई अन्धकार को आच्छादित कर लेती है ।[278] अन्धकार में से उषा ने हमारे पूर्वजों द्वारा आह्वान

---

263 चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना ऋ० 1।113।15 (केतुम्=सूर्यम् ।)
264 उदुस्रियाः सृजते सूर्यः 7।81।1 (उस्रिया-किरणें)
265 गवां जनित्री ऋ० 1।124।5; माता गवाम्-ऋ० 4।52।2;3;7।77।2
266 ऋग्वेद 7।76।6 उषा का सूनरी (सुनेत्री) विशेषण भी है–ऋ० 1।48।8
267 उर्वी गव्यूतिमभयं कृधी नः । ऋ० 7।77।4
268 गोषु दुष्वप्न्यं परावह । ऋ० 8।47।15
269 ऋग्वेद 4।2।16
270 ऋग्वेद 7।76।4
271 " 6।65।5
272 समान उर्वे अधि संगतासः ऋ० 7.76।5
273 ऋग्वेद 7।79।4
274 ऋ० 4।51।2
275 पणयः ससन्तु—ऋ० 1।124।10; 4।51।3
276 ते गावः तम आवर्तयन्ति–ऋ० 7।79।2
277 सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः ।
रुजद् दृढानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ऋ० 7।75।7
278 ऋग्वेद 1।92।4

किये जाने पर सुदुघा गौएँ प्रकट कर दी थी ।[279] उषा के आगमन के साथ ही उसकी गौएँ अपने पुष्ट ऊध-प्रदेश सहित मार्ग पर चल पड़ती हैं ।[280] ऋत के सदनों को प्रबोधित करती हुई दिव्य उषाएँ गो सृष्टि के समान ही स्तुत होती हैं ।[281] उषा की कल्याणकारिणी गो सृष्टि उसकी रश्मियों के समान ही दृष्टिगत होती है और उषा महान् दीप्ति से उस गो सृष्टि को परिपूर्ण कर देती है ।[282]

उषा का एक रूप द्युलोक की दुहिता का है ।[283] यास्क ने दुहिता का अर्थ दुहने वाली भी किया है ।[284] वह घृत को दोहन करके प्रवर्धित होती है ।[285] धेनु रूप से वह स्वयं अग्नि के लिए काम्य वस्तुओं का दोहन करती है ।[286]

अतः स्पष्ट है कि उषा के मातृत्व, दुहितृत्व आदि रूपों के मूल में गो है । वह गौओं की सहचारिणी व गो स्वरूपा भी कही गई है ।

अश्विन्-द्वय व गो

द्युस्थानीय देवताओं में अश्विन्-द्वय को प्रथमागामी कहा गया है ।[287] रस और ज्योति के द्वारा सबको व्याप्त करने के कारण इन्हें 'अश्विन्' नाम दिया गया है ।[288] इनकी प्रथम (रसान्वयी) विशेषता के कारण इनका सम्बन्ध मधु से जुड़ गया है । इस रूप का सम्बन्ध मध्यम स्थान से है । उन्हें मधुवर्ण,[289] मधूयु,[290] मधुप,[292] मधुपातम (मधुपातमौ)[293] आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है । उनका रथ भी मधुवर्ण[294] व मधुवाहन[295] कहा गया है । वे ही मधुमक्खियों को

---

279 ऋ० 4।1।13

280 ऋ० 10।172।1

281 ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते । ऋ० 4।51।8

282 प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः । ओषा अप्रा उरु ज्रयः । ऋग्वेद 4।52।5
(सायण ने उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में गवां सर्गाः का अर्थ जलसृष्टि कारिणी रश्मियाँ किया है । द्वितीय प्रसंग में 'रश्मयः' शब्द का प्रयोग इस अर्थ की असंगति को प्रकट करता है । उषा के मातृस्वरूप का वर्णन ऊपर किया गया है । इस (4।52) सूक्त में भी उसे 2 बार 'गवाम् माता' कहा गया है । अतः 'गोसृष्टि' का सम्बन्ध उसके इस स्वरूप से ही ज्ञात होता है ।

283 ऋ० 1।30।22; 1।113।7, 1।124।3; 4।30।9, 4।51।11; 52।1; 5।79।2, 6।64।4, 7।75।4 आदि ।

284 नि० 3।1।4

285 घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता । ऋ० 7।80।3

286 ऋग्वेद 3।58।1

287 निरुक्त 12।1।1

288 यद् व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेन अन्यः ज्योतिषा अन्यः—निरुक्त 12।1।1

289 ऋग्वेद 8।26।6

290 ऋ० 5।73।8; 74।9

292 " 1।180।3

293 " 8।22।17

294 " 5।77।3

295 " 1।34।2, 1।157।3, 10।41।2

को मधु प्रदान करते हैं।[296] इनके पास यज्ञ की ओर जाने वाली एक मधुमती-कशा,[297] भी है; जिसकी अदिति से अभिन्नता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि मधुकशा के 7 मधुओं में से एक धेनु भी है।[298] गौओं में भी मधु है[299] पुनश्च उनके मधुमती होने के लिए प्रार्थना की गई है।[300] मधुकशा का दुग्ध ही विश्व का रूप धारण किए हुए है।[301] अपने दुग्ध से यह सबको तृप्ति प्रदान करती है।[302] इस प्रकार मधुकशा गो से अभेद सम्बन्ध रखती है।

अश्विन्-द्वय रथीतम कहे गये हैं।[303] उनके इस रूप का भी गो से सम्बन्ध है। उनके रथ का एक चक्र अहिंसितव्य वृषभ (प्रजापति या आदित्य-स्कन्द स्वामी अविनाशी पर्वत-सायण) के सिर पर स्थिर है।[304] यह रथ मनुष्यों और पशुओं का कल्याण करने वाला है;[305] इसमें वृषभ व शिशुमार जुतते हैं।[306] रथ का 'गोमत्' विशेषण भी उल्लिखित है।[307] एक दूसरा रथ का विशेषण 'घृतवत्' है।[308] उनके गोसंयुक्त रथ का आह्वान किया जाता है।[309] एक मंत्र में स्तोता अश्विनीकुमारों से अभिहित लाभ के लिए गो प्राप्ति के साधनभूत रथ (गोरोहेण)[310] द्वारा यज्ञ में आने को कहता है। अश्विनीकुमारों का रथ घृतस्रावी और अन्न को वहन करने वाला[311] है। कदाचित् रथ का यह रूप ही 'गोर्न सेके'[312] उपमान के प्रयोग का

---

296 ऋ० 1।112।21 तथा 10।40।6 भी द्रष्टव्य

297 " 1।22।3, 1।157।4

298 अथर्ववेद 9।1।22

299 अथर्ववेद 9।1।18

300 माध्वीर्गावो भवन्तु नः–ऋ०10।90।8

301 महत्पयो विश्वरूपमस्याः। अथर्ववेद 9।1।2

302 पयते पयोभिः। अथर्ववेद 9।1।8

303 ऋग्वेद 1।22।2

304 न्यघ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः। ऋ० 1।30।19

305 ऋग्वेद 1।157 3

306 ऋग्वेद 1।116।18

307 गोमता रथेन आयातम्। ऋ० 7।72।1

308 ऋग्वेद 1।34।10

309 " 4।44।1 गोः संगतिं रथं वयं हुवेम।

310 ऋग्वेद 1।180।5 (सायण ने गोरोहेण के दो अर्थ किए हैं 1--गोः ओहेन—गोः स्तुति रूपाया वाच ओहेन वहनेन--साधनेन-स्तुतिरूपी साधन द्वारा; 2–गन्त्या उषसो वहनेन—गतिशील उषा द्वारा। अश्विन्-द्वय के रथ के साथ गो का सम्बन्ध गोमत्, गोसंगति आदि उपर्युल्लिखित विशेषणों से स्पष्ट है। अतः यहाँ गोरोहेण का अर्थ गोः वहनेन-साधनेन-'गो प्राप्ति के साधनभूत' करना सर्वथा उचित है। रथ में वृषभ योजित होने से 'वृषभ वाहन वाले रथ से' अर्थ भी गम्य है।

311 हिरण्यत्वङ्मधुवर्णो घृतस्नुः पृक्षो वहन्ना रथो वर्तते वाम् ऋ० 5।77।3

312 ऋ० 1।181।8

कारण हो। रथ का एक और विशेषण 'गो की ओर जाने वाला' (उस्रयामा)[313] भी है। वह घृतमार्ग (घृतवर्तनिम्) पर चलता है (ऋ० 6।69।1)

अश्विनीकुमार देवभिषक्[314] कहे गए हैं वे अपनी दिव्य औषधियों[315] का प्रयोग करके मनुष्यों की तरह पशुओं को भी रोगमुक्त कर देते हैं। शयु की प्रसव-निवृत्ता गो को पुनः प्रसूता व दुग्धवती बनाकर पुष्ट करने का उल्लेख बहुधा मिलता है।[316] वे अपरिपक्व गौओं परिपक्व मधुर दूध रख देते हैं[317] और उनके कल्याण के लिए पुष्टिकर अन्न प्रदान करते हैं।[318]

अश्विनीकुमार अनेक प्रकार से गायों की रक्षा करते हैं।[319] वे घृत से 'गव्यूती' का सिंचन करते हैं।[320] गोस्तन में दुग्ध संचार करते हैं।[321] इसके अतिरिक्त गोरक्षकों की रक्षा भी करते हैं। उन्होंने पृश्निगाय वाले पुरुकुत्स की रक्षा की[322] अध्रिगु,[323] अतिथिग्व दिवोदास[324] तथा अगस्त्य[325] की रक्षा की। युद्ध में (गोषुयुधम्—गोषु अपह्रियमाणासु तद्रक्षार्थं यो युध्यते स गोषुयुत्-स्कन्दस्वामी) गो की रक्षा के लिए लड़ने वालों की सन्तानों की रक्षा करना भी वे नहीं भूलते तथा उन्हें विजय प्राप्त कराते हैं।[326]

अश्विनीकुमार गोरूप धन के धारक पर्वतों (या उनकी गुहाओं में) में उन्हें खोजने सर्वप्रथम पहुंचते हैं।[327] वे गोव्रज का उद्घाटन करने के लिए पर्वतों के दृढ़ द्वार खोल देते हैं।[328] उन्होंने त्रिशोक की गायों का उद्धार किया था।[329] वे गायों को जीतते हैं (धेनुर्जिन्वत ऋ०8।35।18)

अश्विनी कुमारों के प्रभूत गोधन को व्यक्त करने वाला उनका 'गोमघा' (गोमघौ)[330] विशेषण है। उनकी कृपा से स्तोता भी उत्तम गो वाला हो जाता

---

313 ऋ० 7।71।4 उस्रा गो का नाम है।

314 " 8।18।8 315 " 1।34

316 " 1।112।3, 1।116।22, 1।117।20, 1।118।2,8, 1।119।6, 6।62।7, 7।68।9, 10।39।13

317 आमासु पक्वं मधु गोष्वन्तरा ऋग्वेद 10।106।11 तथा 1।180।3

318 ऋ० 8।5।20

319 " 10।40।12 (गोपा अभूतम्) तथा ऋ० 1।120।7 (सुगोपा स्यातम्)

320 " 8।5।6 321 ऋ० 10।106।10

322 पृश्निगुं पुरुकुत्समावतम्। ऋ० 1।112।7

323 ऋ० 1।112।20 324 ऋ० 1।112।14

325 " 8।5।26 326 " 1।112।22

327 अग्रं गच्छथो विवरे गो अर्णसः। ऋ० 1।112।18

328 ऋ० 6।62।11 329 ऋ० 1।112।13

330 ऋग्वेद 7।71।1 Rich in cows--Macdonell--Vedic Reader P.130

है[331] तथा गौएँ शिशुओं को छोड़कर स्तोता के घर से कहीं नहीं जातीं।[332] गोयुक्त धन प्रदान करने के लिए वे रथ से आते हैं।[333] उनसे प्रीतिकरी तथा कहीं न जाने वाली धेनु की याचना की गई है।[334] वे अपरिमित गौओं के साथ स्तोता के पास आते हैं।[335] वे अरुण वर्ण की गौएँ प्रदान करते हैं।[336]

अश्विनों में से एक द्युलोक का अधिवासी है। अतः रसादान भी उनका कार्य है। आदित्यों की तरह उन्हें भी वृषभ कहा गया है, जो गोयज्ञ में प्रवृत्त होने वाले यजमानों के यहाँ सोमपान करने के लिए जाते हैं।[337] वे दुग्ध मिश्रित सोम का पान करते हैं।[338] गो से प्राप्त दुग्धादि पक्व-अन्न उनका पोषण करते हैं।[339] वे भी जीवन धारण करने के लिए स्तनों की तरह ही दूध पिलाते हैं।[340] आदित्य की तरह वे भी दोहन कार्य करते हैं। एक मंत्र के अनुसार वे गोस्तन की तरह सोमलता को दुहते हैं।[341] अन्यत्र दूध दुहने का उल्लेख भी मिलता है।[342] मित्रों के पानार्थ याचना करने पर वे दोहन कार्य में प्रवृत्त होते हैं और धेनु युक्त अन्न प्रदान करते हैं।[343] यजमानों की इच्छा पूर्ति के लिए वे गो के स्थान (गोष्पदे) पर दुग्धवती गौएँ प्रदान करते हैं।[344] उनके द्वारा प्रदत्त अन्न घृत चुलाने वाले होते हैं।[345] वे यज्ञ मार्ग को भी गोयुक्त करके उस पर आते हैं।[346] उनकी कृपा बुद्धि भी धेनु के समान स्तोता की ओर दौड़ती हुई आती है।[347]

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता और गो

इन्द्र और गो

इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं।[348] अन्तरिक्ष स्थानीय देवता होने से रसप्रदत्ति या वृष्टि व बलकृति इन्द्र के कार्य कहे गये हैं।[349]

---

331 सुगवः स्याम ऋ० 1।116।25
332 माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः। ऋग्वेद 1।120।8
333 ऋ० 1।92।16 334 " 6।63।8
335 " 8।73।14 व 15
336 अरुणीरशिक्षतम्--ऋग्वेद 1।112।19 337 ऋ० 9।57।3
338 " 3।58।4—वां गो ऋजीका मधूनि।
339 पक्वाः पृक्षो भरन्त वाम्। ऋ० 5।73।8 तथा वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः। ऋ० 4।43।5
340 स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः। ऋ० 2।39।6
341 ऋग्वेद 8।8।19 342 ऋ० 7।74।3
343 ,, 1।120।9 344 ,, 1।158।2
345 इषं धत्त घृतश्चुतम्। ऋ० 8।8।15, उर्जं घृतश्चुतम् यच्छतम्। ऋ० 8।8।16
346 ऋ० 8।22।17 347 ऋ० 8।22।4
348 वैदिक माइथोलोजी—(हिन्दी अनुवाद) पृ० (102) (चौ०)
349 निरुक्त 6।3।3

रसप्रदत्ति में ये सुदुघा गो के समान अथवा उससे अभिन्न है और इनकी बलकृति का फल गो प्राप्ति है। इन दो प्रमुख विशेषताओं के कारण ही इन्द्र ऋग्वेद में गोपोषक, गोपोषित, गोपति, गोजेता, गोदाता, गोसखा, गोधनी आदि रूपों में उल्लिखित हैं। उनके इन सभी रूपों के निम्न परिचय से यह बात भली प्रकार से प्रमाणित हो जाती है।

इनका पराक्रमी रूप सर्व प्रथम अध्येता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। यह रूप रथी योद्धा[350] का है, जिसकी भुजाएँ गो जीतने वाली हैं[351] और जो गो प्राप्ति का इच्छुक[352] होने के कारण अपने पृथिवी और द्युलोक को कंपाने वाले[353] सामर्थ्य से गौओं को प्राप्त कर लेता है।[354] इन्द्र को गो प्राप्ति के लिए होने वाले युद्धों में सदा विजय प्राप्त होती है।[355] स्तोता भी ऐसे युद्धों में उसका नेतृत्व स्वीकार करके[356] गोजेता बनने की इन्द्र से प्रार्थना करता है।[357] वह अपने गोरक्षक वज्र[358] और गोप्रापक रथ[359] की सहायता से गौओं को जीत लेता है।[360] वह युद्ध में भी गोरक्षा का ध्यान रखता है।[361] गौयें इन्द्र को बहुत ही प्रिय हैं।[362] उनकी इच्छा करता हुआ इन्द्र पर्वतशिखरों को छिन्न-भिन्न कर देता है।[363]

इन्द्र ने वृत्र, बल आदि अनेक शत्रुओं को मारा है। उनके वध का तात्कालिक फल गो मुक्ति है। अपराजित,[364] अमितोजा[365] इन्द्र ने बल द्वारा पर्वतों में निरुद्ध गौओं को बल को मार कर मुक्त कर दिया।[366] एक मन्त्र में इन्द्र द्वारा प्रभिन्न

---

350 ऋग्वेद 3।31।20, 1।173।4,5, 6।29।2, 6।21।1, 22।5
351 ऋग्वेद 1।102।6 (गोजिता बाहू)
352 गव्युः। ऋ० 3।31।18, 7।31।3, गवेषणः ऋ० 8।17।15
353 ऋग्वेद 2।12।1
354 ऋग्वेद 1।71।2, 81।96।17
355 ऋग्वेद 4।17।10, 4।21।4
356 ऋग्वेद 10।147।2
357 कृणुहि गोजितः नः—ऋग्वेद 3।31।20
358 ऋग्वेद 6।41।2
359 गोविद् रथ–ऋ० 1।82।4, गवेषण रथ ऋ० 7।23।3, 10।103।5
360 गाः समजयत्। ऋ० 4।17।11
361 ऋग्वेद 1।33।15
362 प्रिया इन्द्रस्य धेनवः। ऋ० 1।84।11
363 उस्रा वशानः सानुं विरुजत्। ऋ० 6।39।2
364 ऋ० 1।11।2
365 " 1।11।4
366 " 1।11।5, 2।12।3, 2।14।3, 8।14।8

गोव्रज को ही वल नाम दिया है,[367] अन्यत्र 'गोत्र' शब्द उन पर्वतों के लिए व्यवहृत हुआ है जिन्हें इन्द्र ने छिन्न-भिन्न किया।[368] इन्द्र का यह कार्य उनके 'गोत्रभिद्'[369] नाम को सार्थक करता है। वह प्रस्तरों में अच्छी तरह छुपाई हुई गौओं को भी छुड़ा देता है।[370] एक मंत्र में इन्द्र द्वारा सूर्य को उत्पन्न करके गो प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।[371]अन्यत्र ज्योति द्वारा अन्धकार से गो दुह लेने का उल्लेख मिलता है।[372] ये स्थल अन्धकार से सम्बन्ध रखने वाले पणियों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिन्होंने गायों को रोक लिया था[373] और इन्द्र ने सरमा की सहायता से उनका पता लगाकर[374]पणियों से गौएँ छीन लीं।[375]उसने वृत्र द्वारा प्रेरित अस्त्र को सरलतया निवारित करके गायों को जीता नदियों को प्रवाहित किया।[376] गोविजय में वह मुद्गल का सहायक बना।[377] उसने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के तीन सिरों को काट कर उसकी गौयें भी प्राप्त कीं।[378] इन्द्र गोधन के कारण ही पुरूवसु[378A] व मघवा[379] कहा गया प्रतीत होता है। गौएं उसके आदेश को मानती हैं।[380] समर्थ इन्द्र की गौएँ भी शक्तिशालिनी हैं, अतः 'शाचिगो' इन्द्र का विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[381] युद्ध में गोओं को जीत कर उनकी संख्या बढ़ाने से 'भूरिगो'[382] व 'गवां पुरुकृत्'[383] शब्दों का प्रयोग इन्द्र के लिए हुआ है।

---

367 ऋ० 3।30।10
368 " 1।51।3, 3।30।21, 3।43।7, 4।16।8, 10।103।7 आदि।
369 " 2।23।3, 6।17।2, 10।103।5
370 " 5।30।4, 6.43।3
371 " 2।19।3
372 " 1।33।10 ऐसे स्थल प्रतीकात्मक हैं जिनका विवेचन आगे होगा।
373 " 10।108 सूक्त द्रष्टव्य।
374 " 3।31।6, 4।16।8, 5।45।7,8
375 " 1।32।11, 1।121।4, 6।17 3, 6।39।2 आदि स्थल
376 " 1।32।12
377 " 10।102।2--9
378 " 10।8।8.9
378A ऋग्वेद 8।52।5
379 ऋग्वेद 1।32।3, 3।30।3, 4।17।8, 8।52।5, 8।53।1 आदि। ऋग्वेद की मघवा की परिभाषा मंह् धातु से गोधनदाता – गोमतः मघं मंहते ऋ० 1।11।3 मानी जा सकती है।
380 यस्य प्रदिशि गावः। ऋ० 2।12।7
381 ऋ० 8।17।12
382 " 8।62।10
383 " 8।61।6

प्रभूत गोधन के कारण उसे गौग्रों का स्वामी (वशी)[384] कहा गया है। गोपालक होने से गोपा[385] और गोपति[386] विशेषण इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। गायों के लिए विस्तृत मार्ग बनाना[387], अपरिपक्व गायों में परिपक्व दुग्ध धारण कराना[388] काली और लाल गौग्रों में भी श्वेत दुग्ध रख देना[389] आदि की इन्द्र की सामर्थ्य किसी भी तरह उसके शत्रु विजय कार्य से कम नहीं है। वह जैसे गो की पुष्टि करता है वैसे ही यज्ञ को भी करता है।[390] अतः उसे गो का परम कल्याण करने वाला (शिवतम)[391] व गोसखा[392] कहा गया है। गोपाजिह्व[392अ] उनका अन्य विशेषण है।

गौएँ भी उसके लिए प्रभूत (यहाँ तक कि 3-3 हौजत्रीणि सरांसि—भर कर) दुग्ध प्रदान करती हैं।[393] सारी गौएँ इन्द्र के लिए सेवनीय हैं।[394] वह घृत व दुग्ध या दधि मिले हुए सोम का सेवन करता है जो उसका अत्यन्त प्रिय खाद्य है।[395] घृत युक्त-हव्य-धारिणी, प्रशस्ता गो से ये मधुर, स्वादिष्ट दुग्धादि दुह लेते हैं।[396] इनके लिए पृश्निधेनु प्रभूत दुग्धदात्री होती है।[397] इन्द्र के दोहन कर्म का उल्लेख भी मिलता है[398], इससे इस कार्य में उनकी कुशलता व्यञ्जित होती है।

---

384 ऋ० 1।101।4 385 ऋ० 5।31।1

386 " 1।101।4, 3।31।4,21, 4।24।1, 30।22, 7।98।6, 8।18।4, 8।62।7, 69।4, 10।47।1, 108।3 अघ्न्यानां पति-ऋ० 8।69।2

387 ऋग्वेद 8।68।13

388 ऋग्वेद 3।30।14;6।44।24;8।32।25;8।89।7

389 ऋग्वेद 8।93।13

390 ऋग्वेद 3।45।3 (क्रतुं पुष्यसि गा इव)

391 " 8।69।10 तुलनीय ऋ० 6।45।22

392 " 8।14।1 (मन्त्र में स्तोता कहता है कि यदि मैं तुम्हारी तरह ऐश्वर्य-शाली बन जाऊँ तो मेरा स्तोता गोसखा बने। व्यंजना से अर्थ निकला तुम गो सखा हो मुझ स्तोता को भी ऐसा बनाओ तुलनीय --गोमान् इत् ते सखा-ऋ० 8।4।9)

392अ-ऋ० 3।38।9 393 ऋग्वेद 8।7।10

394 ऋग्वेद 1।173।8

395 1. पूतं घृतं न—ऋ० 8।12।4
2. गो ऋजीकं—ऋ० 6।22।7, 7।21।1
3. गवाशिर—ऋ० 1।187।9, 3।42।1,7, 8।52।10, 8।69।6
4. दध्याशिर्—ऋ० 1।5।5, 7।32।4, 9।63।15

396 ऋग्वेद 3।31।11

397 श्रिये ते पृश्निरुपसेचनी भूत्—ऋग्वेद 10।105।10 तुलनीय त्वे सुदुघा गावः—ऋ० 7।18।1

398 उरुधारेव दोहते। ऋग्वेद 8।93।3 यहाँ कहा गया है जैसे इन्द्र गो दुहते हैं वैसे हमारे लिए धन दुहें।

ऋग्वेद में गो से इन्द्र को अभिन्न भी बताया गया है ।[399] एक मन्त्र में कहा गया है इन्द्र गो प्राप्ति के लिए इच्छुक स्तोता के लिए गो ही है ।[400] एक अन्य मन्त्र में इन्द्र को अमृतवर्षी, प्रशंसनीय वेग वाली, प्रभूतधाराओं वाली, वांछनीया, सुदुघा गो कहा गया है ।[401]

इन्द्र का यह गो रूप उनकी दूसरी विशेषता – वर्षण कर्म की ओर ध्यान आकृष्ट करता है ; इस कर्म के कारण ही उन्हें वृषभ[402] विशेषण से संयुक्त किया गया । जिसका अर्थ सायण ने (जलवर्षक होने के साथ ही) कामनाओं का वर्षक (कामानां वर्षिता)[403] किया है । ऋग्वेद में गौओं द्वारा कामनाओं को पूर्ण करने के लिए स्तोता इन्द्र से प्रार्थना करता है ।[404] एक मन्त्र में कहा गया कि गो की तरह इन्द्र का दोहन करने के लिए स्तुति की जाती है ।[405] गो के रूप में जो इन्द्र की दोहन क्षमता है व वृषभ रूप में सेचन सामर्थ्य में बदल जाती है । इन्द्र को वृषभों में ज्येष्ठ (वृषभाणाम् ज्येष्ठम्)[406] व श्रृंगवृषो नपात्[407] कहा गया है ।

इन्द्र का सेचक या वर्षक स्वरूप गो अश्वादि युक्त धन प्रदान करने वाले के रूप में भी प्रकट हुआ है । वह स्वयं गोदाता (गोदाः)[408] है और गोदाओं का रक्षक (गोदत्र)[409] भी है । वह शत व सहस्र गोधन देता है,[410] झुंड के झुंड देता है,[411]

---

399 इमा या गावः स जनास इन्द्रः । ऋ० 6।28।5

400 गोरसि वीर गव्यते । ऋ० 6।45।26

401 आ त्वद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारमरंकृतम् ।।ऋ० 8।1।10

402 ऋग्वेद 1।9।4, 1।54।2, 2।12।12 आदि ।

403 स्कन्द स्वामी ने केवल वर्षिता अर्थ किया है ।

404 गोभिः कामं आपृण – ऋग्वेद 1।16।9

405 धेनुं न त्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः । ऋ० 7।18।4

406 ऋग्वेद 8।53।1

407 ऋग्वेद 8।17।13 (सायण--श्रृंगवृष ऋषि के पुत्र । यह शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है । इस का विग्रह होगा 'श्रृंग एव वृषः यस्य सः । सहस्रश्रृंग वृषभ का उल्लेख ऋग्वेद में है । यहां इन्द्र को उसी का पुत्र बताया गया प्रतीत होता है ।)

408 गोदाः–ऋ० 3।30।21, 1।4।2, 4।22।10, 8।45।19 तथा गोषणः— 4।32।22

409 ऋ० 8।21।16 तुलनीय ऋ० 1।51।6, 1।53।8 - अतिथिग्वा – अतिथि को गो देने वाला-का रक्षक इन्द्र ।

410 ऋग्वेद 8।78।1, 8।34।14 तुलनीय 1।29।1-7

411 ददिर्य्था गवाम्-ऋ० 1।81।6 तुलनीय 6।2।14

सुवर्ण व आभूषणों सहित देता है[412] और बार-बार देता है ।[413] उसके पास काम-धेनु है जो यजमान को देने के लिए इन्द्र को गो व अश्व उपलब्ध कराती है[414] तथा दुग्ध, घृतादि उसी प्रकार प्रदान करती है जैसे कोई पके हुए फलों की शाखा (पक्वा शाखा न) हो ।[415]

इंद्र दान देने के लिए ही गौओं को प्राप्त करता है[416] और बहुतों को दुग्धादि प्रदान करके तृप्त करने वाली (पुरुभोजसम्)[417] गो देते हैं । इन्द्र से बार-बार स्तोता प्रार्थना करते हैं कि वह गो देने वाला है,[418] अतः गो प्रदान करे,[419] गोधन से युक्त अन्न (यजमान के लिए) धारण करे तथा सुदुघा धेनु को पुष्ट करे,[420] इस विषय में (गोधन दान करने में) वह कंजूस न बने ।[421] इद्र ही गौओं को वत्स संयुक्त करता है[422] और बैलों में बल निविष्ट करता है ।[423] वह जिसका रक्षक बन जाता है वह गायों की गोष्ठ का स्वामी बनता है ।[424]

अतः स्पष्ट है कि इंद्र के बल, वैभव व दान का[425] गो से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

---

412 ऋग्वेद 8।78।2

413 ऋ० 5।30।11

414 धेनुष्ट इंद्र सूनृता .... गां अश्वं दुहे-ऋ० 8।14।3

415 ऋग्वेद 1।8।8
(स्कन्द स्वामी का भाष्य उपर्युक्त अर्थ के लिए द्रष्टव्य)

416 " 1।101।5, 5।29।3

417 " 3।34।9 तुलनीय ऋ० 10।133।7

418 दुर इन्द्र गोरसि । ऋ० 1।53।2

419 गाः नृ्नृ रिरीहि । ऋ० 6।39।5; गोः प्रदातुनः ऋ० 8।52।5; नः गाः सं किर । ऋ० 6।46।2; गाव इन्द्रो मे अच्छात् । ऋ० 6।28।5; गो अर्णासं रयिं वि ऊर्णाहि—ऋ० 10।38।2; गोमत् व्यन्त नः पात—ऋ० 7।27।5 गोमत् श्रवः धेहि—ऋ० 1।9।7 आदि स्थल ।

420 ऋ० 6.35.4

421 मा पणि र्भूः—ऋ० 1।33।3 तुलनीय ऋ० 8।97।2
(कंजूस को गोधन दे भी मत)

422 ऋ० 5।30।10

423 बलं अनुड्डुत्सु धेहि—ऋ० 3।53।18

424 इन्द्रो यस्याविता गमत्स गोमति व्रजे 7।32।10 तुलनीय 7।27।1; 8।51।5 तथा 3।39।4

425 इन्द्र का स्वराट् रूप विराट् गो की तुलना में आगे स्पष्ट होगा ।

अपां नपात् और गो

यास्क ने आचार्य कात्थक्य का मत उद्धृत करते हुए अपां नपात् को तनून-पात् से अभिन्न आज्य (घी) बतलाया है क्योंकि वह गो (तनूः--तता अस्या भोगाः) का पौत्र है । शाकपूणि के अनुसार वह अग्नि है ।[426] अन्तरिक्षस्थानीय होने से वर्षण-कर्म अपांनपात् के साथ भी संयुक्त है । वह परम पद में निवास करता है ।[427] वह इंद्र को बलकर्म में प्रयुक्त होने के लिए वृद्धिकर मधुर जल प्रदान करने वाला कहा गया है,[428] उसके कल्याणकारी रूप का आह्वान किया जाता है ।[429] अपांनपात् के पास एक सुदुघा धेनु है जो इनके घर में दूध देती है ।[430] एक मंत्र में इन्हें घृत-पान करने वाला कहा गया है ।[431] जलसमूह इनके अन्न घृत को वहन करते हुए इन्हें व्याप्त करते रहते हैं ।[432] एक मंत्र में व्यंजना से इन्हें अग्नि के साथ साधु पुरुषों को (गो रूपी) धन देने वाला भी कहा गया है ।[433]

रुद्र और गो

रुद्र के दो रूप ऋग्वेद में चित्रित हुए हैं, पहला आयुधधारी एक भयंकर देवता का और दूसरा मनुष्यों का व पशुओं के हितकारी चिकित्सक का । उनका 'द्विबर्हा' (द्विधा प्रवर्धित) विशेषण उनके इन दोनों रूपों की ओर संकेत करता है ।[434] स्तोताओं के लिए उनका उत्तम चिकित्सक (भिषक्तम)[435] व लोकहितकारी (मीढ्वस)[436] रूप ही स्तुत्य व प्रिय रहा है । इसीलिए उनसे मनुष्यों व पशुओं के

---

426 निरुक्त 10।2।5 तथा 8।2।2

427 ऋग्वेद 2।35।14

428 मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय । ऋ० 10।30।4

429 शं नो अपांनपात्—ऋ० 7।35।13 तथा 7।34।15

430 ऋग्वेद 2।35।7

431 घृतमन्नमस्य ऋ० 2।35।11

432 ऋग्वेद 2।35।14

433 ऋग्वेद 6।13।3 यह कहा गया है पणियों को (गो—) धन न दो । इसका व्यंजना से यह अर्थ सम्भव है कि साधुपुरुषों को दो ।

434 ऋग्वेद 1।114।10 [स्कन्द स्वामी ने इस मन्त्र पर टिप्पणी लिखी है कि मध्यम—स्थानीय होने पर भी दिव्य आदित्य से प्रवृद्ध होकर वह रसों को ग्रहण करता है और अन्तरिक्ष में प्रवृद्ध होने से वर्षण सामर्थ्य भी रखता है अथवा वह संग्राम (में भयंकर) व यज्ञ (में सौम्य) में पराक्रम प्रकट करने वाला है ।

435 ऋग्वेद 2।33।4

436 मीढ्वस ऋ० 1।114।3, मील्हुष्टम—ऋ० 1।43।1, शिव 10।92।9

प्रति कल्याणकारी होने की प्रार्थना की गई है।[437] ऐसे प्रसंगों में गो का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है।[438] रुद्र से स्तोता गौग्रों को हिंसित न करने के लिए कहता है।[439]

रुद्र को वृषभ[440] कहा गया है; जिसके द्वारा प्रदत्त सुख (सुम्न)[441] बहुधा उल्लिखित हैं। एक मंत्र में स्तोता कहता है कि मैं तुम्हें पशुपालक के समान मान कर स्तुति कर रहा हूँ। मरुत्पिता मुझे तुम्हारा सुख प्रदान करो।[442] ऐसा सुख यदि गोघात या पुरुष घात से मिले तो उसे अथवा गोघातक शस्त्र को दूर ही रखने की बात कही गई है।[443]

रुद्र के घातक शस्त्र को दूर रखने की बात अन्यत्र भी कही गई है;[444] परन्तु वहाँ गो का नाम नहीं आया है। अथर्ववेद में अवश्य ही स्पष्ट शब्दों में रुद्र के शस्त्र (हेती) को गौओं से दूर रखने का उल्लेख मिलता है।[445] ऋग्वेद में रुद्र से गायों को हिंसित न करने के लिए प्रार्थना तो की गई है।[446] ओषधि प्रयोग से गायों को स्वस्थ बनाने का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता, परन्तु एक मंत्र में उन्हें कीर्ति और पुष्टि की वृद्धि करने वाला तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्त करके अमरता के बन्धन में बाँधने का उल्लेख मिलता है।[447] इस मन्त्र को गो आदि पशुओं पर भी घटित करें तो वह पुष्टि द्वारा मृत्यु रूप रोगों को दूर करके अमृत के समान दुग्ध उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है। इस प्रसंग में एक अन्य उल्लेखनीय मन्त्र है जिसमें अदिति के द्वारा गौओं के लिए ओषधियों के प्रयोग का और उसी तरह रुद्र द्वारा भी करने का उल्लेख मिलता है।[448]

---

437 शमसद्द्विपदे चतुष्पदे—ऋ० 1।114।1 तुलनीय ऋ०6।74।1

438 शं नः गवे करत्—ऋ० 1।43।6

439 मा नो गोषु रीरिषः—ऋ० 1।114।8

440 ऋग्वेद 2।33।4,6,7,8,15 (कामनाओं का पूरक)

441 आते पितर्मरुतां सुम्नमेतु ऋ० 2।33।1, रुद्रस्य सुम्नम् ऋ० 2।33।6

442 उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकर रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे। ऋ० 1।114।9

443 आरे ते गोघ्न उत पुरुषघ्न क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु ऋ० 1।114।10
उपर्युक्त अर्थ की प्राप्ति के लिए अनुच्छेद 3 की टिप्पणी सं 62 द्रष्टव्य।

444 ऋग्वेद 2।33।14,6।28।7

445 अथर्ववेद 6।59।3

446 मा नो गोषु रीरिषः। ऋग्वेद 1।114।8

447 ऋ० 7।59।12

448 यथा गवे अदितिः रुद्रियं करत् (तथा रुद्र! त्वमपि कुरु) ऋ० 1।43।2
(रुद्रिम्-रुह ही जिन्हें दे सके ऐसी ओषधियां)

गौओं के प्रति रुद्र के इस कल्याणकारी स्वरूप का तो वर्णन है ही, इसके अतिरिक्त गो को रुद्रों की माता भी कहा गया है।[449] रुद्र और गो से इस सम्बन्ध का उल्लेख इस मन्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र ऋग्वेद में नहीं मिलता। रुद्र मरुतों के पिता हैं।[450] एक मन्त्र के अनुसार रुद्र ने पृश्नि के उज्ज्वल गर्भ से मरुतों को उत्पन्न किया।[451]

इस प्रकार रुद्र गो के पुत्र, गो को सुख देने वाले और गो से शस्त्र दूर रखने, अत: गो रक्षा करने वाले कहे गये हैं।

मरुद्गण और गो

रुद्र के पुत्र मरुतों का गो से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। ऊपर कहा जा चुका है रुद्र ने उन्हें पृश्नि के उज्ज्वल गर्भ से उत्पन्न किया। इसीलिए उनके लिए पृश्निमातर:[452] और गोमातर.[453] विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें पृश्नि गो वाला (पृश्निगाव:) तथा पृश्नि प्रेरित (पृश्नि निप्रेषितास:)[454] कहा गया है। पृश्नि के लिए कहा गया है कि वह न केवल मरुतों को दूध पिलाती व उनको कार्यरत करने के लिए रथ योजित ही करती है[455] वरन् उसकी गोद में ही देवगण समस्त व्रतों को धारण करते हैं और सूर्य चन्द्रमा भी प्रकाशित होते हैं।[456] मरुतों के अप्रकट रूप को पृश्नि अपने ऊध प्रदेश में धारण किये रहती है।[457] एक मन्त्र में कहा गया है कि पृश्नि केवल एक बार ही दुही गई है। पुन: इसकी आवृत्ति नहीं हुई।[458] पृश्नि ने मरुतों के तेजस्वी रूप को महा-संग्राम के लिए जन्म दिया।[459] युवा पिता रुद्र और सुदुघा पृश्नि मरुतों के लिए सदा सुदिन करते हैं।[460]

मरुत् गौओं के मातृत्व-भाव के प्रति सदा सजग रहते हैं। इसीलिए बंधुओं की खोज में प्रवृत्त स्तोता के प्रति वे पृश्नि को माता के रूप में उद्घोषित करते है।[461] गौएँ भी समान रूप व स्वभाव वाले मरुतों को एकान्त में चाटती है।[462] मरुत भी बछड़ों के समान ही क्रीड़ा करने वाले हैं।[463]

---

449 माता रुद्राणाम्—ऋ० 8।101।15
450 ऋ० 2।33।1,1।114।9 आदि स्थल।
451 रुद्रो वृषाजनि पृश्न्या: शुक्र ऊधनि – ऋ० 2।34।2
452 ऋ० 1।23।10;1।85।2;1।89।7,1।38।4,5।57।2,3,5।59।6; 8।7।3;17,9।34।5 तुलनीय ऋ० 5।58।5
453 ऋ० 1।85।3 तुलनीय—गोबन्धव:—ऋ० 8।20।8
454 " 7।18।10
455 ऋ० 8।94।1
456 यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते। ऋ० 8।94।2
457 ऋ० 7।56।4 तुलनीय—ऋ० 6।66।3। ऊधस्=अन्तरिक्ष (सायण)।
458 पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुवर्तते। ऋ० 6।48।22
459 असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमया सां मरुतामनीकम्। ऋ० 1।168।9
460 ऋ० 5।60।5
461 पृश्निं वोचन्त मातरम्—ऋ० 5।52।16
462 ऋ० 8।20।21
463 वत्सासो न प्रकीडिन:—7।56।16

इन्द्र की शक्तिशालिनी गौओं का ऊपर उल्लेख हो चुका है। मरुतों को (शक्तिशालिनी) गौओं के समान दुर्धर्ष कहा गया है।[464] गौओं के प्रति उनके अहिंसक बल की प्रशंसा की गई है।[465] उनका बल गोमुक्ति के कार्य में इन्द्र का सहायक है। एक मंत्र में कहा गया है कि उन्होंने इन्द्र के साथ गुहाभेदन करके गौएँ प्राप्त की[466] उनकी सामर्थ्य के कारण उनका आश्रित पूर्ण रक्षित (सुगोपातम)[467] रहता है।

मरुतों की गोदोहन कुशलता का उल्लेख भी मिलता है। उनका पृश्नि को दुह लेने वाला सामर्थ्य विचित्र कहा गया है।[468] भरद्वाज के लिए उन्होंने विश्वदोहस् धेनु व विश्वभोजस् अन्न दोहन कर्म द्वारा ही प्राप्त किये।[469] एक मंत्र के अनुसार दिव्य ऊध का दोहन करके मरुतों ने भूमि को पुष्ट किया।[470] उनका पृश्निदोहन अन्तरिक्ष व पृथ्वी के लिए अलग अलग तरह का कहा गया है यद्यपि धेनु एक ही है।[471]

वे गौओं का औषधिरूप से प्रयोग जानते हैं, अतः उनसे इसी रूप में गौओं की याचना की गई है।[472] 'पयोवृध'[473] विशेषण से उनकी गौओं के दूध में वृद्धि करने की योग्यता का पता चलता है। वे वृष्टि द्वारा ही गौओं को प्रभूतक्षीरा बना देते हैं।[474] उनकी गौएँ कभी क्षीण नहीं होतीं।[475]

मरुतों को सेचन सामर्थ्य के कारण 'उक्षा'[476] कहा गया। 'वृषव्रातासः'[477] इसी अर्थ में एक दूसरा विशेषण है। वे पूजा करने वाले के लिए मधुर घृत का सेचन करते हैं।[478] उनकी घृतवर्षा का सूचक 'घृतप्रुष' विशेषण भी है।[479]

इन्द्र के सहयोगी व उसके समान ही पराक्रमी होने से मरुतों को भी स्वराट्[480] कहा गया है।

---

464 ऋ० 5।56।3,4 तुलनीय अध्रिगावः पर्वता इव। ऋ० 1।64।3

465 मारुतम् गोषु अघ्न्यं शर्धः प्रशंस—ऋ० 1।37।5

466 ऋग्वेद 1।6।5. तुलनीय 10।103।1

467 ऋग्वेद 1।86।1

468 चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूध स्यापयो दुहुः। ऋ० 2।34।10

469 भरद्वाजाय धुक्षत। धेनुं च विश्वदोहसं इषं च विश्वभोजसम्। ऋ० 6।48।13

470 ऋग्वेद 1।64।5

471 ऋग्वेद 6।66।1

472 उस्रि भेषजम्—ऋ० 5।53।14

473 ऋग्वेद 1।164।11

474 ऋ० 1।64।6 स्कन्द स्वामी का भाष्य द्रष्टव्य—तुलनीय ऋ० 2।34।6

475 न वो दस्रा उप दस्यन्ति धेनवः। ऋ० 5।55।5

476 ऋग्वेद 1।64।2, 1।85।2 तुलनीय—बृहदुक्षः ऋ० 3।26।4

477 " 1।85।4 तुलनीय वर्षनिर्णिजः—ऋ० 3।26।5

478 घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते—ऋ० 1।87।2; अन्यत्र ऋ० 1।168।8

479 ऋग्वेद 10।78।4

480 ऋ० 8।94।4

मरुतों के शतसंख्यक गौओं[481] या घृत सिंचित अन्न के दान[482] का उल्लेख भी मिलता है। उनके लिए हव्य प्रदान करने वाले को गौओं का व्रज प्राप्त हो जाने की बात भी कही गई है।[483] उनके दान की उपमा अदिति के व्रतों से दी गई है।[484] मरुतों से गौओं की रक्षा के लिए भी प्रार्थना की गई है कि वे अपने गो या मनुष्य को मार देने वाले शस्त्र को दूर ही रखें।[485] मरुतों द्वारा प्रदत्त गो तो वैसे ही अमृतवर्षी और अहिंसनीया होती है।[486]

उपर्युक्त विवेचन से मरुत् और गो का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

पर्जन्य देवता और गो

व्युत्पत्ति के आधार पर यास्क ने पर्जन्य को तृप्तिदान व उत्पादन कार्यों से सम्बद्ध किया है[487] आधुनिक विद्वान् मुख्य रूप से पर्जन्य को वर्षक मेघों से ही संयुक्त करते हैं।[488] पर्जन्य को ऋग्वेद में रेतोधा वृषभ[489] व जगत् का ईश्वर[490] कहा गया है। इन्द्र के समान स्वराट् विशेषण पर्जन्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[491]

पर्जन्य के दो रूपों का उल्लेख एक मंत्र में हुआ है—प्रथम निवृत्त प्रसवा गो का और दूसरा प्रसूता गो का। ये इनमें से जैसी इच्छा हो वैसा रूप बना लेते हैं।[492] ये अपने तीन कोशों से मधु की वर्षा करते हैं।[493] ये घृतवर्षा से द्यावा-पृथिवी को क्लिन्न करते हुए अहिंसनीया गौओं के लिए सुपेय प्रदान करते हैं।[494] पर्जन्य के व्रतों में सारे पशु लीन रहते हैं।[495]

---

481 ऋ. 5।52।17 तुलनीय 5।57।7
482 " 8।7।19
483 स मन्ता गोमति व्रजे--ऋ० 1।86।3
484 दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम्—ऋ० 1।166।12
485 आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु—ऋ० 7।56।17
486 सबर्दुघा, अनस्फुरा—ऋ० 6।48।11
487 तर्पयिता जन्य:—परो जनयिता वा—निरुक्त 10।1।10
488 वैदिक माइथोलोजी—हिन्दी-चौ० पृ० 157
489 ऋग्वेद 7।101।6 तुलनीय ऋ० 5।83।1
490 " 7।101।2
491 ऋ० 7।101।5
492 स्तरीरु त्वद्भवति सूत उत्वद्यथावशं तन्वं चक्र एष:। ऋ० 7।101।3
(इस मंत्र की दूसरी पंक्ति के अनुसार पृथिवी द्युलोक से पय प्राप्त करती है।)
493 ऋग्वेद 7।101।3
494 घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्य:—ऋ० 5।83।8
495 यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति—ऋ० 5।83।6

पर्जन्य का वर्षणकार्य अन्य रूप से भी गौओं के लिए उपयोगी है। यह कहा गया है कि गौओं में गर्भ धारण कराते हैं।[495अ] एक मंत्र में उन्हें वत्स-जनक सद्य:जात वृषभ कहा गया है, जो प्रचण्ड ध्वनि करता रहता है और जिसकी ज्योति-स्वरूप त्रिविध वाणी मधुवर्षी ऊधप्रदेश को दुहती हैं।[496] अथर्ववेद में वशा गो को 'पर्जन्यपत्नी' कहने का कारण पर्जन्य की उपर्युक्त गर्भधारण सामर्थ्य ही ज्ञात होता है।[497] साथ ही वहाँ पर्जन्य को वशा का ऊधप्रदेश व विद्युत् को स्तन भी कहा गया है।[498]

वायु देवता और गो

वायुदेवता को देवों की आत्मा व भुवनों का गर्भ[499] तथा राजा[500] और मध्यम स्थानीय देवताओं में प्रथमागामी,[501] माना गया है। इन्द्र का सहयोगी होने के कारण उनको 'इद्रसारथि[502] विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है।

वायु के साथ भी गो सम्बद्ध है। 'गोश' इन्द्र और वायु का सयुक्त विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[503] गो और वायु का साहचर्य सम्बन्ध एक मंत्र से प्रकट होता है जिसमे कहा गया है कि वायु अश्वों द्वारा वहन किए जाते हैं और त्रिगुणित सप्त-सप्तति गौओं के साथ गमन करते हैं।[504]

गवाशिर को वे इंद्र के साथ मिल कर पान करते हैं।[505] इद्र और वायु के लिए साथ ही गौएं दुही जाती हैं जौ पकाये जाते हैं तथा वायु की प्रीणयित्री गौएँ कभी हिंसित नहीं होतीं।[506]

495अ ऋग्वेद 7।102।2

496 तिस्रो वाच: प्रवदज्ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः।
स वत्सं कृण्वन् गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति। ऋ० 7।101।1

497 अथर्ववेद 10।10।6 498 अथर्ववेद 10।10।7

499 आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो—ऋ० 10।168।4

500 विश्वस्य भुवनस्य राजा—ऋ० 10।168।2

501 निरुक्त 10।1।1

502 ऋग्वेद 4।46।2, 4।48।2

503 ऋग्वेद 7।91।2

504 यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रास्त्रिसप्त सप्तीनाम्। ऋग्वेद 8।46।26 (सायण भाष्य)

505 ऋ० 2।41।3 ऋग्वेद 8।101।10 में अकेले उनसे ही गवाशिर पीने के लिए प्रार्थना की गई है।

506 साकं गाव: सुवते, पच्यते यवो न ते वाय उपदस्यन्ति धेनवः—
ऋ० 1।135।8

वायु के लिए सभी धेनुएँ घृत और दुग्ध प्रदान करती हैं;[507] परन्तु एक मंत्र के अनुसार[508] समस्त उपभोग्य पदार्थों का दोहन करने वाली उनकी एक अमृत-वर्षी धेनु है।

वायु घृत से भरे हुए यजमानों के घर में ही अपने रथ से जाता है।[509] जो समर्थ मनुष्य गोयुक्त धन धारण करता या दान देता है, वही वायु की कृपा से पूर्ण जीवन (विश्वायु) को प्राप्त करता है।[510] वायु से भी गोयुक्त धन देने के लिए प्रार्थना की गई है।[511]

बृहस्पति और गो

गोमुक्ति का कार्य इन्द्र के अतिरिक्त सर्वाधिक रूप से बृहस्पति से ही सम्बद्ध किया गया जान पड़ता है, यहाँ तक कि इंद्र से संयुक्त मरुत् भी इस विषय में गौण रूप से भाग लेने वाले रह जाते हैं। वे इंद्र के ही समान वृत्रनाशक[512] और अद्रिभित्[513] हैं। उनके पराक्रम कार्यों का परिणाम गोमुक्ति है। वे गोत्रभिद् रथ[514] पर बैठते हैं। इनके पास एक ऐसा धनुष है जिसकी प्रत्यंचा ऋत है।[515] इन्होंने गोयुक्त व्रजों के महाधन को जीत लिया है।[516]

अंगिरस् बृहस्पति ने गोष्ठों को खोला और इन्द्र से संयुक्त होकर अन्धकारावृत आवृत्त जलों को मुक्त किया, तब पर्वतों का ऐश्वर्य इनके अधीन हो गया।[517] इन्होंने वल को विदीर्ण किया और रँभाती हुई, हविर्दुघा गौओं को मुक्त कर दिया।[518] अंगिराओं के साथ प्रस्तर द्वार को छिन्न भिन्न करके इन्होंने रँभाती हुई गौओं को बाहर निकाला, इस पराक्रमशाली कार्य की विद्वानों ने उच्च स्वर में प्रशंसा की।[519] जिन पर्वतों को बृहस्पति ने तोड़ा, उसका विशेषण 'गोधायस्'[520] प्रयुक्त हुआ है।[520]

---

507 विश्वाइत्ते धेनवो दुह्र आशिरं घृत दुह्रत आशिरम् ऋ० 1।134।6
508 तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते। ऋ० 1।134।4
509 ऋ० 1।135।7
510 ऋ० 7।90।6
511 गव्यम् राधः नि युवस्व—ऋ० 7।92।3
512 ऋ० 6।73।2
513 ऋ० 6।73।1 तथा ऋ० 10।68।11—बृहस्पतिः भिनदद्रिं विददगाः।
514 गोत्रभिदं रथं तिष्ठसि ऋ०2।23।3
515 ऋ० 2।24।8
516 समजयद्वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः। ऋ० 6।73।2
517 ऋ० 2।23।18
518 बृहस्पतिः उस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ऋ० 4।50।5
519 ऋ० 10।67।3
520 सखिभिः गोधायसं अददः। द्रविण व्यानट्। ऋ० 10।67।7
सायण ने इसे वल का विशेषण माना है।

इंद्र के द्वारा शत्रुनाश का सम्बन्ध जैसे अन्धकार-भेदन और गोप्राप्ति का प्रकाश से जुड़ा हुआ है वैसे ही बृहस्पति की विजयों के प्रसंग में भी हुआ है। एक मन्त्र[521] के अनुसार पुरभेदन के उपरान्त बृहस्पति ने उषा, सूर्य और गौओं को प्राप्त किया। यह भी कहा गया है कि अनृत-स्थान पर गुहा में नीचे एक द्वार द्वारा और ऊपर दो द्वारों द्वारा गौओं को निरुद्ध किया गया था। बृहस्पति ने अन्धकार में ज्योति की इच्छा करते हुए तीन द्वार खोल कर गौओं को प्रकट किया।[522] गोनिरोधक बल को हुंकार मात्र से खंड-खंड कर देने वाले बृहस्पति को अतिशय पराक्रम के कारण एक मंत्र में इन्द्र कहा गया है, जिन्होंने (इन्द्र के सहयोगी) मरुतों से सम्पर्क बढ़ाने की इच्छा से पणियों को रुलाया और गौएँ छीन लीं।[533] गो-प्राप्ति के उपरान्त मरुतों ने बृहस्पति को 'गोपति' बनाने की इच्छा प्रकट की। बृहस्पति ने उनके सहयोग से गौओं की सृष्टि की।[524]

बृहस्पति गुहानिहित गौओं के पास सूर्य का आलोक ले आये और तेजोद्दीप्त होकर मित्र-दम्पती की तरह गौओं को याजकों से संयुक्त कर दिया।[525] यज्ञिया, सततगमन शीला (अतिथिनी), स्पृहणीया वर्णमनोहरा (अनवद्यरूपा) और प्रशंसनीया गौओं को तुष से निकले जौ के समान, बृहस्पति ने पर्वत से निकाला।[526] इसके उपरान्त ऋत की योनि में आकर मधुबिन्दु को सिक्त किया और आकाशस्थित उल्का के समान प्रक्षिप्त करते हुए सुशोभित हुए। प्रस्तर के आच्छादन से गौओं को मुक्त करके उनके खुरों से पृथिवी को वैसे विदीर्ण कराया, जैसे मेघ वृष्टि के समय विदीर्ण करते हैं।[527]

गुहा में ध्वनि करती हुई गौओं से ही बृहस्पति ने वहाँ उनकी स्थिति को जाना और जैसे पक्षी अण्डा फोड़ कर बच्चे को निकालता है वैसे ही पर्वत से गौओं को

---

521 बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद—ऋ० 10।67।5
[इस मंत्र से प्रकट है कि उषा, सूर्य और गा का सम्बन्ध प्रकाश से है। ऐसे स्थलों की प्रतीकात्मक व्याख्या आगे होगी।

522 अवोद्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्ती अनृतस्य सेतौ। बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः आवः। ऋ० 10।67।4
[यह मंत्र भी प्रतीकात्मक अर्थ की अपेक्षा करता है जिसका विस्तार आगे यथास्थान होगा।]

523 ऋ० 10।67।6

524 ऋ० 10।67।8

525 ऋ० 10।68।2 तुलनीय—10।68।9 उषा, सूर्य, अग्नि की प्राप्ति।

526 ऋ० 10।68।3

527 आ प्रुषायन्मधुनऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्यौः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ऋ० 10।68।4

निकाला ।[528] हिम से अपह्रियमाण पद्म के पत्तों के समान बृहस्पति ने बल की गौओं का अपहरण किया । इस अननुकरणीय व अपूर्व कर्म से सूर्य-चन्द्रमा भी उदित होने लगे ।[529] बृहस्पति को, गौओं की निधि को, जो दाँतों में जिह्वा की तरह निरुद्ध थी, प्रकट करने के लिए तप और तेज द्वारा बल के अस्त्र को विफल बनाना पड़ा ।[530] एक मत्र में प्रस्तरों में निरुद्ध मधु का उल्लेख हुआ है,[531] जो संभवत: मधुतुल्य दुग्ध धारण करने वाली गौओं के लिए प्रयुक्त है ।

बृहस्पति के पराक्रमी रूप के सामने उसका गोदाता रूप गौण सा होता हुआ ज्ञात होता है; परन्तु उसकी ओर स्तोता का ध्यान गये बिना नहीं रहता । एक मंत्र में उसे गोदाता (गोदा) को धन देने वाला कहा गया है ।[532] एक अन्य मंत्र में उससे गोयुक्त धन प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है ।[533]इन्द्र और बृहस्पति से संयुक्त रूप में एक बार 100 गौओं का धन प्रदान करने के लिए कहा गया है ।[534]

उसे वृषभ[535] भी कहा गया है ।[535] गौओं के हितकारी के रूप में वह उनका रक्षक (गोपा) और पथनिर्माता (पथि कृद्) है ।[536] एक मन्त्र में उससे प्रार्थना की गई है कि गोरहित प्रदेश में आये हुए हमको वह गोप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनावे [537] यहाँ स्तोता बृहस्पति से गोधन के स्थान पर उसकी प्राप्ति में सहायक उत्साह की याचना करता है ।

सोम देवता और गो

अन्तरिक्ष स्थान का इन्द्र के बाद दूसरा प्रमुख देवता सोम है । देवताओं के प्रियपेय सोम की कल्पना पार्थिव सोम (मधु) से की गई ज्ञात होती है ।[538] इस सोम का गो से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

ऋग्वेद में सोम को गो रूप माना गया है । यह कहा गया है कि जलों के समान पवित्र करने वाला सोम इन्द्र को प्राप्त हुआ ।[539] एक अन्य मंत्र में उसे पृश्नि

---

528 ऋ० 10।68।7 529 ऋ० 10।68।10
530 ऋग्वेद 10।68।6
531 अश्मापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्—ऋ० 10।68।8
532 ऋ० 5।42।8
533 ऋ० 1।190।8 ऋग्वेद 10।68।12 भी द्रष्टव्य ।
534 इन्द्रा बृहस्पती—रयिं धत्त शतग्विनम् ऋ० 4।49।4
535 ऋ० 1।190।1, 8, 3।62।6
536 ,, 2।23।6
537 अगव्यूति क्षेत्रमागन्म····बृहस्पते प्रचिकित्सा गविष्टौ । ऋ० 10।47।20
538 डा० फतहसिंह—वैदिक दर्शन पृ० 135
539 अभिगावो अधन्विषुरापो न प्रवता यती: । पुनाना इन्द्रमाशत ।
ऋग्वेद 9।24।3 [गाव:—गमनशील सोम—सायण का अर्थ]

(गो का नाम) भी कहा गया है।[540] उक्षा (पुं-गो) तो उसे अनेक स्थानों पर कहा गया है।[541]

सोम का दूसरा रूप गौओं के लिए सुखकर होना है। अनेक बार गौओं का कल्याण करने की उससे प्रार्थना की गई है।[542] वह गव्यूती को भय रहित करता[543] और इस प्रकार महत्कल्याण से युक्त करता है।[544]

सोम का दोहन गो से दुग्ध दुहने के समान ही किए जाने का वर्णन मिलता है। कभी अद्रि से दुहे जाने का[545] उल्लेख है तो कहीं गौओं से दुहे जाने का।[546] सोम गौओं के ऊधप्रदेश को आप्यायित करता है और वहाँ से धाराओं में क्षरित होता है। इस समय सोम दूध से इस प्रकार आच्छादित रहते हैं जैसे श्वेतवस्त्र से ढके हुए हों। सोम को दूध में मिला कर संस्कृत करते के उल्लेख ऋग्वेद में प्रभूत रूप से मिलते हैं।[548] दुग्ध मिश्रित सोम कलश में रक्खा जाता है।[549] अरुण वर्ण के सोम में दूध मिलता है[550] और अरुष वर्ण का हो जाता है।[551] दही[552] व घृत[553] सोम में मिलाने के उल्लेख भी मिलते हैं। दूध से गवाशिर व दधि से दध्याशिर नामक पदार्थ सोम मिलने पर बनते हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। गौओं के दुग्ध से सोम स्वादिष्ट हो जाता है।[554]

ऊपर सोम को पृश्नि कहा गया है। पृश्निपुत्र मरुत् उससे अपनी प्रिय दुग्ध

---

540 अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रियः —ऋग्वेद 9।83।3 तथा ऋ० 8।48।2 में सोम को अदिति कहा गया है।

541 उक्षा विभर्ति भुवनानि वाजयुः -ऋ० 9।83।3 अन्यत्र 1।164।43

542 शं गवे—ऋ० 9।11।3,7,61।15, शं नो द्विपदेशं चतुष्पदे 9।69।7

543 उर्वी गव्यूतिं अभयं नस्कृधि—ऋ० 9।78।5 तथा 9।90।4

544 ऋ० 9।85।8

545 ,, 9।65।15। तुलनीय सोम दोहन के अन्यत्र वर्णन 9।54।1, 62।20, 9।89।2, 9।34।3

546 अघ्न्या धेनवः सोमं इन्द्राय पातवे श्रीणाति—ऋग्वेद 9।1।9

547 ऋ० 9।93।3

548 ऋग्वेद 9।2।4, 9।6।6, 9।8।5, 9।14।3, 9।14:5, 6, 9।42।1, 9।66।13 तुलनीय 9।8।6, 9।72।3, 9।10।3, ९।32।3 9।50।5, 9।46।4, 9।1 9।68।9 आदि।

549 ऋग्वेद 9।72।1, 85।5, 93।2 आदि

550 " 9।45।3

551 " 9।61।21

552 ऋ० 9।11।6, 9।81।1

553 " 9।82।2

554 " 9।P2।5 (सायण भाष्य)

रूप हवि दुह लेते हैं।[555] इसके अतिरिक्त सोम स्वयं दुहने वाला बन कर आकाश से घृत और दुग्ध का दोहन कर लेता है।[556] यह गोदुग्ध बढ़ाने वाला (पयोवृध) है इसीलिए गौएँ इसे संस्कृत करने के लिए दुग्ध प्रदान करती हैं।[557] अथर्वा ने सोमरस को इन्द्र के लिए दुग्ध से परिष्कृत किया था।[558] एक मंत्र के अनुसार त्रिसप्त (21) धेनुएँ सोम में मिलाने के लिए दुग्ध प्रदान करती हैं।[559] एक अन्य मंत्र के अनुसार सोम ही गौओं (संभवत: 21) से रूपों में दुहा गया है।[560] सोम अपने रस को तीन (ओषधि, जल और धेनु) में भलीप्रकार निविष्ट कर देता है।[561]

सोम को गोविद्[562] कहा गया है। गोप्राप्ति के लिए किए जाने वाले युद्धों में वह उपद्रवों का परिहार करता है।[563] उसके लिए 'गोजित्' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है।[564] उसने पणियों के गोधन को प्राप्त कर लिया है।[565] गो-प्राप्ति के लिए किए जाने वाले युद्धों में वह रथी के रूप में गमन करता है।[566] वह गौओं में शूर के समान विराजता है,[567] और युद्ध में गौओं की प्राप्ति के विषय सर्वप्रथम उत्सुकता व्यक्त करता है।[568] गोप्राप्ति की उत्कट अभिलाषा के कारण ही उसके लिए 'गव्यु:' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[569] वह अंगिराओं के लिए गो निरोधक पर्वतों को खोल देता है।[570] वह प्रदीप्त होकर गौओं की ओर जाता है।[571] गौएँ भी सोम की ओर दौड़ी चली जाती है।[572] गायें सोम को स्तुति द्वारा प्रसन्न भी करती हैं।[573]

---

555 ऋ० 9।34।5 तुलनीय 9।12।7 (सबर्दुघ: सोम:)
556 " 9।74।4 तुलनीय ऋ०9।18।5 सोम द्वारा द्यावा पृथिवी का दोहन।
557 ऋ० 9 84।5 ऋग्वेद 9।31।5 भी द्रष्टव्य
558 " 9।1।2
559 त्रिरस्मै सप्तधेनव: दुदुह्रे सत्यामाशिरं पूर्व्ये व्योमनि। ऋ० 9।70।1
560 अयं त्रि:सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते। ऋ० 9।86।21
561 अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधार। ऋ० 6।47।4
562 ऋ० 9।55।3, 9।86।39, तुलनीय 9।96।7
563 प्रचिकित्सा गविष्टौ। ऋ० 1।91।23 (सा० भा०)
564 ऋ० 9।59।1, 9।78।4
565 पणीनां वसुविदो ऋ० 9।111।2
566 गविष्टपु... रथिर:—ऋग्वेद 9।76।2
567 शूरो न गोषु तिष्ठति—ऋ० 9।16।6, 9।62।19
568 शूरो युत्सु प्रथम: पृच्छते गा:—ऋ० 9।89।3
569 ऋ० 9।27।4, 9।97।15 570 ऋ० 9।86।23
571 इन्दोरुचाभि गां इहि—ऋ० 9।64।13 गौओं की ओर गमन द्रष्टव्य ऋ० 9।77।4
572 तुभ्यं धावन्ति धेनव:—ऋ०9।66।6 तुलनीय 9।69।4
573 तं गावो [illegible]

सोम को वृषा,[574] वृषभ[575] आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। उसका वर्षण कार्य अभीष्ट गोधन प्रदान करने के रूप में भी प्रकट होता है; वह प्रभूत गोधन प्रदान करता है।[576] पूरा गोष्ठ दे डालता है।[577] सोम गोराशि का स्वामी है।[578] उससे सुदुघा धेनु के लिए प्रार्थना की गई है।[579] सौ गायों के समूह की[580] अथवा सहस्र गोयुक्त अन्न[581] की याचना भी सोम से की जाती है। स्तोता को गोयुक्त अन्न या धन के लिए प्रेरित करने वाला सोम ही है।[582] रथ में जिस प्रकार वृषभ भली प्रकार योजित होते हैं उसी प्रकार सोम स्तोता को यश से संयुक्त कर देता है।[583] सोम के इन कार्यों से उसके गोदाता (गोषा)[584] विशेषण की सार्थकता प्रकट होती है।

सोम को 'गोपा' भी कहा गया है।[585] वह द्विपद और चतुष्पदों के लिए रोगरहित अन्न प्रदान करता है।[586] गौओं को वह पोषक अन्न देता है।[587] उससे प्रार्थना की गई है कि वह उस धारा से प्राप्त हो जिससे गौएँ स्तोता के पास आवे[588] तथा अपनी धारा के साथ घृत दे।[589]

सोम को 'गंधर्वः'[590] कहा गया है जिसकी स्थिति द्युलोक में है।[591] एक अन्य मंत्र में सोम को गौरी पर आश्रित कहा गया है।[592]

---

574 ऋ० 1।91।2, 9।2।1, 2, 9।27।3, 9।62।11, 9।64।1,2 आदि
575 ऋ० 6 47।5 तुलनीय वृषव्रतः - ऋ० 9।62।11 व वृषायते 9।71।3
576 " 1।91।20, 9।9।9, 9।22।7, 9।33।2, 9।41।4, 9।42।6, 9 62।24, 23, 9।63।14, 18, 9 67।5, 9।64।3, 9।69।8, 9।94।5, 10।25।11, 9।20।2, 9।54।4
577 ऋ० 10।25।5
578 गोनाम् राशि परि यासि—ऋ० 9।87।9
579 ऋ० 9।97।50
580 शतग्विनं पोषं आवह–ऋ० 9।65।17, 9।67।6
581 ऋ० 9।61।3
582 ऋ. 9।77।3
583 ऋ० 8।48 5
584 " 9।2।10, 9।61।20
585 ऋ० 8।48।9, 10।25।7
586 " 3।62।14
587 " 9।62।3
588 " 9।49।2
589 " 9।49।3
890 " 9।86।36 (गन्धर्वः—गाः धारयति इति)
591 ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात्—ऋ० 9।85।12 तुलनीय 10।85।1 दिवि सोमो अधिश्रितः
592 सोमो गौरी अधिश्रितः—ऋ० 9।12।3 (सोम का गौरी से रहस्यात्मक सम्बन्ध अन्यत्र स्पष्ट किया गया है।)

सोम पेय को गोत्वचा पर रखा जाता है।[593] एक मंत्र के अनुसार उसे दुहा ही गोत्वचा पर जाता है।[594] मनीषी सोम का मार्जन अदिति (गो) की गोद में करते हैं।[595] सोम अदिति के उपस्थ में ओषधि आदि को गर्भ-धारण भी कराता है।[596]

ओषधियों में सोम गो द्वारा उत्पन्न हुआ है,[597] परन्तु अन्यत्र सोम को गौओं का जन्मदाता[598] भी कहा गया है। सोम गोपति[599] भी कहा गया है जिसकी 4 घृतदुहा गौएँ निरन्तर सेवा करती हैं

पृथिवी स्थानीय देवता व गो

आपो देवियाँ और गो

जलों का दिव्य स्वरूप आपो देवी के नाम से स्तुत हुआ है। निघण्टु में यास्क ने इन्हें पार्थिव देवों के अन्तर्गत ही गिना है।[601] अथर्ववेद में गो और 'आपः' को अभिन्न कहा गया है[602] तथा ऋषभ (वृषभ) को अपस् की प्रतिमा कहा गया है।[603] ऋग्वेद में यह अभेद सांकेतिक रूप से दो सूक्तों का देवता[604] आपः या गो को विकल्प से स्वीकार करके स्थापित किया गया जान पड़ता है।

संभवतः आपो देवियों व गो का अभेद सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गो की तरह आपो देवियों के मातृत्व की उद्घोषणा अनेक मंत्रों में की गई है।[605] गौओं को ओषधि रूप में पाने का उल्लेख हो चुका है। जलों के भैषज्य रूप का वर्णन भी मिलता है।[606]

---

593 ऋग्वेद 9।65।25, 66।29, तुलनीय 9।70।7
594 गोरधि त्वचि त्वा हस्तैर्दुदुहुर्मनीषिणः—ऋ० 9।79।4
595 ऋग्वेद 9।26।1
596 ऋग्वेद 9।74।5
597 गोभिः सृज्यत ओषधीषु—ऋ० 9।84।3
598 त्वं अजनयः गा—ऋ० 1।91।22
599 ऋग्वेद 9।35।5, 9।72।4
600 " 9।89।5 [चतस्रघृतदुहः ईं सचन्ते)
601 निघण्टु 5।3 निरुक्त 9।3।6
602 यदापो अघ्न्या इति—अथर्ववेद 7।83।2 ।अघ्न्या=गावः ।
603 अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव—अथर्ववेद 9।4।2
604 ऐसे सूक्त हैं ऋग्वेद 4।58 और 10।19 के कुछ मंत्र
605 आपो अस्मान्मातरः ऋग्वेद—10।17।10 तथा 'अम्बयः' ऋ० 1।23।16 तुलनीय 10.30।10
606 ऋग्वेद 1।23।19, 20, 21, 10।9।6,7

इन्द्र जलों को मुक्त करता है और उनके मार्गों का निर्माता भी है।[607] गो की तरह जल भी पयः संयुक्त (पयस्वान्) हैं।[608] आपो देवियाँ घृतसिक्त अन्न प्रदान करती है, अतः उनसे प्रार्थना की गई है कि वे घृत से आप्यायित करें।[609] वे घृत, दुग्ध और मधु धारण करती हुई आती है।[610] ऋत स्थान पर उनसे ऊधप्रदेश प्रकट करने की प्रार्थना भी की गई है।[611]

गौओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जल को दुग्धरूप प्रदान करती है। आपो देवियों से भी यह कार्य संयुक्त किया गया जान पड़ता है।[612]

इस अभिन्नता के अतिरिक्त इनके पार्थिव रूप (जल) को गो के पीने के लिए यज्ञ में आहूत किया जाता है।[613] इस प्रकार आपो देवियाँ अपने स्थूल रूप से गो के लिए हितकारिणी व सूक्ष्म रूप से गो से अभिन्न हैं।

अग्नि देवता और गो

अग्नि पार्थिव देवों में प्रमुख हैं। गो के पार्थिव स्वरूप से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। द्युलोक में सूर्य और अन्तरिक्ष में इन्द्र अग्नि के ही रूप हैं। अतः अग्नि का वर्णन करते हुए स्तोता कभी सूर्य और इन्द्र से भी संयुक्त कर देता है। यही कारण है पार्थिव गौएँ अग्नि के उपर्युक्त रूपों से सम्बन्धित जान पड़ती हैं।

अग्नि और गो में प्रथम प्रकार का सम्बन्ध जन्यजनक भाव का है। अग्नि को गौओं (उस्रिया) का जनक कहा गया है।[614] एक अन्य मंत्र के अनुसार अग्नि स्वयं जिस गो को उत्पन्न करते हैं उससे उत्पन्न पदार्थ पृथ्वी का धारण करते हैं।[615] अन्यत्र अग्नि को वत्स रूप में उपस्थित किया गया है। अग्नि दो माताओं का पुत्र है, एक के ऊपर वह शयन करता है और दूसरी के पास वह अकेला ही (गगनमण्डल में) विचरण करने लगता है।[616] ये दोनों माताएँ पृथिवी और द्युलोक हैं। एक (द्यावा)

---

607 वज्री वृषभो रराद ऋ० 7।49।1

608 ऋग्वेद 10।17।14

609 घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु—ऋ० 10।17।10 तुलनीय--ऋ० 7।47।1

610 आयतीः घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि। ऋ० 10।30।13

611 ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः। ऋ० 10।30।11

612 पृंचती मधुना पयः। ऋ० 1।23।16

613 अपो देवीरूपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। ऋग्वेद 1।23।18

614 ऋग्वेद 3।1।12 तुलनीय ऋग्वेद 6।52।16 अग्नि इळा का जनक।

615 स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
ऋग्वेद 10।12।3 [सायण ने गो का अर्थ जल भी किया है।]

616 शयुः तरस्तादध नु द्विमाताऽबन्धनश्चरति वत्स एकः।
ऋ० 3।55।6 तुलनीय ऋ० 1।49।4 (द्विजन्मा)

वत्स (अग्नि) को पोषित करती है, दूसरी स्थान प्रदान करती है।[617] कदाचित् एक वत्स के प्रति अभिगमन करने वाली गौएँ भी ये ही हैं जो अनिन्द्य मार्ग का निर्माण करतीं और समस्त प्रज्ञाजनित कार्यों को अधिक मात्रा में धारण करती हैं।[618] दूरगन्ता अग्नि की अमृतवर्षी दो धेनुएँ भी उसको उत्पन्न करने वाली माताओं से अभिन्न है।[619]

दूसरे प्रकार का सम्बन्ध साहचर्य सम्बन्ध कहा जा सकता है। अग्नि के उत्कृष्ट रूप से गौएँ संपृक्त रहती हैं।[620] रात्रि में प्रदीप्त अग्नि का गो आदि पशु सेवन करते हैं।[621] साहचर्य सम्बन्ध से अग्नि गौओं का रक्षक भी बन गया है।[622] 'गोपा'[623] विशेषण भी अग्नि की इस विशेषता (गोपालक या रक्षक होना) पर प्रकाश डालता है। आगे यह शब्द अर्थ विस्तार के कारण रक्षक अर्थ में सामान्य बन गया। जिससे अग्नि के लिए ऋतस्य गोपा [624] विशां गोपा,[625] सोमगोपा[626] सतश्च भवतश्च गोपा (वर्तमान व भविष्य रक्षक)[627] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

अग्नि को उक्षा[628] व वृषभ[629] भी कहा गया है। हजार सींगों वाले वृषभ के रूप में[630] अग्नि अपने द्युस्थित सूर्यरूप से तथा स्वराट्[631] व सम्राट्[632] विशेषणों से इन्द्र से अभिन्न है। उसे अंगिराओं में प्रथम व देवताओं का कल्याणकारी मित्र कहा गया है।[633] वह यज्ञकर्त्ता की हवि व प्रार्थना को देवों तक पहुँचा देता है क्योंकि

---

617 अन्या वत्सं भरति क्षेति माता। ऋ० 3।55।4 तुलनीय ऋ० 1।95।1
618 ऋग्वेद 1।146।3
619 उरुगायस्य सबदुघे धेनू—ऋ० 3।6।4 तुलनीय गोजा (अग्नि) ऋ० 4।40।5
620 ऋग्वेद 1।95।8
621 त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपि शर्वरे। ऋ० 3।9।7
622 त्राता गवामसि—ऋ० 1।31।12
623 ऋ० 2।9।2, 6, 3।15।2, 3।55।10 आदि
624 ,, 1।1।8, 3।10।2
625 ,, 1।94।5, 1।96।4
626 ,, 10।45।5,12
627 ,, 1।96।7
628 ,, 1।146।2, 3।7।6
629 ,, 1।31।5, 79।2, 128।3, 2।1।3, 3।6।5 आदि।
630 ,, 5।1।8
631 ,, 1।36।7
632 ,, 3।10।1
633 ,, 1।31।1 तुलनीय अंगिरस्तमः ऋ० 1।31।2, 75।2

देवों ने अङ्गिराओं के लिए एक धेनु दी थी जिसे अर्यमा ने अग्नि के लिए दुहा और यह जाना कि वह धेनु देवों से समवेत है।[634] अग्नि की सुदुघा, अमृतवर्षी धेनु भी यही देवप्रदत्त गो ज्ञात होती है।[635]

अग्नि को अतिथि भी कहा गया है।[636] मानव-अतिथि की तरह देवातिथि को भी गो समर्पित करने की ओर संकेत गो के 'अतिथिनी'[637] विशेषण से मिलता है। मरुतों ने तीन वर्ष तक घृत से अग्नि की सपर्या की थी[638]। देवातिथि अग्नि के लिए गो समर्पित तो की जाती है परन्तु साथ ही यह भी ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है कि गो को किसी प्रकार से दुःख न पहुँचे क्योंकि नियम बनाया गया है कि आहुति देने के लिए न तो गो का दोहन किया जाय और न सोम युक्त अन्न प्रदान किया जाय; वरन् केवल स्तुति मात्र करना चाहिए।[640] यह नियम केवल गो को कष्ट से बचाने के लिए ही बनाया गया प्रतीत होता है।

अग्नि को सोमपान[641] के लिए भी आहूत किया जाता है; परन्तु उसका मुख्य अन्न तो घृत ही है।[642] घृत प्रतीक,[643] घृतयोनि,[644] घृतश्री,[645] घृतनिर्णिक,[646] घृतपृष्ठ,[647] घृताहवन[648] आदि अग्नि के विशेषणों का सम्बन्ध घृत से ही है। वे घृतयुक्त स्थान (घृतवन्तं योनिम्) पर आसीन होते हैं,[649] घृत के समान उनका पवित्र

---

634 ऋ० 1।139।7

635 त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्। ऋ० 10।69।8

636 1।44।4, 1।58।6, 1।128।4

637 ऋ० 10।68।3 [ऋ० 5।1।8 में अग्नि को शिवः अतिथिः कहने से अग्नि का अहिंसक रूप भी ध्वनित होता है।]

638 ऋ० 1।72।3

640 ,, 4।1।19

641 गोपीथाय प्रहूयसे—ऋ० 1।19।1

642 घृतान्न ऋ० 10।69।2 त्वं घृतेभिराहुतः—ऋ० 2।7।4 अन्यत्र 2।10।4, 3।18।3

643 ऋ० 3।2।18, 5।11।1

644 ,, 5।8।6

645 ,, 1।128।4, 5।8।3

646 ,, 3।17।1, 27।5

647 ,, 1।164।1, 5।14।5

648 ,, 1।12।5, 45।5

649 ,, 2।5।7

650 घृतं न पूतं तनूररेपा—ऋ० 4।10।6

651 ऋ० 1।14।6 अश्वों का 'घृतस्नुः' विशेषण ऋ० 4।2।3 व 3।6।6

652 ,, 2।5।6

व निर्दोष शरीर है,[650]घृतपृष्ठ मनोगामी अश्व उनका वहन करते हैं।[651] जब वेदी पर स्रुवा घृत से भरी जाती है तो अग्नि आनन्द मनातेहैं।[652]उनके लिए घृत की बूंदें स्रवित होती रहती हैं।[653] अग्नि स्तोता को घृत प्रदान करते हैं।[654]

ऊपर अग्नि को वहन करने वाले घोड़ों का उल्लेख किया गया है। एक मंत्र के अनुसार द्युलोक में निवास करने वाली अग्नि को धेनु ही उसके अश्व हैं; ऋत के मार्ग पर उन्हीं में से एक धेनु गति करती है।[655] गौएँ अपरिपक्व होने पर भी अग्नि के लिए पक्व दुग्ध धारण करती हैं। गौएँ काली होने पर भी अग्नि की तृप्ति के लिए श्वेत दुग्ध देती है।[656] अग्नि की अभिलाषा करती हुई ऋत की धेनु पुष्ट ऊधप्रदेश से अग्नि को तृप्त करती हैं।[657] अग्नि भी द्युलोक और पृथिवी के बीच में अपनी दीप्ति का विस्तार करते हुए गो के ऊधप्रदेश मे निहित दुग्ध का पान करते हैं क्योंकि उनकी जिह्वा दुग्धपान के लिए ही है।[658] तृप्ति लाभ होने पर अग्नि स्वयं घृत धारा की वृष्टि करता है।[659] अग्नि की उक्ति है कि घृत उसका चक्षु है और उसके मुख में अमृत का निवास है।[660] वह विद्वान् गो के पद के समान निगूढ़ है।[661]

अग्नि गो को कष्ट पहुँचाने वाले लोगों को दण्ड देने की सामर्थ्य रखते हैं।[662] मांस खाने वाले को अग्नि दण्ड। देता है।[663] अग्नि उत्पन्न होते ही दीप्ति से युक्त होते हुए ज्योति से अन्धकार रूपी दस्युओं को मार कर गौओं को प्राप्त कर लेते हैं।[664] उन्होंने पणियों से भी गौएँ छीन लीं।[665] गौओं के लिए किये जाने वाले युद्धों में वे अश्व के समान ध्वनि करते हुए कण्व की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हुए।[666] जिन गौओं से मानवीप्रजा पोषित होती है, उनको पणियों के निरोध

---

653 ऋ० 3।21।2,3,4,5
654 ऋ० 1।93।10
655 ,, 3।7।2
656 ,, 4।3।9
657 ,, 1।73।6—4।5।9 भी द्रष्टव्य।
658 ,, 4।5।10
659 ,, 3।1।8
660 अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मे आसन्। ऋ० 3।26।7
661 पदं न गोरपगूढ़ विविद्वान्—ऋ० 4।5।3
662 ऋ० 10।87।16-18
663 अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमाद:। ऋ०10।87।7
यहां आमाद शब्द मांसाहारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में दूध को गो का परिपक्व अंश माना गया है। इस प्रकार मांस उसका अपरिपक्व (आम) अंश होगा। अपरिपक्व का भक्षण अच्छा नहीं समझा गया, ऐसा करने वाले को दण्डनीय भी कहा गया है।
664 ऋ० 5।14।4
665 ऋ० 1।93।4
666 ,, 1।36।8

स्थान पर सरमा ने अग्नि के सहयोग से जाना था।[667] और अंगिराओं ने अरुण-वर्णा गौओं को अग्नि सहायता से ही मुक्त किया।[668] अग्नि इस बात की पूर्ण जानकारी रखते हैं कि कौन राष्ट्र को गौओं से वियुक्त करता है ? अग्नि उनको पूरी तरह नष्ट कर देते हैं और कोई उन्हें बचाने वाला नहीं मिलता।[669] इस प्रकार अग्नि की रक्षा व्यवस्था में उनकी गौएँ सदा अर्धषित रहती हैं।[670]

हविप्रदात्री गौओं की वृद्धि के लिए अग्नि और सोम की स्तुति की गई है।[671] अग्नि को गो के ऊधप्रदेश के समान ही अन्न को स्वादिष्ट बनाने वाला भी कहा गया है।[672] अग्नि को दुग्ध के समान प्रीणयिता भी कहा गया है।[673]

अग्नि गोदाता के रूप में ऋग्वेद में बहुधा उल्लिखित हैं।[674] वे गोयुक्त धन के स्वामी हैं,[675] अतः गोप्रधान धन देते हैं।[676] यज्ञ को भी वे गोयुक्त करते हैं।[677] गोदाता उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं।[678]

अग्नि पृश्नि के ऊधप्रदेश से तेजस्वी दुग्ध का दोहन करते हैं।[679] वे गो को प्रशस्त बनाते हैं।[680] वे स्वयं गो भी हैं और अश्व भी।[681] उन्हें वशा, उक्षा और गर्भिणी गो के माध्यम से आहूत किया जाता है।[682]

इस प्रकार ऋग्वेद में अग्नि का गो से अनेक प्रकार से घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित है।

अन्य देवता, दैवीकृतपदार्थ व गो

द्यावा पृथिवी

ऊपर द्यावा पृथिवी का अग्नि वत्स की माताओं के रूप में उल्लेख किया जा

---

667 विदद् गव्य दृढ़मूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् । ऋ० 1।72।8
668 अरुणीरपव्रन्—ऋ० 4।2।16
669 के मे मर्यकं वि यवन्त गोभिर्न येषां गोपा अरणश्चिदास ऋ० 5।2।5
670 अध्रिगो–अग्नि का विशेषण ऋ० 3।21।4
971 आप्यायन्तां उस्रिया हव्यसूदः । ऋ० 1।93।12
672 ऊधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्—ऋ० 1।69।2
673 पयो न धेनुः ऋ० 1।66।1
674 ऋ० 1।93।2, 3।1।23, 3।5।11, 4।2।17, 6।10।3 तुलनीय ऋ० 10।156।2, 8।91।19
675 गोमत् वाजस्य ईशानः । ऋ० 1।79।4
676 ग्रोअग्रां राति उपसृजन्ति—ऋ०2।1।16,2।13,3।5।11, 6।11, 7।11
677 ऋ० 4।2।5 678 ऋ० 7।16।7
679 " 4।3।10
680 " 1।70।5 तुलनीय—ऋ० 10।61।17 (अमृतवर्षी गो को दुग्धवती बना दिया।
681 ऋ० 10।5।7 682 ऋ० 2।7।5

चुका है इनमें पृथिवी को प्रीणयित्री धेनु और द्युलोक को वीर्यवान् वृषभ कहा गया है जिन्हें सूर्य दोग्धा बन कर दुहता है ।[683] मेधावी इनके घृतमिश्रित दुग्ध का गन्धर्वों के स्थान में चूस-चूस कर पान किया करते हैं ।[684] पुण्यशाली और पवित्रकर्मा स्तोता के लिए ये घृत का दोहन करती हैं ।[685] द्यावा-पृथिवी घृत से आवृत्त है अतः इनके घृतश्री, घृतपृचा, घृतावृधा,[686] घृतवती[687] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं । सृष्टि के माता-पिता के रूप में इनकी कल्पना की गई है ।[688] इनसे 100 गौओं का धन भी प्राप्त हो सकता है ।[688अ]

तीन देवियाँ

इळा, सरस्वती और भारती इन तीन देवियों में इळा को निघंटु में[689] गो का समानार्थी स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद में इसके घृतहस्ता,[690] व घृतपदी[691] विशेषण मिलते हैं । अग्नि 'गोसनि इळा' के दाता कहे गए हैं ।[692] एक मंत्र में इसे गोसमूह की माता भी कहा गया है ।[693] इळा के पद की गो के परमपद से अभिन्नता ज्ञात होती है ।[694]

सरस्वती के पुं--रूप सरस्वान् को ऋग्वेद में वृषभ कहा गया है ।[695] वह घृत की वर्षा करता है ।[696] सरस्वती समस्त लोकों के धन को प्राप्त करती हुई मनुष्यों के लिए घृतयुक्त दुग्ध दुहती है ।[697] उसे दान विमुख पणियों का संस्कार करने वाला भी कहा गया है ।[698] एक मंत्र में कहा गया है कि पावमानी ऋचाओं के अध्येता के लिए सरस्वती क्षीर, घृत और सोम का दोहन करती है ।[699] उससे प्रार्थना की गई है कि वह कभी दुग्ध से दुःखी (अर्थात् रहित) न करे ।[700] इसका एक घृताची विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है ।[701]

---

683 ऋ० 1।160।3
684 ऋ० 1।22।14
685 " 6।70।2
686 " 6।70।4
687 " 6।70।1
688 " 1।159।2, 160।2 आदि ।
688अ " 1।159।5
689 निघण्टु 2।11
690 ऋ० 7।16।8
691 ऋ० 10।70।8
692 " 3।5।11, 6।11, 7।11 (सायण का अर्थ—धेनुयुक्त भूमि) दुग्धदात्री गो भी इसका अर्थ किया जा सकता है ।]
693 ऋ० 5।41।19
694 गो के परम पद के साथ इस पर अन्यत्र विचार होगा ।
695 ऋ० 7।95।3
696 ऋ० 7।96।5
697 रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय । ऋ० 7।95।9 । नहुषः को निघण्टु 2।3 में मनुष्य नामों में पढ़ा गया है ।
698 ऋ० 6।61।1
699 ऋ० 9।67।32
700 " 6।90।14
701 " 5।43।11

त्वष्टा

त्वष्टा एक कार्यकुशल शिल्पी है।[702] रूप निर्माता के रूप में उसका वर्णन मिलता है।[703] अतः अन्य पशुओं के रूपों की तरह गो के रूप का निर्माण करने वाला भी उसे माना जा सकता है। एक मंत्र में उसे 'गोपा'[704] भी कहा गया है। त्वष्टा के तीन सिर वाले पुत्र विश्वरूप के पास बहुत सारी गायें थीं। इन्द्र ने उसे मार कर गौएँ प्राप्त कर लीं।[705] चन्द्रमा के गृह में त्वष्टा का अन्तर्हित तत्त्व गो कहा गया है।[706]

ऋभुगण

सुधन्वा के तीन पुत्र ऋभु, विभु और वाज पहले मानव थे अपने शिल्प-कौशल के कारण उन्होंने अमृतत्त्व को प्राप्त किया।[707] इन्होंने एक अमृतवर्षी गो का निर्माण किया,[708] जो विश्व को प्रेरित करने वाली सर्वरूप है।[709] इस गो का निर्माण ऋभुवों ने चर्म से किया।[710] संवत्सर पर्यन्त इन्होंने गो की रक्षा की और उसके मांस का निर्माण किया फिर उसे सुन्दर बना दिया। उनका यह कार्य भी उनके लिए अमृतत्व की प्राप्ति में सहायक हुआ है।[711] उनके द्वारा निर्मित इस विश्व-रूपा गो को बृहस्पति ने प्राप्त किया।[712] उन्होंने इस गो को अपने वत्स से संयुक्त किया।[713]

संभवतः उनके इस कार्य के फलस्वरूप ही ऋभुवों को घृताहुति देने का उल्लेख मिलता है।[714] सभी यज्ञ उनके लिए प्रीतिदायक हैं। उनमें उन्हें प्रीतिकर घृत-रूप हवि प्रदान की जाती है।[715] ऋभु गोसंयुक्त धन भी प्रदान करते हैं।[716] उन्होंने गो के गर्भ में एक बछड़ा रखा।[717]

---

702 ऋ० 10।53।9

703 " 10।110।9, 10।184।1, 118।9 अथर्ववेद 2।26।1

704 " 9।5।9

705 ऋ० 10।8।8, 9

706 अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे। ऋ० 1।84।15

707 ऋ० 1।110।4, 3।60।2, 3, 4।36।4

708 तक्षन्धेनुं सबर्दुघाम्—ऋ० 1।120।3, धेनुं ततक्षुः- ऋ० 4।34।9

709 धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम् चक्रुः—ऋ० 4।33।8

710 ऋ० 1।110।8, 1।161।7, 3।60।2, 4।36।4

711 " 4।33।4

712 बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत। ऋ० 1।161।6

713 ऋ० 1।110।8, 1।111।1

714 घृतं जुहुवाम 1।110।6

715 जुष्टासः अद्य घृतनिर्णिजोगुः। 4।37।2

716 ऋ० 4।34।10

717 ऋ० 10।53।11

अंगिरस्

अंगिरा आदि 'पूर्व पितर'[718] माने गए हैं जिन्होंने यज्ञ द्वारा इन्द्र का सख्य व अमृतत्व प्राप्त कर लिया।[719] इन्द्र ने इनके लिए ही गौओं को प्रकट किया,[720] गोष्ठों को खोला[721] और बल को अधोमुख करने के बाद गुहानिहित गौओं को बाहर निकाला।[722] वल भेदन में अंगिरा स्वयं इन्द्र के सहयोगी हुए।[723] पर्वत के दृढ़ द्वारों को उद्घाटित करके गोष्ठ उन्मुक्त करने में भी अंगिराओं ने इन्द्र से सहयोग किया।[724]

अंगराओं ने स्वयं एक वर्ष में ऋत द्वारा बल का भेदन करके गोयुक्त धन को प्रकट कर दिया।[725] अंगिराओं ने इन्द्र की सहायता से प्राप्त गोव्रत में से दीर्घ कान वाली अष्टकर्णी सहस्र गौएँ नाभानेदिष्ट को दीं।[726] इन्द्र को गोप्राप्ति के लिए प्रेरित करने वाली अंगिराओं की प्रशस्तियाँ कही गई हैं।[727]

एक मंत्र में कहा गया है कि अंगिराओं ने प्रथम अन्न प्राप्त करके, अग्नि जला कर यज्ञ किया। तदनन्तर पणियों का सब गोयुक्त धन प्राप्त कर लिया।[728] आंगिरस बृहस्पति के गो प्राप्ति विषयक पराक्रम का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

नवग्वा

नवग्वा की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए स्कन्द स्वामी ने यास्क की साक्षी से उन्हें अंगिराओं में ही गिना है।[729] ऋग्वेद में भी उन्हें अंगिरा कहा गया है।[730]

---

718 ऋ० 1।62।2, 10।14।2, 4, 6, 7, 9

719 " 10।62।1 यज्ञेन समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश:।
सोम ने भी अंगिराओं के लिए गोष्ठ खोला। ऋ० 9।86।23

720 संविदा अंगिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदय। ऋ० 8।63।3

721 गोत्रं अंगिरोभ्यरवृणो: ऋ० 1।51।3

722 ऋ० 8।14।8

723 ऋग्वेद 2।11।20; ऋग्वेद 1।62।3

724 ऋ० 6।17।6

725 य उदाजन् पितरो गोमयं वसु ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्।
ऋ० 10।62।2 तथा 4।3।11 भी द्रष्टव्य।

726 ऋ० 10।62।7

727 ऋ० 1।62।5, 2।15।8, 6।18।5 तुलनीय 1।107।2

728 " 1।83।4

729 नवा सर्वदैव श्रम वर्जिता गतिर्येषां ते नवग्वा:। नवनीते वा गतिरभिलाषो येषां ते नवग्वा अंगिरस:। ऋग्वेद 1।62।4 पर भाष्य। सायण के अनुसार 9 माह में यज्ञ समाप्त करने वाले। निरुक्त 11।2।7 भी द्रष्टव्य

730 ऋग्वेद 10।14।6 अंगिरसो न: पितरो नवग्वा। ऋग्वेद 4।51।4 में नवग्वा को अंगिरा व 10।62।6 में अंगिरस्तम कहा गया है।

इनको भी पूर्व पितृ[731]या अंगिरा, अथर्वन् और भृगुओं के साथ पितृ[732]कहा गया है। नवग्व लोगों के सखा इन्द्र के गोधन की खोज में जाने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[733] सोम को अभिषुत करने वाले नवग्व लोग इन्द्र का प्रशस्ति गान करते हैं और गोनिरोधक पर्वतों को तोड़ कर गोसमूह को उन्मुक्त कर देते हैं।[734] एक मंत्र के अनुसार इन लोगों ने 10 मास तक इन्द्र की स्तुति की। ऋत को जाती हुई सरमा ने गो प्राप्त करके अंगिराओं के स्तवादि कर्मों को सफल किया।[735] नवग्वा शब्द एक बार रश्मियों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[736]

दशग्वा

दशग्वाओं का नाम बहुधा नवग्वाओं के साथ ही प्रयुक्त हुआ है। स्कन्द स्वामी ने इन्हें भृगु कहा है।[737] इन्होंने सर्वप्रथम यज्ञ को वहन किया।[738] इन्द्र ने जब नवग्वाओं के साथ गौएँ प्राप्त की तब दस दशग्वाओं के साथ तम में रहते हुए सूर्य को प्राप्त किया।[739] गोष्ठ तोड़ने में इनकी प्रशस्तियां भी इन्द्र को उत्साहित करती है।[740] इनकी प्रमुख विशेषता सप्तमुख (सप्तास्य) होना है।[741] एक मंत्र में 'अध्रिगु' विशेषण भी इनके लिए प्रयुक्त हुआ है।

सरमा

ऋग्वेद में सरमा देवता के केवल 5 मंत्र दशम मण्डल में हैं। गो प्राप्ति में

---

731 ऋ० 6।22।2 732 ऋ० 10।14।6

733 " 3।39।5 734 " 5।29।12

735 अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन्येन दश मासो नवग्वा।
ऋतं यती सरमा गा अविन्दद्विश्वानि सत्यांगिराश्चकार ॥
ऋ० 5।45।7 (यहाँ नवग्वाओं की दशमास की अर्चना, सरमा की ऋत की ओर गति, गो प्राप्ति और अंगिराओं की सत्यकृति आदि का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होता है। आगे इनके संगत अर्थ पर विचार किया गया है। नवग्वाओं के दशमास यज्ञ का उल्लेख ऋ० 5।45।11 में भी है।)

736 ऋ० 6।·।3 [इस उल्लेख से नवग्वा का गो (रश्मि) से सम्बन्ध प्रकट होता है। साथ ही नवग्वा की ज्योतिर्मयता प्रकट होती है। इस रूप में वे अपने सहयोगी आप्य दशग्वा से भिन्न विशेषता रखते हैं।]

737 दशमासै सिद्धिं गतत्वाद्दशग्वा भृगव उच्यते। ऋ० 1।62।4 का स्कन्द भाष्य द्रष्टव्य।

738 ऋ० 2।34।12

739 ऋ० 3।29।5 (मंत्र में 'तमसि क्षियन्तं सूर्यं' ति से ज्योतिर्मय नवग्वाओं की तुलना में दशग्वाओं की आप्य प्रकृ प्रकट होती है। अतः इन्हें स्कन्द में आप्य प्रकृति भृगु कहा है।

740 ऋ० 4।51।4 741 ऋ० 8।12।2

सरमा का महत्त्वपूर्ण योग माना गया है। सरमा ने पर्वतों में निरुद्ध गोधन को अग्नि की सहायता से खोज लिया।[742] वह जब पर्वत के भग्न द्वार पर पहुंची तो इन्द्र ने उसे यथेष्ट अन्न दिया। सुपदी सरमा शब्द सुन कर सामने जाती हुई, अक्षय गायों के पास पहुंच गई।[743] इन्द्र के द्वारा अद्रिभेदन होते ही सरमा गौओं को प्रकाशित करने के लिए वहां प्रकट हुई।[744] अंगिराओं के गौओं से मिलने पर परम सधस्थ में उत्स प्रकट हुआ और ऋत के मार्ग से सरमा ने गो प्राप्त की।[745] यह इन्द्र की दूती कही गई है जो पणियों का गोधन पाने की इच्छा से विचरती रहती है।[746]

पणि

पणि भी सरमा की तरह केवल ६ मन्त्रों के देवता हैं। इन्हें उत्तम गोपालक (सुगोपा) कहा गया है।[746] गौओं को उनकी निधि कहा गया है।[747] पणियों के सारे प्रसंगों को अध्ययन करने पर कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने किसी को गौएँ दी हों या दान की इच्छा भी की हो। इससे उनकी कृपणता प्रकट होती है। इसीलिए पूषा से उनके हृदय को उदार-दानशील बनाने के लिए कहा गया है।[748] केवलाद (स्वयं खा लेने वाले) पणि को मारने की बात भी कही गई है।[749] एक बार अवश्य वे उत्कोच के रूप में सरमा को गो देने को तैयार हो गये थे जिसे सरमा ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार के दान को अनैतिक (असैन्य) कहा। देवों ने इनके गोधन को पूरी तरह छीन लिया (देवताओं के साथ पृथक्-पृथक् रूप में इसका उल्लेख ऊपर किया गया है।) देवों ने इनके द्वारा गौओं में त्रिधा निहित घृत को भी हस्तगत कर लिया।[751]

---

742 ऋ० 1।72।8

743 विद्यदी सरमारुग्णमद्रेर्महिपाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छारवं प्रथमा जानती गात्।
ऋ० 3।31।6

744 ऋ० 4।1।6।8 (अद्रिभेदन के उपरान्त सरमा का प्रकट होना भी प्रतीकार्थ की अपेक्षा करता है।)

745 ऋतस्य पथा सरमा विदद्गाः। ऋ० 5।45।8, ऋतं यती सरमा गा अविन्दत्—ऋ० 5।45।7

746 ऋ० 10।108।2

746 ऋ० 10।108।7

747 " 2।24।6, 9।111।2, 10।108।2, 7

748 " 6।53।3

749 " 6।51।14 (जही न्यत्रिणं पणिं वृको हिपः।

750 " 10।108।5

751 ऋ० 4।58।4

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से गो और देवताओं के सम्बन्ध के विषय में कुछ मुख्य बातें अध्येता का ध्यान आकर्षित करती हैं।

प्रथम—देवताओं से गो का मातृत्व, स्वसृत्व, पुत्रीत्व, आदि का सम्बन्ध तो है ही, वह पोषिका, प्रकाशिका, प्रदेया, जेया, रक्षिता, पत्नी, अन्नरूपा, शक्ति-गति-क्रिया रूपा, रूप प्रदात्री और यज्ञ की आधार-भूता होने से भी उनसे अपरिहार्य रूप से संयुक्त हो गई है।

द्वितीय--द्युस्थानीय देवताओं से सम्बद्ध गौ उनकी सहचारिणी, रस आदान व धारण करने वाली (सम्भवतः स्तरी); स्वसा (समानधर्मा होने से) व प्रकाशरूपा (रश्मि अर्थ में गो का प्रयोग भाष्यकारों को मान्य है) है, अन्तरिक्ष स्थानीय माता प्रसूता, सुदुघा और जलीय प्रकृति की (भाष्यकारों को गो का जल अर्थ में प्रयोग मान्य) है और पार्थिव देवों से सम्बद्ध गो धन और यज्ञ की प्रसाधिका है। स्थान भेद से ये भिन्न किन्तु तात्त्विक दृष्टि से एक हैं।

तृतीय—गो के विभिन्न रूपों व देवों से विविध सम्बन्धों के बीच में जो एक सूत्र विद्यमान है।

षष्ठ अनुच्छेद : यज्ञ और गो

यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।[1] जैन बौद्धों में अहिंसा, ईसाइयों में दया, सिखों में भक्ति और इस्लाम में नमाज की जो प्रतिष्ठा और महत्त्व है, वही वैदिक धर्म में यज्ञ के लिए है।[2] अथर्ववेद में यज्ञ को संसार का केन्द्र (नाभि) माना गया है।[3] अतः यज्ञ को महत्ता की दृष्टि से वैदिक धर्म का मेरुदण्ड[4] कहना उचित ही प्रतीत होता है।

यज्ञ दो प्रकार का होता है—प्राकृत यज्ञ और कृत्रिम यज्ञ। कृत्रिम यज्ञ का आधार प्राकृत यज्ञ ही है।[5] इस यज्ञ में देवताओं के निमित्त हवि आदि पदार्थों का त्याग किया जाता है।

यज्ञ शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दानार्थक √ यज् धातु से व्युत्पन्न है। व्युत्पत्ति के अनुसार देवों के प्रति पूजनीयता का भाव रखते हुए तथा यज्ञभूमि में उनसे (देवों से) निकटता अनुभव करते हुए, उनके लिए द्रव्य व मन, प्राण का समर्पण करना ही यज्ञ कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ के अनुसार (या उसके अनुकरण पर) विद्वानों ने यज्ञ का यजन किया। वह यज्ञ ही प्रथम धर्म था जिसे साध्यदेवों ने आकाश में अपनी महिमा से विस्तृत किया था।[6] यहाँ पर देवताओं के जिस पूर्व यज्ञ की ओर संकेत किया गया है वह सृष्टि का प्राकृत यज्ञ है और उसके अनुकरण पर किया जाने वाला कृत्रिम यज्ञ है जिसे हविर्यज्ञ कहा जा सकता है। यहां हविर्यज्ञों में गो के महत्त्व पर विचार किया जा रहा है।

हविर्यज्ञों की जिस जटिल प्रक्रिया का ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार देखने को मिलता है उसके विषय में यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध व महावीर, जो उनके जटिल

---

1 यज्ञो वै श्रेष्ठितमं कर्म—शतपथ ब्राह्मण 1।5।4।5 तुलनीय यजुर्वेद वा. सं.1।1

2 राम गोविन्द त्रिवेदी—वैदिक साहित्य—पृ० 248

3 अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः—ऋग्वेद 1।64।35

4 डॉ० बलदेव उपाध्याय—वैदिक साहित्य और संस्कृति—पृ० 521

5 गिरधर शर्मा चतुर्वेदी—वेद विज्ञान बिन्दु—पृ० 39

6 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
ऋ० 1।164।50, 10।90।16

7 यज्ञ के इस स्वरूप के लिए द्रष्टव्य 'ऋग्वेद में गोतत्त्व' अनुच्छेद।

स्वरूप से सहमत नहीं थे, भी यज्ञीय दृष्टिकोण के विरोधी नहीं थे। अग्निहोत्र की प्रमुखता को बुद्ध ने भी स्वीकार किया है (अग्निहुत्त मुखा यञ्जा); परन्तु साथ ही पुण्य की आकांक्षा करने वाले यज्ञकर्त्ताओं के लिए उन्होंने संघ को प्रमुखता दी है।[9] महावीर ने भी होम को ऋषिप्रशस्त स्वीकार करते हुए उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार तप अग्नि है। जीव ज्योतिस्थान; योग की स्रुवा से शरीर रूपी करीष और कर्म के ईंधन में आहुति दी जानी चाहिए।[10] अतः स्पष्ट है कि इन आचार्यों को भी यज्ञ से वैसा विरोध नहीं था जैसा साधारणतया समझा जाता है। केवल आध्यात्मिक यज्ञ पर बल देना ही इनका उद्देश्य ज्ञात होता है।

हविर्यज्ञों से गो का सम्बन्ध दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथमतः गो उनमें किन्हीं देवताओं का प्रतिनिधित्व करती हुई पूजा ग्रहण करने के लिए स्वीकार की जाती है और द्वितीय रूप में दुग्ध, दधि, घृत आदि द्रव्य उपलब्ध करा कर वह यज्ञ के (द्रव्यत्याग) स्वरूप का मुख्य साधन बनती है। एक तीसरे प्रकार का सम्बन्ध श्रद्धा-भाव का माना जा सकता है जिसके अनुसार वैदिक परम्परा में गो के साथ मातृत्व का[11] और बुद्ध के साथ मित्रता[12] का सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस रूप में गो यज्ञ में अहिंसनीया होती है और इस प्रकार यज्ञ के अध्वर (अहिंसात्मक) स्वरूप की निर्मात्री बनती है। ऋग्वेद में प्रयुक्त गो के 'अध्वर्या'[13] विशेषण से भी इस बात की पुष्टि होती है।

गोयुक्त यज्ञ की कामना

गो यज्ञ के लिए हवि प्रदान करती है। गो के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। अतः ऋग्वेद में यज्ञ को गो विशिष्ट करने के लिए अग्नि से प्रार्थना की गई है।[14] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हमारे यज्ञकर्म गो प्रधान हों—गो अग्राः धियः (—जिनमें गो अग्रणीय या प्रधान हो ऐसे कर्म)।[15]

---

9 पुञ्ञं आकांखमानानं संघो वे यजतं मुखम्—सुत्तनिपात्त-महावग्गसेलसुत्त। 22 तथा विनयपिटक (राहुलसंपादित) भैषज्य स्कन्धक-6।6।6

10 तपो ज्योतिः जीवो ज्योतिस्थानं योगस्स्रुवा शरीरं करीषम्।
कर्मेधः संयमयोगशान्तिः होमं जुहोमि ऋषिणां प्रशस्तम्॥
उत्ताराध्ययन सूत्र सं० 1243 की संस्कृत छाया

11 ऋ० 10।176।1, 5 52।16, 8।94।1 आदि तथा
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः---महाभारत-अनुशासनपर्व 69।7

12 गावो नो परमो मित्ता---सुत्तनिपात-चूलवग्ग ।13

13 ऋ० 10।68।3

14 गोमाँ यज्ञो (कृणुहि) ऋ० 4।2।5

15 ऋ० 1।90।5 धी शब्द निघ० 2।1 में कर्मनाम है।

गो की यज्ञ से उत्पत्ति

पुरुष सूक्त में यज्ञपुरुष से सृष्टि का विकास दिखाया गया है। उसमें यह भी कहा गया है कि सर्वहुत यज्ञ से गौएँ उत्पन्न हुईं।[16] यज्ञ को गो-उत्पादक मान कर ही कदाचित् गो-अभिलाषी स्त्री-पुरुष, इन्द्र की तृप्ति के लिए, यज्ञ का विस्तार करते हैं। वे (यज्ञ से) गोधन चाहते हैं और स्वर्गगमन की इच्छा रखते हैं।[17]

यज्ञ के लिए गो

अथर्वा ऋषि ने गौओं को यज्ञ के लिए प्राप्त किया था। उन्होंने पहले यज्ञ द्वारा पथ का विस्तार किया। तत्पश्चात् व्रतरक्षक सूर्य रूप इन्द्र उत्पन्न हुआ और फिर कविपुत्र उशना के साथ अमृतस्वरूप इन्द्र की पूजा करने लगे।[18] अथर्वा ने (गो युक्त) यज्ञ के द्वारा देवों को सन्तुष्ट किया। देवता और भृगुवंशियों ने दक्षतापूर्वक यज्ञ में जाकर उसे जाना।[19]

हवि-प्रदात्री गो

दधि, धाना, सक्तु, पुरोडाश और दुग्ध ये 5 हवियाँ कही गई हैं।[20] इनमें दुग्ध, दधि और उनसे निकला हुआ घी—ये गो से ही प्राप्य हैं। पुरोडाश में भी दुग्ध, घृतादि का योग रहता है। इसलिए गौएँ ही मुख्य रूप से हवि प्रदान करती हैं। अतएव गौओं को 'हव्यसूदः'[21] (हव्य निष्पादिका) कहा गया है। ऋग्वेद में कीकट देश की गौओं का उल्लेख भी मिलता है। जिनका दूध यज्ञ में काम नहीं लिया जाता था।[22] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि कीकट देशस्थ गौएँ बहुत दूध देती थीं तथा यज्ञ के लिए दूध आदि की प्राप्ति के लिए वैदिक आर्य उनकी लालसा करते थे।

हवि भक्षण करने के कारण अग्नि को 'हव्याद्' कहा गया है। यज्ञ में केवल 'हव्याद्' अग्नि ही प्रयुक्त होती है। शव जलाने वाली (क्रव्याद) और मांस-

---

16 गावो ह जज्ञिरे तस्माद्—ऋग्वेद 10।90।10 मंत्र संख्या 8 भी द्रष्टव्य।

17 ऋग्वेद 1।131।3 यहाँ यज्ञ से गो और तत्फलस्वरूप स्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख है। (हिन्दी ऋग्वेद)

18 यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥
स्कन्द स्वामी ने यहाँ यमस्य जातम् का अर्थ यज्ञपुत्र इन्द्र किया है। ऋग्वेद 1।83।5

19 यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे। ऋ० 10।92।10

20 शांखायन ब्राह्मण 13।2

21 ऋ० 1।93।12, 4।50।5 तुलनीय ऋ० 1।187।11

22 किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
ऋ० 3।53।14

23 ऋ० 7।34।14

भक्षी (आमाद) अग्नियों को यज्ञ से पृथक् रखा जाता है।[24] मूढ़याजक इस बात पर बिना ध्यान दिये हुए गो व कुत्ते के अंगों तक से यज्ञ कर देते हैं।[25] किन्तु ऋग्वेद के अनुसार अग्नि को यज्ञ में वशा और उक्षा द्वारा आहूत किया जाता है[26] और उक्षान्न (धान) और वशान्न (दुग्ध घृतादि) ही यज्ञ में ग्राह्य हैं।[26अ]

यज्ञ में गव्यों का उपयोग

गोदुग्धादि के उपयोग के विषय में अन्यत्र विचार किया गया है। यज्ञ में दुग्ध, दधि और घृत का प्रभूत उपयोग किया जाता है। दुग्धवती और कल्याण गौएँ यज्ञ करने वाले या यज्ञ करने का संकल्प करने वाले के लिए ही दुग्ध प्रदान करती है। उनको तृप्त करने वाले तथा उनका हित करने वाले के प्रति घृतधारा स्वत: ही उपस्थित हो जाती है।[27] यज्ञ या यज्ञवेदी को कई बार घृतयुक्त (घतवत्)[28] कहा गया है। यज्ञ उषा काल में किया जाता है। ऋग्वेद में उषाकाल में इन्द्र के लिए (यज्ञ करने के लिए) गो का दोहन करने का उल्लेख मिलता है।[29] यज्ञ में आहुति घृतयुक्त दुग्ध की भी दी जाती हैं।[30] अन्यत्र घृतयुक्त-हव्य की आहुति का उल्लेख मिलता है।[31] अग्नि को घृत द्वारा ही आहुत किया जाता है।[32] घृत प्रदान करने की स्रुक् के लिए घृतवती[33] व घृताची[34] विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। जिस यज्ञ में सोम का सवन किया जाता है; घृत की धाराएँ उस यज्ञ की ओर गमन करती हैं।[35] घृत भक्षण करने वाले देवताओं के घृतश्री, घृतान्न, घृतासुति, घृतपृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृतपृष्ठ, घृतस्नु, घृतहस्त, घृतपद (इळा घृतपदी), घृतयोनि, घृताहवन, घृतकेश, घृतवृध आदि विशेषणों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। देवताओं के काम्य[36] घृत को प्रदान करने वाली गो को 'घृतदुहा'[37] कहा गया है।

---

24 क्रव्यादं अग्निं प्र हिणोमि दूरम् ऋ० 10।16।9

25 अथर्ववेद 7।5।5

26 ऋग्वेद 2।7।5

26अ " 8।43।11 उक्षान्न और वशान्न के लिए 'ऋग्वेद में गो पशुरूप में' शीर्षक अनुच्छेद की टिप्पणी 82 द्रष्टव्य।

27 ऋ० 1।125।4

28 " 1।142।2, 6।15।16

29 " 6।28।1

30 विदथेषु घृतवत् पय:-ऋ० 1।64।6

31 हव्यं घृतवज्जुहोत्-ऋ० 3।59।1

32 त्वं घृतेभिराहुत:—ऋ० 2।7।4, 8।19।22-23

33 ऋ० 6।11।5

34 " 3।6।1, 3।19।2, 7।43।2 आदि।

35 " 4।58।9

36 " 3।58।1

37 " 9।89।5

यज्ञ में दूध और सोम मिलाकर गवाशिर या रसाशिर व दधि में सोम मिला कर दध्याशिर बना कर देवताओं को प्रदान करने व दधि, घृत और सत्तू से करम्भ बना कर पूषा व इन्द्र के लिए अर्पण करने का उल्लेख किया जा चुका है इस प्रकार गौ ही द्यावा और पृथिवी के साथ यज्ञ को रस-सिक्त बनाती है और यज्ञ-कर्त्ता को पोषक पदार्थों से पुष्ट करती है ।[38]

गो के बालों का उपयोग

पारसी लोग गो की पूँछ के बाल को अँगूठी में लपेट कर सभी धार्मिक कर्म-काण्डों में व्यवहार में लाते हैं ।[39] ऋग्वेद में सोमशोधन के लिए मेषलोमों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है ।[40] अथर्ववेद में मेषलोम के स्थान पर गो के बालों की प्रोक्षणी (जलसिंचन करने की अथवा शुद्धि करने की कूँची) का उल्लेख मिलता है ।[41] अतः गो के बालों का भी यज्ञ में उपयोग किया जाता था ।

गो के शीर्ष पर यज्ञाग्नि

एक मंत्र के अनुसार विभूवस पुत्र त्रित ने अग्नि को अघ्न्या के शीर्ष स्थान पर पाया ।[42] सायण के अनुसार इस मंत्र में अघ्न्या का अर्थ भूमि है । यज्ञ में वेदी पर अग्नि प्रज्वलित की जाती है । अतः अग्नि की प्राप्ति वेदी पर ही होना सम्भव है । वेदी से गो का सम्बन्ध यही हो सकता है कि गोबर व गोमूत्र से वेदी को शुद्ध किया जाय । इसी मंत्र की दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि वह स्थान घर में (हर्म्येषु) ही है । अतः ऋग्वेद के इस मंत्र से गोबर व गोमूत्र की यज्ञवेदी की शुद्धि के लिए उपयोग ध्वनित होता है ।

यज्ञ में गोचर्म पर सोम

ऋग्वेद में गोचर्म पर सोम पात्र रखने[43] या सोम पीसने[44] का उल्लेख भी मिलता है । ऐसे प्रसंगों पर 'बैल का चर्म' अर्थ किया जाता है; किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता । यहां गोचर्म का तात्पर्य निश्चित परिणाम वाली वेदी ज्ञात होता है ।[45]

हाड़ौती में विशेष क्षेत्रफल की भूमि के लिए 'छाम' (च्हाम जैसा उच्चारण) शब्द वर्तमान काल में प्रचलित है । कदाचित् एक छाम (गोचर्म) के विस्तृत क्षेत्र

---

38 ऋग्वेद 1।22।13

39 कल्याण-गो अंक—पृ० 216-18 एवंद के० एस० दाबू का 'गो तथा जरदुश्ती मत' नामक निबन्ध द्रष्टव्य ।

40 ऋग्वेद 8।2।2, 9।1।6, 9।108।5 आदि

41 बालास्ते प्रोक्षणी सन्तु । अथर्ववेद 10।9।3

42 इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ऋ० 10।46।3

43 ऋग्वेद 1।28।9, 9।65।25, 9।79।4

44 ऋग्वेद 9।66।29

45 देखो अनु. 1 पृ०

में बनी हुई यज्ञवेदी पर सोमसवन करने के लिए पत्थर व सोम के पात्र रक्खे जाते होंगे ।[46]

यज्ञ में गो का सत्कार

यज्ञ में इळा और सरस्वती के साथ गो (मही गोनाम—निघण्टु 2।11) का भी आह्वान किया गया है और उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित करते हुए उनसे वेदी के पार्श्वदेश में बिछी हुई बर्हि पर बैठने के लिए कहा गया है ।[47] अत: यज्ञ में गो का सत्कार किया जाता था ।

गो की यज्ञ में अग्र पूजा

बौद्ध-ग्रन्थ चूलनिद्देस में समाज के एक वर्ग द्वारा गो पूजा किये जाने का उल्लेख मिलता है । वहाँ यह भी कहा गया है कि जिसके प्रति मनुष्य का श्रद्धाभाव होता है, उसके लिए वहीं देवता होता है ।[48] गो के देवता रूप का अन्यत्र विवेचन हो चुका है । इस रूप में गो की यज्ञ में पूजा भी की जाती थी । एक मंत्र में गो की अग्र पूजा (सर्वप्रथम मान्यता) का उल्लेख मिलता है ।[49] अथर्ववेद में गो की प्रार्थना भी की गई है --

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नम: ।
बालेभ्य: शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये नमो नम: ।।[50]

यज्ञसभाओं में गो का यशोगान

गौओं के प्रति और भी अधिक आदर व्यक्त करने व कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए उनके यश का बखान किया जाता है । एक मंत्र के अनुसार मंगलध्वनि युक्त गौएँ जब (यज्ञ) गृह को मंगलयुक्त बनाती हैं, तब उनसे प्राप्त मधुर दुग्धादि अन्नों की सभाओं में प्रशंसा की जाती है ।[51]

गो को स्तोत्र अर्पण

ऋग्वेद में गौओं की स्तुति करने का उल्लेख भी मिलता है । यह बात

---

46 रन्तिदेव की कीर्ति का स्मरण कराने वाली (मेघदूत पू० मे० 48) चर्मण्वती का सम्बन्ध भी 'छाम' या 'चर्म से ही ज्ञात होता है । डा० सुधीर कुमार गुप्त ने चर्मण्वती का उद्भव रन्तिदेव के गवालम्भ यज्ञ में छोड़े गये संकल्पों के जलों से माना है (मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि—पृ० 13 द्रष्टव्य)' ऐसा मान लेने पर भी विशिष्ट परिमाण की यज्ञवेदी अर्थ में कोई बाधा नहीं आती । देखो अनु० 1—पा० टि० 130

47 ऋग्वेद 1।13।9 गोज्ञानकोश—द्वितीय भाग पृ० 25 पर पं० सातवलेकर की टिप्पणी द्रष्टव्य । ऋ० 1।142।9 भी द्रष्टव्य ।

48 गोवतिकानं गावो देवता — चूलनिद्देस ।

49 गो अग्रया प्रमत्या संरभेमहि—ऋ० 1।53।5 तुलनीय 1।90।5

50 अथर्ववेद 10।10।1

51 भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु । ऋ० 6।28।6

आलंकारिक शैली में इस क्रिया को उपमान बना कर कही गई है ।[52]

यज्ञ में हवि खाने वाली गौएँ

यज्ञ की हुतशेष हवि कदाचित् गौओं को खिलाई जाती थी । ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि हवि भक्षण करने वाली गौएँ अपने ऊधप्रदेश में स्थित दूध को अपनी महिमा द्वारा इन्द्र को प्रदान करती है ।[53] अथर्ववेद में गो के सर्वदेवमय शरीर का वर्णन मिलता है ।[54] सम्भवत: गो के शरीरगत देवों की तुष्टि के लिए ही उन्हें हवि अर्पण की जाती हो । लोक में देवार्पित खाद्य पदार्थों को गो को खिलाने तथा सर्वप्रथम गोग्रास निकालने की परम्परा का आधार भी यज्ञ में उन्हें हवि अर्पित करना ही रहा प्रतीत होता है ।

गौओं को सोम पिलाना

गो को सर्वदेवमयी मान लेने के कारण ही उसके माध्यम से देवों को तुष्ट करने के लिए उसे सोमपान भी कराया जाता था । एक मंत्र में स्पष्ट ही कहा गया है कि गौरवर्ण की गौएँ यज्ञ में स्वादिष्ट व मधुर सोम का पान करती हैं ।[55]

सोमक्रयण की साधनभूत गो

सोम को देवताओं की हवि कहा गया है ।[56] यज्ञ में सोम खरीदा जाता है ।[57] कहा गया है कि साम राजा गंधर्वों में था । देवों व ऋषियों ने चिन्तन किया कि सोम राजा हमको कैसे मिले ? तब वाक् ने कहा कि गंधर्व स्त्री-कामी होते हैं इसलिए स्त्री रूप मुझे देकर सोम खरीद लो । देवताओं ने पूछा कि तुम्हारे बिना हम कैसे रहेंगे ? तो वाक् ने समझाया कि खरीदने के बाद जब मेरी अभिलाषा करोगे तभी मैं पुनः लौट आऊँगी । उन्होंने महानग्नीरूपा गो से सोम खरीद लिया । आगे कहा गया है कि इस सम्पूर्ण क्रिया की अनुकृति सोमक्रयणी वत्सतरी द्वारा सोम पेय खरीद कर सम्पन्न की जाती है ।[58] सोमक्रयण की इस क्रिया का आधार ऋग्वेद ही है जिसमें श्येन पक्षी द्वारा द्युलोक से सोम ले आने का उल्लेख मिलता है ।[59] गायत्री ही श्येन बन कर द्युलोक से सोम लाती है ।[60] वह सोम लाते

---

52 रात्रि को स्तोम अर्पित करो जैसे गौ को अर्पित किये जाते हैं । ऋ० 10।127।8

53 आ यस्मिन् गावः सुहुताद ऊधनि मूर्धञ्छ्रीणन्ति अग्रियं वरीमभिः ऋ० 9।71।4

54 अथर्ववेद 9।7

55 स्वादोरित्था विषुवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः । ऋ० 1।84।10

56 शतपथ ब्रा० 4।3।4।1

57 शतपथ ब्रा० 3।2।6।1

58 ऐतरेय ब्राह्मण 5।2

59 ऋग्वेद 4।26।4—7, 4।27।3-5 (हिन्दी ऋग्वेद)

60 शतपथ ब्रा० 3।7।5।10

समय गो या स्त्री रूप हो जाती है।[61] अतः यज्ञ में ऋग्वेद के मंत्रों के भावों के अभिरूप क्रिया सम्पन्न करने के लिए (सोमक्रयणार्थ) गो को माध्यम बनाया जाता था।[62]

गौओं की यज्ञ की ओर गति

गो की यज्ञ में उपयोगिता का उल्लेख ऊपर किया गया है। गो के हितकर रूप को प्रकट करने के लिए यह कहा गया है कि वह स्वतः ही यज्ञ सम्पन्न करने के लिए यज्ञ के साधनभूत अग्नि की ओर गति करती है।[63] जैसे कार्य प्रारम्भ करने के लिए सर्वप्रथम मन में संकल्प किया जाता है, उसी प्रकार देवताओं के लिए यज्ञ में सर्वप्रथम गौओं (गौओं से प्राप्त दुग्ध घृतादि) को अर्पित किया जाता है।[64]

यज्ञ के मार्ग पर गौएँ

गौएँ यज्ञ के मार्ग पर गति करती हुई आती हैं और दूध देकर यज्ञ को पूर्ण बनाने में योग देती हैं।[65] एक अन्य मंत्र में भी यज्ञगृह में निवास करने वाले अग्नि की ओर जाने वाले मार्ग पर विचरण करने वाली गो का उल्लेख मिलता है [66]

अश्विन् के रथ का विशेषण घृतवर्तनिः[67] प्रयुक्त हुआ है। घृत सिंचित 'गव्यूति'[68] (गो + ऊती—जहाँ गाय की रक्षा पूर्णतया हो सके) और घृत मार्ग कदाचित् यज्ञवेदी के लिए प्रयुक्त हुए हों।

गो द्वारा देवातिथि का स्वागत

अग्नि को बहुधा अतिथि कहा गया है।[69] भारत में अतिथि सत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। लौकिक-अतिथि की तरह देवातिथि (अग्नि) को भी निराकृत न करने की (अर्थात् अग्निहोत्र करने की—सायण) बात कही गई है।[70]

---

61 डॉ० फतहसिंह—वैदिक दर्शन पृ० 150

62 शतपथ ब्रा० 3।2।6।1—2

63 ऋग्वेद 5।6।1—2 (अग्नि यन्ति धेनवः)

64 ऋग्वेद 1।151।8

65 या गोर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
ऋग्वेद 10।65।6 (हिन्दी ऋग्वेद)
[इस मंत्र में गो का 'व्रतनी' विशेषण प्रयुक्त हुआ है जिससे यह व्यंजित होता है कि यज्ञ को पूर्णता प्रदान करना गो का स्वाभाविक व्रत है।]

66 ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तं पर्येका चरति वर्तनिं गौः।
ऋग्वेद 3।7।2 तुलनीय 10।172।1

67 ऋग्वेद 7।69।1

68 ऋग्वेद 3।62।16, 7।62।5, 8।5।6 आदि।

69 ऋग्वेद 1।73।1, 128।4, 2।2।8, 3।2।2 आदि।

70 ऐतरेय ब्राह्मण 25।6

यहां तक कि आतिथ्य को यज्ञ का शिरोस्थानीय भी कहा गया है।[71] आतिथ्य के लिए प्रमुख रूप से गो को प्रयुक्त किया जाता है। परवर्ती काल में गो अतिथि का 'गोघ्न'[72] विशेषण ही प्रयुक्त हो गया। ऋग्वेद में गो का एक विशेषण 'अतिथिनी' भी प्रयुक्त हुआ है।[73] आजकल देवातिथि को अर्पण करने के लिए दूध, दही, घृत, मधु और शर्करा का 'पंचामृत' बनाया जाता है। सूत्र ग्रन्थों व स्मृति ग्रन्थों में अतिथि को मधुपर्क समर्पित करने का विधान भी है। इन परम्पराओं का आधार ऋग्वेद के उपर्युक्त सांकेतिक वर्णन ही ज्ञात होते हैं।

यज्ञ में गो दान

गोदान पर अन्यत्र विचार प्रकट किया गया है। यज्ञ में गो की दक्षिणा दी जाती है।[74] अतः गो का एक नाम दक्षिणा भी प्रयुक्त हुआ है।[75] गो, पृथिवी और विद्या के दान को दान को नरक से बचाने वाला अतिदान कहा गया है।[76]

यज्ञ का फल गो प्राप्ति

यज्ञ के फल के रूप में गो और उससे उत्पन्न घृतदुग्धादि अन्न मिलते हैं। एक मंत्र में कहा गया है कि सोम यज्ञकर्त्ता को धेनु प्रदान करता है।[76] अन्यत्र अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह यज्ञकर्त्ता को कर्मों की हेतुभूत धेनु से युक्त भूमि प्रदान करें।[77] यज्ञकर्त्ता को प्राप्त होने वाली धेनुएँ निर्भय हो जाती हैं। न उन्हें युद्ध प्रयाण करने वाले शत्रुओं के

---

71 शतपथ ब्राह्मण 3।3।2।1

72 √ हन् धातु का अर्थ है हिंसा व गति। ऋग्वेद में गो का अघ्न्या नाम प्रयुक्त होने के कारण गो के प्रसंग में √ हन् का अर्थ हिंसा करना असंगत है। अतः गति—ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ ही इस प्रसंग में उपयुक्त बैठ सकते हैं। पाणिनि ने भी 'दाशगोघ्नो-सम्प्रदाने' सूत्र द्वारा 'अतिथि के लिए गो प्रदान करना' (गावः हन्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मै सः गोघ्नोऽतिथिः) अर्थ को ही प्रामाणिक माना है। पं० सातवलेकर ने हस्तघ्न की तरह गोघ्न का अर्थ गो रक्षक भी किया है। तर्क से वेद अर्थ—पृ० 61

74 ऋग्वेद 10।68।3

74 दक्षिणा गां ददाति—ऋ० 10।107।7

75 दक्षिणा वै यज्ञानां पूर्वगवी—ऐ० ब्रा० 30।9 इस प्रसंग के आधार पर ऋ० 10।107 सूक्त द्रष्टव्य।

76 त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती नरकादुद्धरन्त्येते जपवापनदोहना-दुपस्पर्शनात्। संहितोपनिषद् ब्रा० 4

76 ऋग्वेद 1।91।20

77 ऋ० 3।5।11; 6।11, 7।11, 15।7

अश्व प्राप्त कर सकते हैं न उन्हें संस्कार और त्राण की अपेक्षा रहती है।[78] इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह यज्ञ में गाए गए स्तोत्रों के बदले में स्तोताओं को गो तथा रथवाहक अश्व प्रदान करे।[79] गोधन प्राप्ति के लिए देवताओं को उद्देश्य करके यज्ञ किया जाता है।[80] और इसीलिए उनसे इस आशय की प्रार्थना की जाती है।[81] अतः पशु, अन्न, पुत्रादि कामनाओं को पूर्ण करने का माध्यम होने से ही यज्ञ को वृषा कहा गया प्रतीत होता है।[82]

यज्ञरूपी कामदुघा

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि तुम इससे ऐश्वर्य को प्राप्त होओ यह (यज्ञ) तुम्हारे लिए इष्ट कामधुक् है।[83] वहाँ धेनुओं प्रीणयित्री वस्तुओं में कामदुघा को परमेश्वर की विभूति भी कहा गया है।[84] इन प्रसंगों से प्रकट है कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न प्रजापति का यज्ञ ही कामदुघा है क्योंकि वह प्रजापति के काम या संकल्प का दोहन करता है। इसे कामप्र यज्ञ भी कहा गया है।[85] ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर उपमान के रूप में 'कामप्र शब्द आया है। वहाँ कहा गया है कि 'जिस प्रकार कामप्र-यज्ञ में (प्रजापति का) मानसिक आचरण कामदुघा बन कर प्रकट हुआ। उसी तरह हमें शरीर-पुष्टिकर, प्रभूतदुग्धदात्री गो प्रदान करो—

जिगृतमस्मे रेवतीः पुरन्धीः कामप्रेणेव मनसा चरन्त।[86]

अतः प्रजापति का संकल्प कामधुक् यज्ञ के रूप में प्रकट हुआ। यजमान के संकल्प से वितत यज्ञ भी उपर्युक्त प्रथम यज्ञ पर आधारित होने से कामधुक् ही कहा जा सकता है। ऋग्वेद में यज्ञ रूपी गो (कामधेनु) के दोहन का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि हे अग्नि, यज्ञ-रत के लिए यज्ञरूपिणी, यथेष्ट दूध देने वाली विश्व-

---

78 ऋ० 6।28।4 (वेंकट माधव का भाष्य)। सायण ने ऋ० 8।33।9 में संस्कृतम् का अर्थ 'शस्त्रों से अलंकृत' अर्थात् योधा दिया है। राजा योधाओं का रक्षक होने से संस्कृतत्र है। अतः 'वे गौएँ राजा द्वारा भी नहीं छीनी जाती हैं, अर्थ भी हो सकता है। सायण का विशसनादि संस्कार अर्थ वैदिक मर्यादाओं के प्रतिकूल होने से अमान्य है। वह शब्द की रचना के भी अनुकूल नहीं है।

79 ऋ० 6।46।2

80 ऋ० 8।13।32;10।66।6

80 ऋग्वेद 1।177 4 (हिन्दी ऋग्वेद)

81 ऋग्वेद 5।41।1 (हिन्दी ऋग्वेद)

82 ऋ० 8।13।32,10।66।6

83 श्रीमद्भगवद्गीता 3।10

84 धेनूनामस्मि कामधुक्—श्री भ०:गी० 10।28

85 शतपथ ब्रा० 11।1।6।17;20

86 ऋग्वेद 1।158।2

पालिका (विश्वधायस्) गो से यज्ञ फल दुह डालो ।[87] अतः यहाँ गो और यज्ञ को अभिन्न कहा गया है जैसी कि परम्परा आगे चलकर गीताकार को मिली ।

यज्ञ की समृद्धि के लिए गो

ऋचा में कहे हुए कर्म को यथावत् सम्पन्न करना ही यज्ञ की रूप समृद्धि है ।[88] यज्ञ को सब भूतों की आत्मा कहा गया है । यह यज्ञ प्रजा और पशु से समृद्धि प्राप्त करता है ।[89] पशु होने के कारण गो भी यज्ञ की समृद्धि का साधन बनती है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का चरम फल श्रद्धा व सत्य की उपलब्धि माना गया है[90] और उसकी दृष्टि में ही सम्भवतः यज्ञ के अङ्गों और प्रक्रिया के आध्यात्मिक रूप की ओर संकेत किए गए हैं[91] परन्तु साथ ही यज्ञ की रूप समृद्धि के लिए ऋचाओं में वर्णित भावों के अनुसार द्रव्य-संभार जुटाना भी आवश्यक समझा गया है । यह संभार गो से प्राप्त होता है । अतः यजमान की उसमें श्रद्धा होना स्वाभाविक है । इस श्रद्धा से गो प्रदाता यज्ञ और देवों के प्रति कृतज्ञता रूप श्रद्धा से समवेत होता है । द्रव्य उपलब्ध न होने पर इस श्रद्धा मात्र में भी हवन किया जा सकता है ।[92]

हवि आदि द्रव्यों की प्राप्ति तो गो से ही होती है । अतः गो का एक विशेषण अथर्ववेद में 'यज्ञ पदी'[93] भी प्रयुक्त हुआ है । गो से प्राप्त द्रव्य तथा अन्य सभी संभार जुट जाने पर भी यज्ञ में समृद्धि के लिए गो का अन्यथा उपयोग बच रहता है ।

यज्ञ देवसंगति की कामना के लिए किया जाता है जिसमें एकादश पार्थिव अन्तरिक्षस्थ व एकादश द्युलोक स्थित —इन तैंतीस देवताओं की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है ।[94] गो इनमें से किसी विशिष्ट देवता का अथवा सभी देवताओं का प्रतिनिधित्व करती हुई यज्ञ की रूप समृद्धि में योग देती है ।

उदाहरण के लिए दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए दही व दूध की हवि समर्पित की जाती है । अमावस्या की रात्रि को गाय दुही जाती है जिससे प्रतिपदा को दधि का होम किया जा सके । उस समय वत्स को गो से पृथक करके प्रार्थना की जाती है । "श्रेष्ठतम कर्म (यज्ञ) के लिए सविता तुमको प्रवर्तित करे । हे अघ्न्या ! इन्द्र के भाग को प्रवर्द्धित करो । तुम नीरोग हो । तुमको चोर न चुरावें न घातक जन्तु हानि

---

87 इषं दुहन्त्सुदुघां विश्वधायसं यज्ञप्रिये यजमानाय सुक्रतो । ऋ० 10।122।6 (हिन्दी ऋग्वेद)

88 ऐतरेय ब्राह्मण 3।2।13 तथा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम् । ऐ० ब्रा० 4।5 शांखायन ब्रा० 3।9,7।10,8।4,8।7

89 शतपथ ब्रा० 14।3।2।1

90 ऐतरेय ब्रा० 32।10, श्रद्धायै होतव्यम्—ऐ० ब्रा० 25।3

91 ऐतरेय ब्राह्मण 24।6

92 श०ब्रा० 11।3।1

93 अवे० 10।10।6

94 ऋ० 1।139।11

पहुँचावें । अपितु गोपति (यजमान) के पास नित्य वर्तमान रहती हुई तुम बहुत सी सन्तानों से युक्त होओ ।"[95] दूध तीन गौओं का निकाला जाता है । उनमें से प्रथम गो का दूध निकालते समय अध्वर्यु दोग्धा से कहता है—तुम 'कामधुक्षः—गौओं के मध्य में काम या अभीप्सित पदार्थ का दोहन करने वाले हो ।' दोग्धा तब अध्वर्यु से कहता है कि यह प्रथम गो विश्वायु नाम वाली है, द्वितीय विश्वकर्मा है और तृतीय विश्वधायस् है ।[96]

इन्द्र समस्त देवमय है—इन्द्रः सर्वा देवता । इसलिए उनके लिए दुही जाने वाली प्रथम गो द्युस्थानीय है जो सब में आयु को प्रवर्तित करती है । अतः उसे विश्वायु कहा गया है । वायु भी सर्वदेवमय है—वायुः सर्वा देवताः । उनके लिए दुही जाने वाली गो अन्तरिक्ष स्थानीय है । वह सब में अंगप्रत्यंग की चेष्टा को प्रवर्तित करती है । अतः उसे विश्वकर्मा कहा गया है । इसी प्रकार अग्नि भी सर्व देवमय है—अग्निः सर्वा देवताः । उनके लिए दुही जाने वाली गो पृथिवी-स्थानीया है । वह सबमें धारणशक्ति अर्थात् प्रतिष्ठा को प्रवर्तित करतो है । अतः वह विश्वधायस् है । आयु, चेष्टा और प्रतिष्ठा ही इन गौओं का दूध है ।[97]

इस वर्णन से स्पष्ट है कि दर्शइष्टि में दुही जाने वाली गौएँ वैदिक मन्त्रों में व्याख्यात आयु, चेष्टा और प्रतिष्ठा के प्रवर्तक द्यु, अन्तरिक्ष व पृथिवी स्थानीय गो तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार रूपसमृद्धि के लिए साधन बनी हैं ।

ऋग्वेद में यज्ञ की रूप समृद्धि का वर्णन नहीं मिलता क्योंकि ऋचाओं में पंचयाम, त्रिवृत और सप्ततन्तु[95अ] रूप मौलिक या प्राकृतिक यज्ञ का वर्णन ही मिलता है जिसके आधार पर कृत्रिम यज्ञ परिवर्तित होता है; परन्तु ऋग्वेद में विश्वायु[96] विश्वकर्मा[97] तथा विश्वधायस्[98] आदि शब्द विभिन्न देवों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और इस कारण उपर्युक्त वर्णन की दृष्टि में विविध तत्त्वों के द्योतक हैं । दर्शयाग में गो उन्हीं का प्रतिनिधित्व करती है । इन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवताओं से उसका अभिन्न सम्बन्ध अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है । इसी सम्बन्ध के कारण गो इन देवताओं और उनके कर्मों का प्रतिनिधित्व यज्ञ में करती है ।

---

95 देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः । मा वस्तेन ईशतः माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः । यजुर्वेद वा० सं० 1।1

95अ ऋ० 10।52।4;10।124।1

96 यजुर्वेद वा० सं० 1।3-4 तथा यज्ञसरस्वती (पं० मधुसूदन ओझा) पृ० 3-6 भी द्रष्टव्य ।

97 पं० मधुसूदन ओझा—यज्ञसरस्वती पृ० 7

98 ऋ० 1।57।1, 1।9।7, 27।3, 3।31।18 आदि

अग्निहोत्री गो

जिस गो का दूध दुह कर अग्निहोत्र कर्म किया जाता है उसे अग्निहोत्री गो कहा जाता है।[101] सूर्यास्त के पश्चात् उसका दूध दुहकर पर्यपूर्ण कुम्भी में गार्हपत्य अग्नि में तपाया जाता है और उसकी आहवनीय अग्नि में अग्नि व प्रजापति के लिए ४ आहुतियाँ दी जाती हैं।[102] यजुर्वेद के दो मंत्रों से इस गो की प्रशस्ति की जाती है जिनमें उसे बल व रायस्पोष की प्रदात्री व यज्ञप्रदेश में रमण करने वाली रेवती कहा गया है।[103] इस गो का स्पर्श करते हुए यजमान प्रार्थना करता है कि 'हे गो ! तुम विश्वरूपा हो, क्षीराज्यादि हवि प्रदान करने के लिए यज्ञकर्म से संयुक्त हो, तुम्हारे प्रसाद से मैं क्षीरादि रस सम्पन्न व गौओं का स्वामी बनूँ'।[104] ऋग्वेद में भी बहुश: वर्णित विश्वरूपा गो[105] का एक मंत्र में वाक् से तादात्म्य माना गया है।[106] दुग्ध, दधि और यवागू अग्निहोत्र के नित्य द्रव्य हैं। स्वर्गकामी के लिए दुग्ध, इन्द्रियकामी के लिए दधि, ग्रामकामी के लिए यवागू, अन्नकामी के लिए ओदन, ओजस्कामी के लिए तण्डुल और तेजस्कामी के लिए घृत की आहुति देने का विधान किया है।[107] इनमें से अधिकतर हव्य पदार्थ दुग्ध, दधि और घृत गो से ही प्राप्त होते हैं।

यज्ञ में गो का आह्वान

प्रवर्ग्यकर्म में गो का अदिति, इड़ा, सरस्वती आदि नामों से आह्वान किया जाता है।[108] वैदिक साहित्य में ये तीनों ही गो के नाम हैं।[109]

हवि: शेष द्रव्य से गौओं का नीरोग होना

त्र्यम्बक हवि से बचे हुए हव्य पदार्थ किसी उन्नतप्रदेश में रक्खे जाते हैं जिससे उन्हें गौएँ सूँघें और रोग को प्राप्त न होवें।[110] हवि: शेष को रखकर आने के पश्चात् अदितिदेवता का याग घृत में पके चरु से किया जाता है।[111] ऋग्वेद में गौओं के सोम चाटने का वर्णन भी मिलता है।[112]

---

101 पं० चिन्न स्वामी शास्त्री—यज्ञतत्त्वप्रकाश पृ० 10
102 उपर्युक्त पृ० 10-11
103 यजुर्वेद वा०सं० 3।20-21
104 संहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन। यजु० वा० सं० 3।22
105 ऋ० 1।161।6, 1।164।9, 3।1।7, 4।33।8
106 ,, 8।100।11
107 यज्ञतत्त्वप्रकाश पृ० 13
108 शतपथ ब्रा० 14।2।1।7—अनुच्छेद ३ भी देखें।
109 य० 38।2
110 यज्ञसरस्वती—पृ० 72
111 यज्ञतत्त्वप्रकाश—पृ० 51
112 ऋ० 8।100।1, 7 यहाँ मातर: पद गौओं का वाचक है।

यज्ञ में दुग्ध से स्नान

अग्निष्टोम में शाला के पूर्व में कुशाग्रों पर बैठकर नवनीत से अथवा पय से स्नान किया जाता है[113] और गोदुग्ध से वर्चस् की अभ्यर्थना की जाती है।[114] ऋग्वेद में भी कुयव की २ स्त्रियों के दुग्धस्नान का वर्णन मिलता है।[115]

व्रतदुघा गो

यज्ञीय व्रतों को निर्वाहिका होने से गो को ऋग्वेद में व्रतनी[116] व शतपथ ब्राह्मण में 'व्रतदुघा'[117] कहा गया है।

घर्मदुघा गो

ऊपर घृतमिश्रित पय की आहुति देने का उल्लेख किया गया है। महावीर नामक पात्र में घृत और पय का मिश्रण तैयार किया जाता है जिसका नाम घर्म है और घर्म के लिए दुग्ध प्रदान करने वाली गो घर्मदुघा कहलाती है।[118] घर्मदुघा गो को अध्वर्यु को देने का विधान है।[119] अथर्ववेद के अनुसार ऐसी गो को पाने का अधिकारी यज्ञ के शिर का ज्ञाता विद्वान् होता है।[120] प्रवर्ग्य कर्म ही यज्ञ का शिर है।[121]

गो में मेध-तत्त्व और गवालम्भन

यज्ञ युक्त पशुओं में मेध तत्त्व पाया जाता है जिसे देवताओं का अन्न भी कहा गया है। पुरुष, अश्व, गो अवि और अज—इन 5 सेन्द्रिय पशुओं में मेधतत्त्व पाया जाता है। मेधप्राण की प्राप्ति के लिए इन पशुओं का आलंभन किया जाता है। एक रूपक-कथा के अनुसार इनका मेध तत्त्व अन्य पशुओं में समाविष्ट हो गया। अतः अपक्रान्तमेध इन पशुओं को देवताओं के लिए नहीं दिया जाता। इनका मेध-तत्त्व अनिन्द्रिय व्रीहियवादि धान्य पशुओं में पाया जाता है। अतः यज्ञ में उन्हीं को ग्रहण किया जाता है।[122]

ऋग्वेद में, आलंभन या आलभन, जिनका अर्थ परवर्ती काल में हिंसा लिया जाता है, का प्रयोग नहीं हुआ है। आ उपसर्गपूर्वक √ लभ् धातु का प्रयोग ऋग्वेद में दो बार हुआ है। यथा—

---

113 यज्ञसरस्वती—पृ० 76

114 महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। यजु० वा० सं० 4।3

115 ऋग्वेद 1।104।3 ग्रिफिथ की पृ० 134 पर पाटि० 3 भी देखें।

116 ,, 10।65।6

117 शतपथ ब्राह्मण 14।2।2।34-35

118 यज्ञतत्त्वप्रकाश—पृ० 64

119 शतपथ ब्राह्मण 14।2।2।33

120 अथर्ववेद 10।10।2-3

121 यज्ञतत्त्वप्रकाश पृ. 65

122 यज्ञसरस्वती पृ० 28-29 द्रष्टव्य

उतालब्धं स्पृणुहि जातवेद आलेभाना ऋष्टिभिर्यातुधानात् ।[123]

इस मंत्र में ग्रहण करने के लिए उद्यत यातुधान के आयुध की पकड़ या पहुंच से बचाने की प्रार्थना है।

'आ' उपसर्ग पूर्वक √ 'रभ्' को भी 'रलयोरभेदः' सूत्र के अनुसार 'आलभ्' माना जा सकता है। एक मन्त्र में 'आरम्भणम्' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ सायण ने सृष्टि का 'उपादान कारण' किया है—

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्[124] ।

अन्यत्र कारण रूप से भूतों की उत्पादयित्री (आरभमाणा)[125अ] वाक् का उल्लेख है। सायण ने एक मंत्र में 'आरभ्य' का अर्थ 'आश्रयतया अवलम्ब्य'[125आ] तथा अन्य स्थानों पर 'आरभे' के अर्थ 'प्रारब्धुम्'[125इ] या अवलम्बितुम्[125ई] आदि किये हैं।

संरभ् का प्रयोग भी ऋग्वेद में है यथा—
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ।[125उ]
यहाँ सायण ने 'संगमन करना' अर्थ लिया है।

एक अन्य मन्त्र—तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिरे ।[125ऊ]

में सायण ने संरेभिरे का अर्थ 'परिरंभ कुर्वन्ति' या 'आलिंगन्ति' किया है। अन्यत्र 'इळाभिः संरभेमहि' का भी इळा का संगमन (प्राप्ति) अर्थ है।

अन्यत्र वीर पुत्रों के बल व अश्व सहित गो के प्रति प्राधान्य का भाव रखकर, इस प्रकार की दिव्य-प्रज्ञा को संलाभ करने की कामना की गई है—

सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गो अग्रयाश्वावत्या रभेमहि ।[126]

भाव यह है कि पुत्रैषणा व अश्वकामना से भी अधिक महत्त्व गो को देकर इस प्रकृष्ट बुद्धि से (गो का) संलभन करें। यहाँ संलभन का अर्थ ग्रहण, दानार्थ प्राप्ति या केवल स्पर्श हो सकता है। आलम्भन या आलभन का भी यही अर्थ है।[127]

---

123 ऋवे० 10।87।7 (देखें ग्रिफिथ का अनुवाद)
124 " 10।81।2
125अ " 10।125।8 125 आ ऋ० 1।57।4
125इ " 1।24।5 125 ई ,, 1।34।2
125उ ,, 1।53।4 125 ऊ ,, 1।140।8
126 ऋग्वेद 1।53।5
127 गोको द्वि० भा० भूमिका पृ० 5-6
पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने दोनों शब्दों को अलग-अलग मानकर आलम्भन का अर्थ मारण व द्वितीय का स्पर्श किया है। (वेदवाणी वर्ष 8 अंक 1, 2) । इस मान्यता का कोई पुष्ट आधार नहीं प्रतीत होता।

परवर्ती युग में भी आङ् पूर्वक √ लभ् धातु का यह भाव सुरक्षित रहा है यथा—

(1) पशुं आलभन्ते स्तोममेव आलभन्ते स्तोमो हि पशुः ।[128]

(2) गां आलभते, यज्ञो वै गौः । यज्ञमेवालभते ।[129]

(3) ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते ।[130]

(4) अक्षान्यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ।[131]

(5) सौर्यः पशुरुपालभ्यः ।[132]

(6) द्यावापृथिव्यां धेनुमालभन्ते ।[133]

(7) हृदयमन्वालभ्य जपेद् ।[134]

(8) मनसा वै यज्ञमालभ्यते वात-योनिर्यज्ञो दिवि यज्ञोऽन्तरिक्षे पृथिव्यामत्रात्र वै यज्ञो यत्र यत्रैव यज्ञस्तत एनं मनसा लभते ।[135]

यहाँ कहीं भी आ + √ लभ् का अर्थ वध नहीं है। इसका प्रयोग ग्रहण करना, सम्पन्न करना आदि अर्थों में हुआ है। यही नहीं, विवाह के समय पत्नी के व यज्ञोपवीत के समय शिष्य के हृदयालंभन का विधान है। वहाँ हृदय-स्पर्श या हृदय की प्राप्ति ही आलंभन है।

यज्ञ में देवताओं की उपस्थिति उनके प्रतिनिधि पदार्थों से अनुभव की जाती है अतः उन पदार्थों को ग्रहण करना (प्राप्त करना) या स्पर्श करना ही आलभन या आलंभ कहा जा सकता है।

यज्ञ समाप्ति पर ऐसे पदार्थों को दान कर दिया जाता है। गो आदि पशुओं को भी दान कर दिया जाता रहा होगा। परन्तु दीर्घसत्रों में पशु दुर्बल हो जाते हैं अतः उनको यथेष्ट भ्रमण करने और पुष्ट होने के लिए छोड़ दिया जाता होगा।[136] ऋग्वेद में पदबद्ध गोरवर्णा-गो को पाशविमुक्त करने का उल्लेख मिलता है।[137] ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र[138] में भी उक्षा, वशा आदि को मुक्त करने का वर्णन है।

---

128 तामब्रा-5।10।8

129 तैब्रा० 3।9।8

130 यवेवा० 30।6

131 अवे० 7। 09।7

132 शांब्रा-25।10

133 तैब्रा० 1।2।5

134 प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् 1

135 काठकसहिता 23।5।11

136 पाशं कृत्वा प्रतिमुंचति शब्रा० 3।6।1।1 छोड़ने का मंत्र 3।6।1।1

137 यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित् पदिषितामंमुञ्चता यजत्राः । ऋ० 4।12।6

138 ऋ० 10।91।14

गाँवों में देवल सांड छोड़ने की प्रथा कदाचित् इस प्राचीन परम्परा का अवशिष्ट रूप है।

गो-संज्ञपन व वपाहोम

ऋग्वेद में गो-संज्ञान की प्रार्थना की गई है।[139] संज्ञान शब्द वहाँ सम्मिलन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद का संज्ञान सूक्त[140] तो हृदय-मिलन का उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करता ही है। 'गावो में हृदये सन्तु[141]की भावना परवर्ती साहित्य में भी मिलती है। यज्ञ में गोसंज्ञपन-क्रिया कदाचित् यज्ञ की रूपसमृद्धि के लिए गृहीत गो के साथ यज्ञकर्त्ता को हार्दिक एकता अनुभव कराने के लिए की जाती है। कालान्तर में यज्ञ में हिंसा का प्रवेश हो जाने पर 'आलम्भन' की तरह 'संज्ञपन' का अर्थ भी 'वध करना' किया जाने लगा परन्तु 'संज्ञपन' का ऋग्वेदिक रूप भी परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं व्यंजित अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिए शतपथ में कहा गया है— "यज्ञ का हनन किया जाता है। इसका विस्तार करना और सोम का अभिषवन करना ही यज्ञ का हनन करना है पशु का संज्ञपन करना विशसन करना भी यज्ञ का हनन है। उलूखलमूसल तथा सिलबट्टे से हविर्यज्ञ का हनन किया जाता है।"[143] इस हतयज्ञ को दक्षिणा देकर समृद्ध किया जाता है।[144] इस प्रसंग में गो-दक्षिणा का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए यज्ञ की अन्य क्रियाओं को यहाँ तक कि 'गोसंज्ञपन' को भी केवल हनन मात्र कहा गया है अथवा यों कहा जा सकता है कि यज्ञ की सब क्रियाएँ सामान्य हैं, यज्ञ को प्रेरित मात्र करने के लिए हैं (√हन् धातु का अर्थ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना भी है)। यज्ञ में पूर्णता गोदक्षिणा से आती है। अतः यहाँ √ हन् धातु का अर्थ मारना या हिंसा करना नहीं है।

पशु-संज्ञापन का उद्देश्य उसके आमाशय के ऊपर स्थित श्वेतवस्त्र के समान आकृति वाले अंग विशेष—वपा को प्राप्त करना कहा गया है।[145] वपा उत्खेदन के

---

139 ऋ० 10।19।4

140 ,, 10।191

141 पपु-सृष्टि खण्ड 50।153 तुलनीय ऋग्वेद 6।28।5

142 घ्नन्ति वा एतत्पशुम्। यदेनं संज्ञपयति। शतपथ ब्रा० 13।2।8।2 तथा शतपथ 3।6।3।1, ऐ० ब्रा० 7।1 कौषीतकि ब्रा० 10।4,5 गोपथ पू० 3।18 उत्तरार्द्ध 2।1 आदि स्थल द्रष्टव्य

143 शतपथ ब्राह्मण 2।1।6।1

144 उपर्युक्त 2।1।6।2

145 कात्यायन श्रौतसूत्र – विद्याधर शर्मा संपादित (अच्युत ग्रन्थमाला सं० 1987) भूमिका पृ० 39 टिप्पणी 1

लिए पशु को श्वास रोक कर मारने को संज्ञपन कहा गया है।[146] श्रीपर्णी (काष्मर्यमयी) वृक्ष से बनी वपाश्रपणी में वपा का श्रपण किया जाता है।[147] ऐसे हिंसा-भाव को प्रकट करने वाले उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलते और न उसमें वपाहोम का ही वर्णन मिलता है; किन्तु एक मन्त्र में इन्द्र को वपोदर (वपा विद्यते यस्य उदरे स वपोदरः) कहा गया है।[148] अन्यत्र अग्नि को वपायुक्त (वपावन्तं) कहा गया है।[149] एक अन्य मन्त्र के अनुसार अध्वर्युवों ने अग्नि के ऊपर घृत—घर्म उसी प्रकार रक्खा जैसे पिता की गोद में प्रिय पुत्र हो और इस प्रकार उन्होंने घृतयुक्त—वपावन्तम्—यज्ञ को मानों अग्नि से तपाते हुए और विस्तार करते हुए यज्ञ की शोभा बढ़ाई।[149अ] यहाँ घृताहुति से यज्ञ की रूप समृद्धि होती अर्थात् शोभा बढ़ती है, यह संकेत मिलता है।

वपा की व्युत्पत्ति √ वप् धातु से है। ऋग्वेद के अनुसार तीन केशियों (आदित्य, वायु और अग्नि) में से एक वपन क्रिया करता है अर्थात् आदित्य ग्रीष्म ऋतु में वनस्पत्यादि को जलाकर नापित-कर्म करता है।[150] √वप् का अर्थ 'बोना' भी है; अश्विन् द्वय को वपन्ता (-तौ) कहा गया है।[151] ये देवता वपन क्रिया जिस गोरूप पृथ्वी पर करते हैं उसे आवपनी[152] कहा गया है। यज्ञ में वपाहोम कदाचित् क्रिया की रूप समृद्धि के लिए संपन्न किया जाता है। इस प्रकार वपा उस सामर्थ्य को कहा जा सकता है जो 'आवपनी' में पाई जाती है। पशुओं में ऐसी सामर्थ्य बढ़ाने के लिए वपा होम किया जाता ज्ञात होता है। इसके लिए पशुओं को पुरोडाशादि खिलाये जाते होंगे।[153] वर्तमान समय में राजस्थान के दक्षिणी पूर्वी हाड़ौती प्रदेश में बैल व गायों को बाँस की नलिका में भरकर घी व तैल पिलाया जाता है। सगर्भा गो को बछड़ा पैदा करने के लिए ज्वार की घूघरी खिलाई जाती है। इस क्रिया को 'ओपाना' (ओपाबो—वपन) कहा जाता है। संभव है यह क्रिया

---

146 उपर्युक्त—पृ० 39 टिप्पणी 2 [कात्यायन श्रौतसूत्र 6।3।18 के अनुसार संज्ञपन के लिए छाग को ग्राह्य माना गया है।]

147 कात्यायन श्रौतसूत्र 6।5।7, 15,16 तुलनीय शतपथ ब्रा. 3।6।3।16-17

148 ऋ० 8।17।8

149 ,, 6।1।3 यहाँ 'वपावन्तम्' का अर्थ 'घृतवन्तम्' है।

149अ ,, 5।43।7

150 ,, 1।164।44

151 ,, 1।117।21

151 ऋग्वेद 1।117।21

152 अथर्ववेद 12।1।61

153 पशुं आलभ्यमानं पुरोडाशो निरूप्यते (निः उप्यते-√ वप्)—शांखायन ब्राह्मण 10।5

वपाहोम का ही अवशिष्ट रूप हो। ऋग्वेद में गो का (विशेषतया सगर्भा गो का) निवास स्थान उष्ण रखने के लिए कहा गया है।[154] संभव है पशुयागों में यह कार्य भी वपाश्रपण का ही अंग हो।

ऋग्वेदीय शांखायन ब्राह्मण में कहा गया है।

प्राणा वा स्वाहाकृतय: आत्मा वपा।[155]इस कथन से भी प्रमाणित होता है कि वपा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे गो, छाग या किसी अन्य पशु को मार कर उसके शरीर से निकालने की आवश्यकता होती हो। इस कथन से ऋग्वेद में उल्लिखित गो-संज्ञान का सम्बन्ध अवश्य ध्वनित हो जाता है। वह यह कि गौओं के साथ हृदय-सम्मेलन से आत्मा में वपा (वर्धन सामर्थ्य) बढ़ती है अथवा यह भी माना जा सकता है कि वपा होम में आत्मा की ही आहुति दी जाती है।

गो में मधु का आह्वान

यज्ञ में गो का अनुपम योग देखकर याजक उनमें मधु का आह्वान करता है। माध्वीर्गावो भवन्तु न:।[156]

यह महत्त्वपूर्ण प्रार्थना संचिति याग में कूर्माभ्यंजन क्रिया की अंगभूता है।[157]

गो को द्रोणकलश सुंघाना

गवामयन नामक संवत्सर सत्र में गो को सोमपूरित द्रोणकलश सुंघाया जाता है। उस समय पढ़े जाने वाले मन्त्र में कहा जाता है कि "हे धेनु! तुम द्रोणकलश नामक पात्र को सूँघो। द्रोणकलशस्थ सोम तुममें प्रवेश करे। फिर दुग्धरूप में हमें प्राप्त कराओ और सहस्रधन दो। दुग्धवती गो, पुन: मुझे प्राप्त होओ।"[158]

उस समय यजमान गो के दक्षिण कर्ण में कहता है—'हे धेनु, इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति, अघ्न्या—ये तुम्हारे नाम हैं। तुम देवताओं के सम्मुख मेरे विषय में उत्तम बात कहो।[159]

इन्द्र के प्रतिनिधि गो या वृषभ

ऋग्वेद में इन्द्र को गो से अभिन्न बतलाया है।[160] इस अभिन्नता के कारण गो सौत्रामणि नामक पशुयाग में इन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है।[161] कुछ विद्वान् इस यज्ञ में गो के स्थान पर वृषभ को ग्रहण करने के पक्ष में हैं।[162] अथर्ववेद में

---

154 ऋवे० 10।4।2

155 शांखायन ब्राह्मण 10।5

156 ,, 1।90।8

८57 कात्यायन श्रौतसूत्र ८7।5।27

158 यजुर्वेद वा० सं० 8।42

159 ,, वा० सं० 8।43

160 ऋवे० 6।28।5

16८ अश्विनीरजा सारस्वतीरवीरैन्द्री गाव:। शतपथ ब्रा० 12।7।2।7

162 कात्यायन श्रौतसूत्र भूमिका पृ० 40

भी वृषभ को इन्द्र का रूप कहा गया है।[163] यज्ञतन्तु का विस्तार करने वाला भी वृषभ ही कहा गया है।[164] इतना होने पर भी 'पयोग्रह' सौत्रामणि का मुख्य अंग है। अतः दुग्ध प्राप्ति के लिए गो ही ग्रहण की जाती होगी, या सम्भव है दुग्ध प्राप्ति के लिए गो या अन्य कार्य सम्पन्न करने के लिए वृषभ को भी स्वीकार किया जाता हो अथवा केवल वृषभ ही ग्रहण किया जाता हो जिसे आज्य धारण करने वाला कहा गया है जिसका वीर्य ही घृत है और जिसके सहस्र पोषक तत्त्वों को ही यज्ञ कहा जाता है।[165]

वृषभ की आहुति

कुछ लोगों का विचार है कि यज्ञों में गो की अघ्न्या होने से हिंसा नहीं की जाती थी; परन्तु वृषभ के अंगों की आहुति दी जाती थी। ऋग्वेद में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु अथर्ववेद में कहा गया है– कि जो ब्राह्मण वृषभ का दान करता है वह उस एक के माध्यम से सहस्र गोओं का दान करता है।

सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति।[166]

इस मंत्र में 'ददाति' और 'जुहोति' क्रिया पदों का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। मनीषी कहते हैं कि वृषभ में इन्द्र का ओज, वरुण की भुजाओं का बल, अश्विनों की वहन सामर्थ्य और मरुतों की ककुद् पाई जाती है। वह साक्षात् इन्द्र ही है।[167] इसीलिए उसके दान को इतना महत्त्व मिला है। बैल के दान को अन्यत्र सौयज्ञों के समान फलदायी[168] तथा मन को श्रेष्ठता से संयुक्त करने वाला कहा गया है।[169] दान में दिया जाने वाला वृषभ इन्द्ररूप होता है जो चेतना सम्पन्न धन व नित्यवत्सा सुदुघा धेनु प्रदान करता है।[170]

वृषभपाचन

ऋग्वेद के एक मन्त्र में गोबर जलाकर उक्षा पृश्नि पाचन करने का उल्लेख मिलता है।[171] आतिथ्येष्टि में अतिथि के लिए महोक्ष या महाज पाचन का विधान किया गया है।[172] उक्षा शब्द सोमरस,[173] अग्नि,[174] मेघ,[175] इन्द्र,[176] सूर्य[177] आदि अर्थों में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।

---

163 इन्द्रस्यरूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः। अ०वे० 9।4।7
164 उस्रियस्तन्तु मातान् – अ० वे० 9।4।7
165 आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्र पोषस्तमु यज्ञमाहुः। अ. वे. 9।4।7
166 अथर्ववेद 9।4।9
167 अथर्ववेद 9।4।8
168 ,, 9।4।18
169 ,, 9।4।19
170 ,, 9।4।21
171 ऋ० 1।164।43
172 शतपथ ब्राह्मण 3।3।2।2
173 ऋ० 9।69।4, 71।9, 85।10, 86।43, 95।4
174 ,, 1।146।2, 3।7।6
175 ,, 4।56।1
176 ऋ० 9।89।3
177 ,, 5।47।3, 9।83।3

'पचति' क्रिया का अर्थ पकाना, विकसित करना या बढ़ाना है।[178] अत: अहिंस्य वृषभ या गो पाचन का तात्पर्य उनको विकसित करना हो सकता है। ऋग्वेद के अनुसार गो का पक्व (पका हुआ) अंश दुग्ध है।[179] अत: गो पाचन का अर्थ गायों को चराना, पुष्ट करना आदि होगा जिससे उनमें दूध बढ़े।[180]

√ पच् की समानता लैटिन शब्द पेचस् (Pecus) से खोजी जा सकती है जिससे अंग्रेजी शब्द पेक्यूनियरी (Pecuniary) बनता है। इन शब्दों का सम्बन्ध गोसंवृद्धि से है। अग्नि के अतिथि नाम का उल्लेख किया जा चुका है। गो व वृषभ का संवर्द्धन (पाचन) उसी के लिए किया जाता है जिसे उक्षान्न व वशान्न अतिप्रिय हैं।[181]

मधुपर्क

यज्ञों में मधुपर्क समर्पित करने का विधान है। दधि व मधु का मधुपर्क ब्रह्मा के लिए, पायस इन्द्र के लिए, मधु व आज्य का सोम के लिए, मन्थ व आज्य का पूषा के लिए, क्षीर व आज्य का सरस्वती के लिए, सुरा व आज्य का युद्ध प्रिय मनुष्य या देव समूह के लिए (सुरा केवल सौत्रामणि व राजसूय यज्ञों में प्रयुक्त होती है।); उदक व आज्य का वरुण के लिए; तैल व आज्य श्रवण के लिए तथा तैल व पिण्ड का परिव्राजकों के लिए समर्पण करने योग्य है।[182]ऋग्वेद में मधुपर्क शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु एक मंत्र में अग्नि के लिए 'मधुपृच'[183] विशेषण अवश्य प्रयुक्त हुआ है।

स्वाराज्य की प्रतिष्ठापक गो

प्रजापति से सम्बद्ध गोसव का नाम ही स्वाराज्य कहा गया है।[184] इसमें अयुत (दस सहस्र—सायण) गौओं की दक्षिणा का विधान किया गया है।[185] इसमें दूध से अभिषेक करने की बात भी कही गई है।[186]

इस प्रकार गो हवि आदि प्रदान करके यज्ञ का स्वरूप निर्माण करती है तथा देवों के प्रतिनिधि के रूप में यज्ञ की समृद्धि करती है।

——

178 आप्टे—Students Sanskrit-English Dictionary P-308 पर पच् का अर्थ द्रष्टव्य।

179 ऋ० 2।40।2, 1।162।9, 6।72।4, 8।32।25, 78।7 आदि

180 द्रष्टव्य — गोज्ञानकोश—प्रा० खं० द्वितीयभाग—भूमिका 12-13 पृ०

181 ऋ० 8।43।11

182 कौशिक गृह्य सूत्र 92।16

183 ऋग्वेद 2।10।6

184 अथैष गो सव: स्वाराज्यो वा नाम एष यज्ञ:। तां० म० ब्रा० 19।13।1 तथा स्वाराज्यं गौरेव इति--तै०ब्रा० 2।8।6।1-2

185 तां. म. ब्रा. 19।13।5 तै० ब्रा० 2।8।6।2

186 तां० ब्रा० 19।13।7 तै. ब्रा. 2।8।6।2

सप्तम अनुच्छेद : रहस्यमयी गो

वैदिक मंत्रों के रहस्यात्मक अर्थ खोजने की एक परम्परा रही है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में स्थान स्थान पर ऐसे अर्थों के संकेत मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में भी साधनारत, वेद के गूढ़-तत्त्व के ज्ञाता ऋषियों का उल्लेख है।[1] मध्य-काल में तांत्रिक 'मन्त्र-चैतन्य' को जाग्रत किया करते थे। इसी तरह शब्द का रहस्यमयी सत्ता से सम्बन्ध मानने वाले भर्तृहरि जैसे दार्शनिक वैय्याकरण भी हुए। आधुनिक काल में श्री अरविन्द ने वैदिक शब्दों की गुह्यता को ऋग्वेद की ही साक्षी 'निण्या वचांसि'[2] जैसे उद्धरणों से स्वीकार करते हुए मंत्रों का रहस्यवादी परंपरा के अनुकूल अर्थ किया है। उनके मतानुयायी मानते हैं कि "पर्वत, आपः, समुद्र, गो, उषा, सूर्य, वृत्र, बल, पणि आदि वाह्यसंकेत अपने में अन्तर्निहित गूढ़ार्थ को व्यक्त करते हैं।[3] इस परंपरा को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि "वैदिक काल में 'गो' शब्द कुछ अन्य भावों को अभिव्यक्त करने में प्रयुक्त होता था, न केवल प्रतीकात्मक शैली में, वरन् रहस्यात्मक रूप में, जिससे कि उनमें (भावों या विचारों में) तथा 'गो' में कोई रहस्यात्मक सम्बन्ध सुझाया जा सके।"[4] ऋग्वेद में भी गो विषयक रहस्यात्मक व्याख्यान मिलता है।

गो के रहस्यमय नाम

ऋग्वेद में गो के रहस्यात्मक नामों का उल्लेख मिलता है। एक मन्त्र के अनुसार द्रष्टा, मेधावी, अग्रगन्ता, मनुष्यों का प्रकाशक, तथा धीर कविपुत्र उशना गौओं के गुह्य, अन्तर्हित (अपीच्य) नामों को जानता या प्राप्त करता है।[5] अन्यत्र गो के सप्तनामों को सप्तचक्र रथ, रथवाहक सप्ताश्व और रथ के अभिमुख गमन करने वाली सप्तस्वसाओं में निहित माना गया है।[6] धेनु के नाम का ज्ञान

---

1 य इमे वेद गुह्यज्ञा ऋषयो संशितव्रताः। भरतमुनि--नाटयशास्त्र 1।23

2 ऋग्वेद 4।3।16

3 कपालिशास्त्री--सिद्धांजन भाष्य-पृ० 344

4 Encyclopaedia of Religion and Ethics-Edited by James Hastings Vol 4, III Impression 1954 P. 225

5 स चिद्विवेद निहितं यदासां अपीच्य गुह्यं नाम गोनाम्-सृ० 9।87।3

6 ऋग्वेद 1।164।3 तुलनीय-एकचक्ररथ के वाहक अश्वों के सप्तनाम। ऋ० 1।164।2

सर्वप्रथम होता है और उसमें निहित 21 परम (तत्त्वों-परमाणि) की प्राप्ति तदुपरान्त होती है।[7] इन 21 परम तत्त्वों का सम्बन्ध गो के नामों से हो सकता है। एक मन्त्र के अनुसार मेघावी स्तोता का वरुण बतलाता है कि अहिंसनीया गो 21 नाम धारण करती है। उसने अन्तेवासी को उपदेश देकर उत्तम स्थान में इन गोपनीय बातों को बतलाया।[8] गुह्य नाम तो देवताओं के भी प्रसिद्ध है[9] परन्तु अग्नि की यह विशेषता है कि विष्णु के मनोहर पद द्वारा वह गो के गुह्य नाम का पालन करता है।[10] यजमानों द्वारा ज्ञातव्य अग्नि में निगूढ़ 21 गुह्यपदों का[11] उल्लेख भी मिलता है। ये गुह्य पद भी 21 गुह्यनामों से अभिन्न ज्ञात होते हैं क्योंकि अग्नि को गुह्य नामों को धारण करने वाला भी कहा गया है।[12]

गो की रहस्यमयी उत्पत्ति

ऋग्वेद में गो की उत्पत्ति के स्रोत अनेक माने गए हैं। अतः ऐसे स्थलों का एक साथ मिलाकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह विचार आना स्वाभाविक ही है कि गो की उत्पत्ति विषयक स्थलों में रहस्यात्मक भाव निहित हैं। गो को उत्पन्न करने वाले अग्नि,[13] उषा,[14] इन्द्र[15] आदि देवता हैं। सूर्य के जन्म के साथ भी गो का सम्बन्ध ज्ञात होता है।[16] ऋभुओं को भी गो का निर्माता कहा गया है।[17] यह भी कहा गया है कि गौओं को पृथिवी पर अंगिराओं की सन्तानों ने बनाया।[18] उपर्युल्लिखित गुह्यनामों की पृष्ठभूमि में गो की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद में प्राप्त ये विचार रहस्यात्मक ज्ञात होते हैं।

रहस्यमय गो शरीर

गो शरीर का रहस्यात्मक रूप अथर्ववेद में मिलता है जहाँ उसे सर्वदेवमय

---

7 ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोः त्रिः सप्तमातुः परमाणि विन्दन्।
ऋ० 4.1.16 सायण-21 छन्द।

8 उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्ति।
विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन्। ऋ० 7.87.4
[वरुण गो के गुह्य नामों का ज्ञाता, द्रष्टव्य 8.41.5]

9 देवानां गुह्या नामानि- ऋ० 5.5.10; ऋ० 9.95.2 भी द्रष्टव्य

10 ऋग्वेद 5.3.3

11 ऋग्वेद 1.164.5

12 ऋग्वेद 5.3.2

13 उदुस्त्रिया जनिता-ऋ० 3.1.12

14 माता गवाम्-ऋग्वेद 4.52.2; 4.52.3

15 उस्त्रिया असृत्रदिन्द्रो अर्कैः। ऋग्वेद 3.39.11

16 अजनयत्सूर्यं विददगाः। ऋ० 2.19.3

17 ऋग्वेद 1.110.8, 4.34.9, 36.4, 3.60.2, आदि

18 ऋग्वेद 10.169.2

कहा गया है।[19] ऋग्वेद के अनुसार गौओं ने अपने शरीर को देवताओं में संयुक्त कर रक्खा है अथवा उनके लिए समर्पित कर रक्खा है।[20] गौओं के बड़े-बड़े या बहुत से सींगों का[21] तथा वृषभों के सहस्र सींगों का[22] उल्लेख मिलता है। इसी तरह गो को एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी अष्टापदी तथा नवपदी और साथ ही सहस्राक्षर परिमिता कहा गया है।[23] एक मंत्र के अनुसार महत् ऊधस्प्रदेश से दिव्य पदार्थ दुहते हैं।[24] अग्नि ऊध प्रदेश को अपनी उज्ज्वल ज्योति से चाटते हैं।[25] तीन प्रकार की वाणी मधु-वर्षी-ऊधस् प्रदेश से ज्योति को दुहती है।[26] विश्वरूप वृषभ के तीन ऊधस् प्रदेश हैं।[26अ]

गो का परम पद

गौओं के पदों का ऊपर उल्लेख किया गया है। उनके साथ गो के परम पद का भी वर्णन मिलता है। वे स्वयं विष्णु के परम पद में निवास करती हैं।[27] अग्नि के परम पद का भी उल्लेख मिलता है[28] परन्तु उनकी जिह्वा गोमाता के परम-पद में पान करने की इच्छा से रहती है।[29] गोमाता के उज्ज्वल परम पद में यजमान गति करते हैं।[30] कहीं गो के पद का परम विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ है; परन्तु फिर भी 'गोष्पद' और इळस्पद[32], का सम्बन्ध उसके परम पद से ही ज्ञात होता है। उषा काल में उषा के दग्ध होने पर गो-पद में महत् अक्षर उदित होता है।[33] सुदिन की प्राप्ति के लिए इळा के पद में पृथ्वी के उत्कृष्ट स्थान में

---

19 अथर्ववेद 9।7

20 या देवेषु तन्वमैरयन्त ऋग्वेद 10।169।3

21 यत्र गावः भूरिशृंगा अयासः। ऋ० 1।154।6

22 ऋवे० 5।1।8, 7।55।7 (इसमें क्रमशः अग्नि व सूर्य को सहस्र शृंग कहा गया है।)

23 गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषि सहस्राक्षरा परमे व्योमन। ऋ० 1।164।41

24 दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयः ऋ० 1।64।5

25 ऋ० 1।146।2 (ऊधस्-अन्तरीक्ष-सायण)

26 तिस्रो वाचः प्रवदज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोधमूधः। ऋ० 7।101।1

26 अ ऋ० 3।56।2

27 " 1।154।6   28 ऋ. 1।72।2,4

29 मातुष्पदे परमे अन्तिषद्गोर्वृष्णः शोचिषः प्रयतस्य जिह्वा। ऋ. 4।5।10
[परमे-पदे— ऊधप्रदेश—सायण]

30 ऋवे० 5।43।14 (यहाँ 'गो' न होने से 'माता' का अर्थ पृथिवी लिया गया है।)

31 " 1।158।2, 1।163।7 आदि।

32 " 10।91।1, 191।1, 70।1, 1।128।1 आदि।
[गोष्पद और इळस्पद में अभिन्नता में प्रमाण शतपथ 3।2।4।4]

33 उषसः पूर्वा अधयद् व्युषुर्महद्विजज्ञे अक्षरं पदेगोः। ऋ० 3।55।1

अग्नि की स्थापना की जाती है।[34] इळा के पद में घृतयुक्त आवास को पहचान कर अग्नि में बैठते हैं।[35] अरुण वर्ण का अग्नि उत्पन्न ही इला के पद में होता है।[36] गोपद सम्बन्धी इन वर्णनों में भी गुह्यभाव संकेतित है। एक मन्त्र में तो स्पष्ट ही गो-पद की गुह्यता का उल्लेख हुआ है।[37] अतः गो-पद की रहस्यात्मकता ऋग्वेद में स्वीकार की गई है। देवताओं को अमृतत्व प्रदान करने वाला तथा विद्वानों द्वारा निर्मित किया जाने योग्य गुह्य पद[38] गोपद से अभिन्न ज्ञात होता है।

गो का गुह्य दुग्ध

गो से प्राप्त होने वाले पदार्थों में प्रथम स्थान दुग्ध का है; जिससे दधि व घृत भी बनते हैं। यह दुग्ध भी रहस्यात्मक है। ऋग्वेद में एक मन्त्र में मरुतों से प्रार्थना की गई है कि वे पृश्नि धेनु से प्राप्त होने वाले गूढ़ धन को प्रकट करें।[39] यह गूढ़ धन संभवतः दुग्ध व तज्जनित पदार्थ ही है। दुग्ध को अन्यत्र गो का अपीच्य (—गूढ़, अन्तर्हित) अंश कहा गया है।[40] एक अन्य मन्त्र में पृश्नि के सुन्दर गुह्य दुग्ध का उल्लेख मिलता है।[41] मरुतों की माता पृश्नि का दुग्ध केवल एक बार ही दुहा गया है, वह भी उस समय जब कोई उत्पन्न नहीं हुआ था।[42] पृश्नि के ऊध-प्रदेश में ज्योतिर्मय (शुक्र) दुग्ध रहता है।[43]

गो का गुह्य घृत

घृत भी गुह्य है। वह देवताओं की जिह्वा तथा अमृत की नाभि है।[44] यज्ञ में उसके नामों की स्तुति होती है। ये नाम गुह्य ज्ञात होते हैं। इन को मन से धारण किया जाता है।[45] पणियों ने घृत को तीन प्रकार से गौओं में छिपाया है, जिसे देवता प्राप्त कर लेते हैं।[46] हृदय-समुद्र से घृत की धारा का जन्म होता है।[47] घृत-धारा परिधि काष्ठा का भेदन करके ऊर्मि द्वारा प्रवर्द्धित होती है।[48]

---

34 ऋग्वेद 3।23।4 तुलनीय 3।29।4
35 ,, 10।9।14
36 ,, 10।1।6 [इळस्पद-- यज्ञवेदी-- सायण]
37 पदं न गोरपगूढं विविद्वानग्निः—ऋ० 4।5।3
38 ऋ० 10।53।10
39 " 6।48।15
40 " 9।71।5 (हिन्दी ऋग्वेद)
41 " 4।5।10 ऋ० 4।5।8 भी द्रष्टव्य।
42 " 6।48।22
43 " 2।34।2, 4।3।10, 6।66।1
44 घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानां अमृतस्य नाभिः। ऋ० 4।58।1
45 ऋ० 4।58।2 नमोभिः मनसा—विपर्यय द्वारा प्राप्त अर्थ।
46 " 4।58।4
47 " 4।58।5 48 ऋ० 4।58।7

रहस्यमय गोवत्स

अथर्ववेद में विराज धेनु के गुहा निहित वत्स का उल्लेख मिलता है।[49] वरुण ने जो धेनु अथर्वा को दी थी उसका विशेषण ही 'नित्यवत्सा' मिलता है।[50] ऋग्वेद में स्वधा द्वारा उत्पन्न अन्तर्हित वत्स—अग्नि का उल्लेख मिलता है।[51] एक मंत्र के अनुसार वत्स ने शब्द किया और तीन के योग से प्रकट विश्वरूपिणी धेनु से मिला।[52] पृश्नि के पुत्र मरुत् कहे गए हैं।[53] एक मंत्र में दो माताओं वाले वत्स का भी उल्लेख मिलता है,[54] जो रात्रि और उषा के वत्स अग्नि[55] तथा द्यावापृथिवी के वत्स सूर्य से[56] अभिन्न ज्ञात होता है। यह भी कहा गया है कि वत्स माता के ऊधस् प्रदेश के साथ ही उत्पन्न हुआ है।[57] वत्स सम्बन्धी ये उल्लेख भी रहस्यात्मक ज्ञात होते हैं। ऋग्वेद में बहुधा वत्स रूप में उल्लिखित अग्नि की गुह्य-गति का वर्णन तो स्पष्ट रूप से मिल ही जाता है।[58]

रहस्यमय वृषभ

ऋग्वेद में चार सींगों वाले गौरवर्ण के वृषभ का भी वर्णन मिलता है।[59] चार सींगों के अतिरिक्त इस वृषभ के 3 चरण, 2 सिर व 7 हाथ हैं जो तीन प्रकार से बद्ध होकर मर्त्य प्राणियों में प्रविष्ट हुआ है।[60] एक अन्य मन्त्र में सहस्रशृंग वृषभ का उल्लेख है जो समुद्र से उदित होता है।[61] ऋग्वेद में एक त्रिपाज, विश्वरूप, तीन ऊधवाले महिमाशाली वृषभ का उल्लेख भी मिलता है।[62] अथर्ववेद के अनड्वान् सूक्त[63] और ऋषभ सूक्त[64] में भी वृषभ का ऐसा ही रहस्यात्मक वर्णन मिलता है। ऋषभ सूक्त में गो की तरह वृषभ को भी सर्वदेवमय कहा गया है।[64]

---

49 अथर्ववेद 8।9।2

50 वही 7।104।1

51 ऋ० 1।95।4

52 अमीमेद्वत्सो अनुगामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु। ऋ० 1।164।9

53 ऋ० 1।38।4, 8।94।1 आदि।

54 " 3।55।7

55 " 10।8।2, ऋ० 1।95।1 भी द्रष्टव्य।

56 " 3।55।4,13 तुलनीय 1।146।3, पद से वत्स का भरण करने वाली गो भी सूर्य ऋ० 1।164।17 10।27।14

57 ऋ० 9।69।1

58 " 3।1।9

59 चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्। ऋ० 4।58।2

60 " 4।58।3

61 " 7।55।7

62 " 3।56।3

63 अथर्ववेद 4।11 64 अथर्ववेद 9।4

गो की रहस्यमयी गति

ऋग्वेद में गो की रहस्यमयी गति का भी वर्णन मिलता है। कहा गया है कि गौएँ गोपति सोम की ओर अभिलाषा-पूर्वक जाती हैं।[65] गो इन्द्र से अभिन्न है[66] और इन्द्र की सोमप्रियता प्रसिद्ध ही है।[67] अतः गो की ओर गति का सम्बन्ध इन्द्र के सोमपानार्थ गमन से होना सम्भव है।

अन्यत्र अग्नि की ओर गो की गति का उल्लेख मिलता है।[68] अरुषवर्ण की गौएँ उषा के साथ या उषा की ओर गति करती रहती हैं।[69] वसुओं में वत्सस्थानीय अग्नि की ओर उत्सुकतापूर्वक गति करने में गो के साथ मनस्तत्त्व का भी योगदान रहता है।[70] गो के गति भाव को प्रकट करने के लिए √ वृतु, √ या, √ इण् आदि क्रियाओं का प्रयोग तो हुआ है;[71] परन्तु इन सभी के भावों का पर्यवसान गत्यर्थक √ ज्ञा धातु में करने की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जिसका 'सम्' उपसर्गपूर्वक प्रयोग (संज्ञान में) गति के मानस रूप की ओर संकेत करता है।[72] इस सूक्त (ऋ० 7।19) के ऋषि मथितो यामायनः हैं। मथित का अर्थ मंथन करने वाला है—मथः अस्यास्तीति। यह मन्थन कर्म पुनः अभ्यास—मनन और निदिध्यासन का सूचक है। यम संयम का वाचक है। अतः यामायनः संयमी का वाचक है। इस सूक्त का विषय यह मन्थन कर्म ही है। विकल्प से सूक्त का ऋषि 'भार्गव च्यवन' है। च्यवन का अर्थ (च्यावयति—इन्द्रियों को विषयों से) च्युत करने वाला है। इस सूक्त में √इण्, √वृतु, √या आदि धातुओं के साथ 'नि' उपसर्ग का प्रयोग 'लौटाने' अर्थ को संकेतित करता जान पड़ता है। अतः इन क्रियापदों से इन्द्रियों को विषयों से लौटाने का अर्थ भी निकलता है। संज्ञान (प्रज्ञा उपलब्धि–अथवा प्रज्ञान-विज्ञानमय कोश की ओर गति) का प्रयोग यहाँ रहस्यात्मक अर्थ को ध्वनित करता है। यज्ञ में पशुसंज्ञपन कदाचित् विविध गतियों (कर्मों) की परिणति संज्ञान में करने की विशेष क्रिया का नाम है।

उपर्युक्त प्रसंगों में गति का मनः संयुक्त रूप रहस्यात्मकता का सूचक है। है। अथर्ववेद में तो विराज धेनु की गति का रहस्यात्मक वर्णन मिलता ही है।[73]

---

65 गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमम्—ऋ० 9।97।34

66 ऋ० 6।28।5

67 ऋ० 1।4।2, 5।5, 8।7 आदि।

68 " 5।61, 2

69 " 1।92।1

70 वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्—ऋ० 1।164।27

71 ऋ० 10।19 में इन क्रियाओं का प्रयोग द्रष्टव्य

72 " 10।19।4 में 'संज्ञानं' का प्रयोग द्रष्टव्य-तुलनीय संज्ञान सूक्त [ऋ० 10।191] के भाव

73 अथर्ववेद 8।10

रहस्यात्मक गो-दोहन

अथर्ववेद में विराज के पंच-दोह[74] तथा अनड्वान् के सप्त-दोह[75] उल्लिखित हैं। दिन के तीन सवनों में तीन बार दोहन का भी उल्लेख मिलता है।[76] वैवस्वत मनु, विरोचन, यम, सोम, इन्द्र, चित्ररथ, कुबेर, तक्षक आदि को वत्स कल्पित करके विराज् से विविध तत्त्वों को दुह लेने का वर्णन अथर्ववेद में विस्तार से मिलता है।[77]

ऋग्वेद में गौएँ सबर्दुघा[78] तथा 'विश्वदोहस्'[79] आदि विशेषणों से विभूषित की गई हैं। उनके रहस्यात्मक दुग्ध व घृत का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। एक मन्त्र में गायों द्वारा शीर्ष से दुग्ध प्रदान करने का उल्लेख मिलता है।[80] एक दूसरे मन्त्र में उसे नीचे से दुहने के लिए कहा गया है।[81] श्वेतवर्णा गो से दिव्यघृत दुह लेने का उल्लेख भी मिलता है।[82] इन्द्र ने दस्यु-अधिकृत स्तरी (प्रसव निवृत्ता) धेनु को भी दुहा था।[83] सहस्रधाराओं वाले वृषभ को द्युलोक से दुह लेने का उल्लेख मिलता है।[84] 21 गौओं से सोम दुहे जाने का वर्णन भी है[85] क्योंकि गौएँ अपने ऊध प्रदेश में सोम को धारण करती हैं।[86]

अथर्ववेद के पंच-दोहों से सम्बन्ध पंचनाम्नी गो की तरह ऋग्वेद में पंच-उक्षाओं का उल्लेख है।[87] अनड्वान के सप्त-दोह का सम्बन्ध कदाचित् यज्ञ से हो जिसका 'सप्ततन्तु'[88] नाम प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'सप्तगु' (सायण द्वारा ऋषिनाम माने गए) का सम्बन्ध भी कदाचित् सप्त-दोहों से हो। तीन सवनों में अनड्वान् के दोहन का सम्बन्ध तो ऋग्वेद में उल्लिखित वृषभ के तीन ऊध प्रदेशों से[89]

---

74 अवे० 8।9।15
75 " 4।11।9
76 " 4।11।12
77 " 8।10।1-6
78 " 1।20।3, 3।55।16, 6।48।11 आदि
79 " 1।130।5, 6।48।13
80 शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य। ऋ० 1।164।7
81 नीचीनमघ्न्या दुहे। ऋ० 1।60।11
82 ऋ० 10।12।3
83 अधोगिन्द्रः स्तर्यो दंसुपत्नी। ऋ० 4।19।7
84 सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः। ऋ० 9।108।11
85 त्रिः सप्त दुदुहान आशिरम्। ऋ० 9।86।21
86 ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे। ऋ० 9।68।1
87 ऋग्वेद 1।105।10
88 ऋग्वेद 10।52।4, 124।1
89 ऋ० 3।56।3

जान पड़ता है । कुछ भी हो, इन दोहनों का स्वरूप रहस्यात्मक ही है, सामान्य नहीं ।

गो और वाक्

ऋग्वेद में गो और वाक् में अभिन्नता स्थापित की गई है । देवों की राष्ट्री (प्रदीपिका) वाक् रूपी धेनु अबोधों को प्रबुद्ध करती हुई यज्ञ में आती है तब वह चार प्रकार के रस व अन्न (स्वाहा, स्वधा, वषट् और हन्तकार)[89अ] का दोहन करती है । उसका परम (अन्न या रूप) कहाँ जाता है ? कहा नहीं जा सकता ।[90] देवों द्वारा उत्पन्न दिव्य वाणी को समस्त पशु बोलते हैं । वह हर्ष प्रदान करने वाली वाक् धेनु अन्न व रस दोहन करती हुई स्तुत होने पर स्तोताओं के पास आती है ।[91]

वाक् चार पादों से परिमित है जिसके तीन पाद गुह्य हैं तुरीय-पाद का व्यवहार मनुष्य बोलने में करते हैं ।[92] इसी मान्यता के आधार पर धेनु के साथ तुरीय ब्रह्म का सम्बन्ध अथर्ववेद में खोजा गया है ।[93] एक मन्त्र में अग्नि व सोम की धारिका तुरीया-विराट् का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।[94] विद्वानों की मान्यता है है कि वाणी को मूलत: दिव्य तथा पवित्र माना जाता है अत: वाणी और धेनु को अभिन्न कहने से गो की पवित्रता में विश्वास बढ़ा ।[95] ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् व गो में अभिन्नता स्वीकार की गई है ।[96]यह अभिन्नता रहस्यवादी दृष्टि को जन्म देती है । डॉ० सुधीरकुमार गुप्त के अनुसार गति और शब्द दोनों ईश्वर की शक्ति या महिमा हैं और अभिन्न हैं ।[96अ]

रहस्यमय गो व्रज, गोत्र

गौओं को मुक्त करने के लिए अश्विनों ने जिस व्रज को विदीर्ण किया उसका विशेषण सप्तास्यम् (सप्त-मुख वाला) मिलता है ।[97] बृहस्पति ने भी शब्द द्वारा तेजो-

---

89अ बृ० उ० 5।8।1

90 यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे प्रयांसि क्व स्विदस्या: परमं जगाम । ऋ० 8।100।10

91 देवीं वाचं अजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा: पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु । ऋ० 8।100।11

92 ऋग्वेद 1।164।45

93 अथर्ववेद 7।1।1 । तुरीय ब्रह्म = स्तोत्र (सायण) ।

94 अथर्ववेद 8।9।14

95 Encyclopaedia of Religion & Ethics P. 225

96 ताण्ड्य महाब्राह्मण 18।9।21 गोपथ पूर्वार्द्ध 2।21
शतपथ ब्राह्मण ।1।2।17,14।8।9।1
वाग्वै विराट् शत० 3।5।1।34

96अ वेदलावण्यम् भाग 2 पृ० 51

97 अश्विनाव् व्रजमूर्णथ: सप्तास्यम् — ऋ० 10।40।8

विशिष्ट-सप्तमुखी (सप्तास्य) होकर व्रज में अन्धकार (युक्त दस्युओं) का नाश किया।[98]

गोत्रजों का वचन से ही भेदन हो जाता है।[99] एक मन्त्र में कहा गया है कि 'हम स्तोत्र पाठ करें जिसके द्वारा गोव्रज उद्घाटित हुआ था।[100] एक अन्य मंत्र में गो-व्रज को 'वल' कहा गया है। यह वल डर से इन्द्र के वज्र प्रहार के पहले ही छिन्न-भिन्न हो गया।[101]

इन्द्र वृत्र का वध करता है।[102] एक मंत्र में उससे गोत्र को विदीर्ण करने के लिए कहा गया है।[103] एक दूसरे मंत्र में भी दधीचि के लिए गोत्र-वध किए जाने का उल्लेख मिलता है।[104] इन्द्र मारने के लिए गोत्रों की ओर दौड़ते हैं।[105] ऐसा ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर स्थूल दृष्टि से पराक्रमी शत्रु की तरह दिखाई पड़ने वाले वृत्र का सम्बन्ध गोत्र से स्थापित किया गया है।[106]

गो व्रज या गोत्र, जहां से गौएँ मुक्त की जाती हैं, के विषय में कहा गया है कि गौएँ नीचे के एक द्वार के द्वारा और ऊपर के दो द्वारों द्वारा अन्धकार या अधर्म के आलय स्वरूप गुहा में छिपाई गई थीं। अन्धकार में ज्योति प्राप्त करने की इच्छा से बृहस्पति ने तीनों द्वारों को खोल कर गौओं को निकाल दिया।[107] पुरी के पिछले

---

98 ऋ० 4।50।4 अन्धकार के अर्थ में व्रज का अन्यत्र प्रयोग 9।102।8 अन्धकार के व्रज का उषा द्वारा उद्घाटन 4।51।2

99 ऋ० 4।16।6, 4।1।15

100 एता धियं कृणवाम सखायोप या माता ऋणुत व्रजं गोः। ऋ० 5।45।6 [धी का अर्थ सायण ने स्तोत्र किया है। यास्क की साक्षी से प्रज्ञा किया जाय तो प्रज्ञा द्वारा उद्घाटित होने वाला व्रज शरीर का ही अङ्ग होगा।]

101 अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः पुराहन्तोर्भयमानो व्यार। ऋ० 3।30।10 तुलनीय 10।67।6

102 ऋ० 1।121।11,2।11।9 आदि

103 आ नो गोत्रा दर्दृहि—ऋ० 3।30।21। [इस मंत्र में गोदा इन्द्र से गौएँ प्रदान करने व विवेक प्रदान करने के लिए भी कहा गया है। गोत्र दलन के उपरान्त विवेक प्रदान करने की बात से दस्युवधादि आध्यात्मिक घटनाएँ प्रतीत होती हैं।]

104 गोत्रा शिक्ष दधीचे मातरिश्वने। ऋ० 10।48।2

105 ऋ० 10।103।7

106 सायण ने उपर्युक्त प्रसंगों में गोत्र का अर्थ मेघ या किहै। निघंटु (1।10) के अनुसार वृत्र और गोत्र दोनों मेघ के ही नाम है। अतः अभिन्न हैं।

107 अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ। बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्विहि तिस्र आवः। ऋ० 10।67।4

भाग को तोड़ कर तीनों द्वारों को खोल देने पर बृहस्पति ने उषा, सूर्य और गो को एक साथ प्राप्त किया ।[108]

अतः ऋग्वेद में गोव्रज, गोत्र आदि का रहस्यात्मक अर्थ है तथा उषा, सूर्य और गो में कोई समान धर्म का सम्बन्ध है । समान धर्म इन तीनों का प्रकाश ही ज्ञात होता है[109] जिसके रश्मि रूप गो को गुहा से बाहर निकाल कर प्रकट किया जाता है ।[110]

गो से बने हुए नामों की रहस्यात्मकता

ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऋचाओं' में प्रयुक्त संज्ञा शब्द सदैव किसी व्यक्ति का निदर्शन नहीं करते; वरन् किसी निश्चित आध्यात्मिक गुण या विशेषता को व्यक्त करते हैं और वे उस व्यक्ति या शक्ति के लिए व्यवहृत होते हैं जो उन विशेषताओं से युक्त हों ।[111] यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि उन संज्ञाओं का सामान्य विशेषण की तरह प्रयोग किया गया है, यही नहीं उनके तुलना व अतिशयता सूचक रूपों का प्रयोग भी हुआ है । यथा—

इन्द्र—इन्द्रतम[112]

अङ्गिरस्—अङ्गिरस्तम[113]

इन्द्रवत्[114] (मतुप्प्रत्ययान्त) आदि शब्दों का व्यवहार भी हुआ है ।

ऋग्वेद में गो से बने हुए अनेक संज्ञा शब्द ऐसे हैं जिन्हें भाष्यकार व आधुनिक विद्वान् व्यक्तियों के नाम समझते हैं; किन्तु ध्यान देने पर वे भी सामान्य गुणवाची शब्द ही ज्ञात होते हैं । उन नामों से कभी-कभी रहस्यात्मक संकेत भी मिलते हैं उनका परिचय नीचे दिया जा रहा है—

अध्रिगु

विभिन्न विभक्तियों में इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में पन्दरह बार हुआ है—दो बार बहुवचन में[115], दो बार द्विवचन में[116] और शेष ग्यारह बार एकवचन में[117]

---

108 ऋग्वेद 10।67।5

109 गोत्र, वृत्रादि का सम्बन्ध आन्तरिक जगत् से होना सम्भव है । अतः ज्योति या प्रकाश भी प्रज्ञात्मक ही होगा ।

110 ऋग्वेद 1।6।5,8।4।18

111 Studies in Vedic Interpratation---A. B. Purani. Page 30.

112 ऋग्वेद 1।182।2,7।79।3 (इन्द्रतमा)

113 " 1।75।2,1।31।2,100।4,130।3,8।23।10,10।62।6 आदि

114 ऋग्वेद 1।105।19,1।116।21,4।33।3,5।57।1

115 " 1।64।3,8।22।11

116 " 5।73।2,8।22।11

117 " 1।61।1, 112।20, 3।21।4,5, 10।1, 6।45।20, 8।12।2, 22।10, 60।17, 70।1, 93।11, 9।98।5

यास्क के अनुसार अध्रिगु मंत्र है क्योंकि वह गो—वाणी में अधिकृत—स्थित होता है। अथवा उसे प्रशासन का वाचक माना जा सकता है क्योंकि वह शब्दवत् होता है। अथवा 'अध्रिगु' नाम वाला कोई देवताओं में शमन करने वाला देव विशेष है क्योंकि मंत्र में शमन करने वाले के लिए ही 'अध्रिगो' सम्बोधन आया है—

अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वम् ।[118]

'शमी' कर्म का पर्यायवाची है।[119] अत: मंत्र में सुकर्म या यज्ञ में प्रेरित करने के लिए 'अध्रिगु' देवता से प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद में एक मंत्र में शमी में गो के जन्म ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है।[120]अत: 'अध्रिगु' का तात्पर्य ज्ञात होता है—वह जिसमें—शमी में गो उत्पन्न हुई हो अथवा जिसका शमी में उत्पन्न गो आधार हो अथवा जिसकी शमी में उत्पन्न गो आश्रित हो।

शमी की तरह शची भी कर्म नाम है।[119] साथ ही शची को वाक्[121] व प्रज्ञा[122] का पर्याय भी माना गया है। शचीपति होने से इन्द्र को 'अध्रिगु' कहा गया है।[123] स्कन्द स्वामी ने कहा है कि गो (व्रत) धारण न करने के कारण वह 'अध्रिगु' है अथवा अधृतगमन होने से उसको यह नाम दिया गया है।[124] स्कन्द स्वामी द्वारा इस प्रसंग में उल्लिखित इतिहास के अनुसार गो धारण न करने (अतएव-अध्रिगु) से इन्द्र प्रारम्भ में शत्रु विजय में समर्थ न हो सका। शमी या शची द्वारा इन्द्र ने गो धारण की।[125] इसीलिए विराट् (अथर्ववेद को विराज् गो) को शची की पुत्री कहा गया है।[126] एक मन्त्र में 'अध्रिगु' के अतिरिक्त इन्द्र का ऋतस्तुभ्[127]

---

118 निरुक्त—5।2।7 में उद्धृत मन्त्र 119 निघण्टु 2।1

120 शम्यां गौर्जगार—ऋ० 10।31।10 (सायण—शमी वृक्ष पर गो--अरणी उत्पन्न हुई। यास्क—शमी कर्म नाम नि० 2।1)

121 निघण्टु 1।11 122 निघण्टु 3।9

123 ऋ० 1।61।1, 8।70।1 [इन्द्र के अध्रिगु विशेषण के लिए ऋ० 1।112।20 मन्त्र के 6।45।20 भाष्य में स्कन्दस्वामी ने इतिहास दिया है कि नमुचिवध के बाद अश्विनों के साथ सोमपान करते समय असुरों ने उसे मारना चाहा तब अश्विनों ने इन्द्र को बचाया।

123 ऋ० 1।112।20 पर स्कन्दस्वामी का भाष्य।

125 शची (प्रज्ञा) की सहायता से इन्द्र में गो उत्पन्न होने की कथा आध्यात्मिक रहस्य की ओर संकेत करती है। गो-प्रजनन के उपरान्त शची का आध्यात्मिक अनुभव 10।159 सूक्त में व्यक्त हुआ है।

126 ऋ० 10।159।3

127 ऋ० 1।112।20 [सायण ने 'ऋतस्तुभ्' व्यक्ति का नाम माना है; परन्तु यह इन्द्र का ही विशेषण ज्ञात होता है जो गो प्राप्ति के उपरान्त उसके लिए सार्थक हुआ। तुलनीय—10।159।3—पत्यौ मे उत्तमः श्लोकः]

विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। अग्नि भी 'अध्रिगु' कहा गया है।[128] साथ ही इन्द्र की तरह 'शचीवः' विशेषण द्वारा[129] उसका सम्बन्ध भी शची द्वारा प्रकट किया गया है। अन्य देवता जिनका 'अध्रिगु' विशेषण प्रयुक्त हुआ है वे हैं—मरुत्,[130] अश्विन् द्वय[131] तथा सोम[132]। इसके अतिरिक्त स्तोता कहता है कि 'अधृत गो या गति वाले हम अश्विन् द्वय का आह्वान करते हैं।'[133] यहां स्तोता ने विनयशील होकर अपने को 'अध्रिगावः' (जिसकी शमी में गो नहीं है।) कहा है। एक अन्य मन्त्र के अनुसार इन्द्र के बल व स्वराज्य को न तो देवता और न अध्रिगु—जन ही हिंसा करने में समर्थ हो सकते हैं।[134] अतः 'अध्रिगु' पद रहस्यात्मक अर्थ की ओर संकेत करता है।

सप्तगु, पृश्निगु, भूरिगो, शाचिगो, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु, आदि नाम—

अधृत-गो की सदैव यह अभिलाषा रहती है कि वह भी उत्तम गौओं वाला (सुगवः) बने।[135] एक सप्तगु (सात गायों का स्वामी) ऋषि का नाम आता है।[136] उसके ऋतधीति सुमेधा व बृहस्पति विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।[137] कदाचित् ऋतधीति[137अ] होने से ही वह सप्तगु कहलाया हो और कर्म (शमी) में गो उत्पन्न होने का सम्बन्ध सप्तगु से भी हो। सप्तगु की तरह के नाम ही पुष्टिगु,[138] श्रुष्टिगु[139] शाचिगो,[140] भूरिगो[141] भी हैं।

---

128 ऋ० 5।10।1, 3।21।4, 8।60।17

129 " 3।21।4

130 अध्रिगावः—ऋ० 1।64।3 (गौः द्यौ तत्राधृता व्यवस्थातारः अध्रिगावः। अधार्यगमना वा—स्कन्दस्वामी भाष्य)

131 ऋ० 5।73।2, 8।22।11

132 " 9।98।5 (श्री अरविन्द—Unseizable. ray)

133 " 8।22।11

134 ऋ० 8।93।11

135 " 1।116।25 ऋ० 1।125।2 भी द्रष्टव्य।

136 " 10।47 का ऋषि

137 " 10।47।6

137अ—ऋतधीति—सत्यकर्मा (सायण)

138 पुष्ट गायों वाला—ऋ० 8।50 का ऋषि पुष्टिगु काण्व

139 क्षिप्र गो वाला—ऋ० 8।51 का ऋषि श्रुष्टिगु काण्व

140 शक्तिशाली गौओं वाला—इन्द्र-ऋ० 8।17।12 ज्ञात होता है कि अध्रिगु इन्द्र ही गो के उत्पन्न होने पर 'शाचिगो' बनता है।

141 अनेक गौओं वाला—इन्द्र—ऋ० 8।62।10 यह विशेषण भी 'शाचिगो' की तरह ही है।

पृश्निगु पुरुकुत्स का विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[142] 'कुत्स का पर्यायवाची 'अर्क'[143] कहा गया है जिससे ऋग्वेद में गौएँ उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है।[144] पुरुकुत्स शब्द का तात्पर्य भी 'गो उत्पन्न करने के लिए प्रभूत यत्न करने वाला' ज्ञात होता है। ऐसा करने पर ही वह पृश्निगु कहलाता है।

एक मंत्र में 'पृश्निगाव:'[145] मरुतों का विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पृश्नि से उनके मातृत्व आदि सम्बन्धों का उल्लेख किया जा चुका है। ऊपर आये हुए ये सभी नाम सांकेतिक अर्थ प्रदान करते हैं।

गविष्ठिर

गविष्ठिर आत्रेय ऋग्वेद के एक सूक्त[146] का ऋषि है। व्युत्पत्ति के आधार पर गविष्ठिर का अर्थ है—गायों (संभवत: इन्द्रियों) का अधिष्ठाता। अत्रि का भी व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—अविद्यमाना त्रय:—कामक्रोधलोभा: यस्मिन् स:—काम क्रोधादि से रहित। विकल्प से इस सूक्त का ऋषि बुध (अर्थ-ज्ञानी) भी कहा गया है। बुध ही गविष्ठिर हो सकता है। अत: दोनों ऋषि नामों में अर्थ साम्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इस ऋषि को धेनु के समान आती हुई उषा प्रबुद्ध करती है।[147] अत: स्पष्ट है कि यह नाम भी गुह्य सांकेतिक अर्थ को अपेक्षा करता है।

गोतम

ऋग्वेद के राहुगण गोतम,[148] वामदेव गोतम[149] व नोधा गोतम[150] ऋषि प्रसिद्ध हैं। नोधा के नैपुण्य, अजेयता, दीप्तिमत्ता, बल, धन-सम्पन्नता, विश्व-दर्शन, पुत्रपौत्रों से सम्पन्नता आदि 9 गुणों[151] का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। राहुगण गोतम की स्वराज्य अर्चना का उल्लेख भी मिलता है।[152] वामदेव ने ऋत व

---

142 ऋ० 1।112।7 (सायण ने पुरुकुत्स व पृश्निगु को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नाम माने हैं, परन्तु स्कन्दस्वामी ने ऐसा नहीं माना है।)

143 निघण्टु 2।20 दोनों वज्रनाम।

144 उस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कै:। ऋ० 3।31।11

145 ऋ० 7।18।10 146 ऋ० 5।1

147 " 5।1।1

148 √रह्—त्यागे + उण् = राहु—त्यागशीलों में अग्रगण्य। गोतम गो वालों में सर्वश्रेष्ठ—[पं० सातवलेकर–गो ज्ञान कोश] अथवा प्रशस्त इन्द्रियों वाला। ऋ० 1।74-93, 9।31, 9।86।46-48 के ऋषि।

149 [वाम—सुन्दर + देव—दिव्यगुण विशिष्ट। इन्द्रियजयी-गोतम] वामदेव चतुर्थ मण्डल के ऋषि।

150 ऋ० 1।58-64, 8।88, 9।93 के ऋषि। Nine fold—उत्तम नौ इन्द्रियों वाला।

151 ऋ० 1।64।14 152 ऋ० 1।80।1-16

गौओं के सम्बन्ध में व्याख्यान किया है।[153] आत्म दर्शन के उपरान्त वामदेव को जो दिव्य अनुभव हुआ वह भी एक सूक्त में वर्णित है।[154]

गोषूक्ती

काण्वायन गोषूक्ती ऋषि-दृष्ट दो सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं।[155] जिनमें व्यंजना से वह गो सखा बनने,[156] गोपति[157] बनने अथवा इन्द्र की सूनृता गो का दोहन करने की अभिलाषा प्रकट करता है।[158] दोनों सूक्तों के गोषूक्ती के विचारों का अध्ययन करने पर गोषूक्ती की गुह्यता के संकेत मिल जाते हैं।

गौरिवीति

इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ—गौरी = वाक् + वीति = भोजन—वाङ्मय जिसका भोजन हो।[159] गौरिवीति के सूक्तों में गो के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण, मौलिक विचार प्राप्त होते हैं। एक मन्त्र के अनुसार इंद्र ने अहि को मार कर मनुष्य के लिए गौएँ प्राप्त कीं जो हव्य स्वरूपा हैं।[160] इस मन्त्र के अनुसार गौओं की मनुष्य के लिए यज्ञीय उपयोगिता प्रमाणित होती है।

गौरिवीति के इन्द्र को वर्द्धित करने वाले स्तोत्र का उल्लेख मिलता है।[161]

एक मन्त्र में कहा गया है कि—सोम अभिषवन करने वाले नवग्वा और दशग्वा अर्क द्वारा इंद्र की अर्चना करते हैं। उन्होंने आच्छन्न गोधन को उन्मुक्त किया।[162] इन्द्र की अभिवृद्धि का तात्कालिक फल महापद द्वारा गौओं का प्रकट होना है।[163] इस मन्त्र का 'महापद' ऊपर कहे गये गो के गुह्य परम पद से अभिन्न ज्ञात होता है। गौएँ उन्मुक्त तो महापद द्वारा होती हैं, परन्तु ज्ञात ऐसा होता है मानों अन्धकार में से (ध्वान्तात् प्रपित्वात्) गर्भ (वृष्टिजल—सायण) प्रकट हुआ है। अगले मंत्र में पद का इन्द्र से सम्बन्ध उल्लिखित है।[164]

---

153 ऋ० 4।23।8-10 154 ऋ० 4।26
155 " 8।14, 8।15 गोषूक्ती–गो के विषय में उत्तम कथन करने वाला।
156 " 8।14।1 157 ऋ० 8।14।2
158 " 8।14।3
159 " 5।29, 9।108।1,2, 10।73, 10।74 का ऋषि।
160 अहन्नहिं मनुषे गा अविन्दत् तद्धि हव्यम्। ऋ० 5।29।3
161 ऋ० 5।29।11 162 ऋ० 5।29।12
163 " 10।73।2 (अभीवृतेव ता महापदेन गर्भाः उदरन्त) [मंत्र में अन्धकार के अर्थ में 'ध्वान्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस सूक्त के अन्तिम मंत्र (10।73।11) में भी अन्धकार दूर करने व नेत्र को आलोक से भर देने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र को यह करने की सामर्थ्य सुपर्ण (रश्मि नाम, गो) प्राप्ति के उपरान्त मिलती है।
164 ऋष्वा ते पदा—ऋ० 10।73।3

एक मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र का चक्र जल में स्थापित है जो उसके लिए मधु का छेदन करता है। इन्द्र द्वारा पृथ्वी पर ओषधि आदि में जो दुग्ध रक्खा गया वह गो के ऊधस् प्रदेश में रहता है।[165] बहुत से पुत्रों वाली पृथ्वी सहस्र-धाराओं में दुही जाती है। गोधन पाने वाले व उनको दुहने की इच्छा वाले इन्द्र की स्तुति करते हैं।[166] गौरिवीति के रहस्यात्मक चिन्तन के अनुसार ज्ञानेच्छुक (श्रवस्यता मनसा) के मन से पृथिवी व्याप्त हो जाती है अर्थात् ज्ञानक्षेत्र की सीमा में सम्पूर्ण पृथ्वी समाई हुई है।[167] इस उदार दृष्टिकोण के मूल में गो-प्राप्ति की बात रहस्यात्मक ढंग से जुड़ी हुई है।

ऋत और गो का रहस्यात्मक सम्बन्ध

ऋत शब्द √ ऋ (गत्यर्थक) धातु से व्युत्पन्न है। धात्वर्थ की दृष्टि से ऋत और गो में अभिन्नता है; परन्तु ऋत शब्द द्वारा ध्वनित गति विशिष्ट के साथ गो के रहस्यात्मक सम्बन्ध का व्याख्यान भी ऋग्वेद में किया गया है।

निघण्टु में ऋत की जल,[168] धन,[169] सत्य[170] और पदनामों[171] में गणना की गई है। उदक नामों में 'ऋतस्य योनिः'[172] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में ऋत पद के अनेक अर्थ किये हैं यथा—

1 ऋतस्य = गतस्य[173]
2 ऋतस्य योनिः = यज्ञस्य योनिः[174]
3 ऋतस्य—ऋत शब्देन इन्द्रो वा आदित्यो वा सत्यं वा यज्ञो वोच्यते[175]
4 ऋतम्—ऋतदेवम्। उदकम् यज्ञ वा।[176]
5 ऋतम्—स्तोत्रम्, उदकं वा।[177]
6 ऋतम् - सूर्यपरिमण्डलम्[178]
7 ऋतम्—कल्याण भूतं गृहम्[179]

---

165 ऋ० 10।73।9
166 ऋ० 10।74।4
167 10।74।2
168 निघण्टु 1।12
169 निघण्टु 2।10
170 निघण्टु 3।10
171 निघण्टु 5।4
172 निघण्टु 1।12
173 ऋग्वेद 1।65।2 पर सायण भाष्य, इसी पर स्कन्दस्वामी भाष्य भी द्रष्टव्य।
174 उपर्युक्त मंत्र व उस पर सायण भाष्य।
175 ऋग्वेद 4।23।8 पर सायण भाष्य।
176 " 4।23।9-10 पर भाष्य।
177 " 5।12।2 पर सायण भाष्य।
178 ऋ० 4।62।1—[ऋतम्—सूर्यपरिमण्डलं। ऋतेन—उदकेन—उदकपूरितेन मेघेन।]
179 ऋ० 8।27।19 पर सायण भाष्य।

8 ऋतेन—सत्येन[180]

9 ऋतस्य--सूर्यस्य[181]

10 ऋतेन—सत्यरूप रथेन[182]

11 ऋत—बल (ऋतावानं—बलवानम्) ।[183]

सायण ने ऋत का अर्थ सत्य करते हुए भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट किया है--

ऋत मानसं यथार्थसंकल्पनं सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम् ।[184]

यहां ऋत का सम्बन्ध मन की भावात्मक सृष्टि से और सत्य का वाग्रूपा भौतिक सृष्टि से ध्वनित होता है। श्री अरविन्द ने अपनी आध्यात्मवादी व्याख्या में ऋत का यह स्वरूप स्वीकारते हुए 'सत्य चेतना' (Truth Consciousness) अर्थ किया है जिससे सज्ञान-सत्ता का उद्भव होता है ।[185]

पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने ऋत को सूत्र कहा है [186] तथा इसी का स्पष्टीकरण करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है कि "देश और काल के कोठे में ओर से छोर तक एक नियम व्याप्त है। यही ऋत का तन्तु है। जड़ चेतन सब में यह तन्तु ओत-प्रोत है ।[187]

ऋत की सूक्ष्मता और सत्य के सायतन स्वरूप पर पं० मधुसूदन ओझा के विचार भी उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार "नाभि (केन्द्र) रहित-निरायतन-हृदय-तत्त्व ऋत है और नाभि-परिधि-कृत-संस्थ-सायतन-शरीर सत्य। जितना भृगुओं का प्रक्रमण है वह ऋत और जितना अंगिराओं का वह सत्य है। सत्य में ऋत धारण किया हुआ है और ऋत में सत्य। सत्य को भीतर व बाहर से व्याप्त करके ऋत रहता है ।"[188]

डा० फतहसिंह ने ऋत का सम्बन्ध काल से माना है जिसके बाहर कोई भी भाव या क्रिया विकार नहीं हो सकता। ऋत के बिना सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती ।[189]

---

180 ऋ० 1।23।5 पर सायण भाष्य।

181 ,, 1।123।9, 13 पर सायण भाष्य।

182 ,, 3।58।2 पर सायण भाष्य।

183 ,, 3।2।13 पर सायण भाष्य।

184 ,, 10।190।1 पर सायण भाष्य।

185 Studies in Vedic. Interpretation---A. B. Purani-P. 49

186 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ. 234

187 वेद विद्या--डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—पृ. 187

188 पं० मधुसूदन ओझा—'विज्ञान विद्युत्' पृ. 15—16 तथा 'ब्रह्मसमन्वय' पृ० 33।34

189 डा० फतहसिंह—वैदिक दर्शन-पृ० 241

उपर्युक्त विवेचन से ऋत के गुह्य रूप पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में गो के रहस्यमय स्वरूप को ऋत के साथ संयुक्त किया गया है। गो का अन्य देवताओं से सम्बन्ध अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है। ऋत को भी गो की तरह ही देवताओं से सम्बद्ध माना गया है। देवताओं के ऋतावृध,[190] ऋतस्पृश,[191] ऋतपा,[192] ऋतस्य गोपाः,[193] ऋतावान्,[194] ऋतजातः,[195] ऋतायिनी(द्यावापृथिवी),[196] ऋतावरी[197] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। देवगण ऋत के अनुव्रती हैं[198] और ऋत के सामगान में रमण किया करते हैं।[199] उषा ऋत के मार्ग पर विचरण करती है।[200] ऋत का मार्ग संसार से पार जाने के लिए ही है।[201] ऋत की नौका का उल्लेख पार जाने के लिए हुआ है।[202] ऋत से सूर्य द्युलोक में स्थापित किया गया और माता पृथिवी का विस्तार हुआ।[203] देवों का द्युलोक से ऋत द्वारा आह्वान किया जाता है।[204] वे ऋत के रथी और ऋत के गृह में निवास करने वाले हैं।[205] सूर्य के उदित होने पर वे ऋत को धारण करते हैं।[206]

ऋत का सदन और गो

ऋग्वेद में ऋत के सदन का बार-बार उल्लेख मिलता है। एक मन्त्र के अनुसार अग्नि ऋत के गृह में निवास करने का इच्छुक है। द्युलोक-वासिनी धेनुएँ ही अभीष्ट वर्षी अग्नि के अश्व हैं, मधुवाहिनी दिव्य नदियों में निवास करता

---

190 ऋ० 1।2।8, 1।23।5 आदि
191 ,, 1।2।8, 5।67।4
192 ,, 1।113।12
193 ,, 5।63।1, 7।73।8
194 ,, 4।42।4
195 ,, 9।108।8 तुलनीय 1।55।5
196 ,, 10।5।3
197 ;, 1।160।1
198 ,, 1।65।2
199 ,, 1।147।1 (ऋतस्य सामन् रणयन्त देवाः।)
200 ,, 1।124।3
201 पारमे तवे ऋतस्य पन्था अभूत्। ऋग्वेद 1।46।11
202 ऋतस्य नावमारुहद्रजिष्ठाम्—ऋ० 9।89।2
तुलनीय 9।73।1, 9।95।2
203 ऋ० 10।62।3
204 ,, 9।80।1
205 ,, 6।51।9
206 ,, 8।27।19

है और एक गौ (माध्यमिका वाक्--सायण) उसकी परिचर्या करती है।[207] एक अन्य मन्त्र के अनुसार माता और पुत्री--ये दो (पृथिवी और द्युलोक सायण) अमृतवर्षी धेनुएँ परस्पर संगत होकर जहाँ एक दूसरे को दुग्ध पिलाती हैं उस ऋत के सदन में (सायण-अन्तरिक्ष) वे स्तुत्य हैं।[208] इनमें से एक (द्युलोक) दूसरी (पृथिवी) के वत्स को चाटती है और शब्द (मेघ-ध्वनि) करती है। इस प्रकार वह धेनु अपने ऊधप्रदेश को पुष्ट करती है और ऋत के दुग्ध से इळा को पुष्ट करती है।[209]

ऋत को गो प्राप्ति

ऋत अकेला स्थिर रहते हुए भी भारस्वरूप ६ को धारण करता है। उस (आदित्यात्मक संवत्सर को) गौएँ प्राप्त होती हैं। तीन मही-महती भूमि-तीन लोक ऊपर अवस्थित हैं जिनमें से दो गुहानिहित हैं और एक (पृथिवी) दिखाई देती है।[210] इस मंत्र में ऋत का कालात्मक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। गौएँ संवत्सरपरिणामी आदित्य की रश्मियाँ हो सकती हैं। पृथिव्यादि लोकों को प्रकाशित करने वाली रश्मियों से ही त्रिलोक की प्रतीति होती है जिनमें से स्थूलता के कारण पृथ्वी दिखाई देती है अन्तरिक्ष व द्युलोक नहीं।

ऋत की धेनुएँ

ऋग्वेद में एक मंत्र में ऋत की धेनु का उल्लेख मिलता है जिसने उत्पन्न होते ही इस संसार को दुहा।[210] एक अन्य मंत्र के अनुसार ऋत की गतिशील अग्नि की गौएँ प्रशस्त ऊधप्रदेश वाली होकर अग्नि को अमृत के समान दूध से आप्यायित करती हैं।[211] ऋत के पद में वैश्वानर का निवास है जिनकी क्षीरप्रस्रविणी गौएँ सेवा किया करती हैं।[212]

ऋत के मार्ग पर गमन और गो प्राप्ति

यह कहा गया है कि पुण्यरहित व्यक्ति ऋत के मार्ग को पार नहीं कर सकते,[213] परन्तु ऋत के मार्ग पर चलने वालों का मार्ग (गव्यूति) विस्तीर्ण हो

---

207 ऋ० 3।7।2
208 ,, 3।55।12
209 ,, 3।55।13 (साभा)
210 ,, 3।56।2 (साभा)
210 ऋतस्य धेनुः इदं अदुहज्जायमाना—ऋ० 10।61।19 [सायण—यज्ञ रूपा गौ या माध्यमिकी वाक् उत्पन्न होकर सृष्टि को उत्पन्न किया। यहाँ सृजन प्रक्रिया से गो का सम्बन्ध उल्लिखित है।]
211 ऋ० 1।73।6 (सायण, स्कन्द)
212 ,, 4।5।9
213 ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः—ऋ० 9।73।6

जाता है ।[214] अंगिराओं ने जिन गौओं को प्राप्त किया उनका मूल परम लोक में है । ऋत के मार्ग का अनुसरण करके सरमा ने उन गौओं को प्राप्त किया ।[215] एक अन्य मंत्र के अनुसार ऋत की ओर गमन करती हुई सरमा ने गौओं को प्राप्त किया, जिसके फलस्वरूप अंगिराओं ने समस्त सत्यों को प्रकट किया या बनाया ।[216]

गौओं में ऋत की प्रतिष्ठा व ऋत दोहन

ऋग्वेद में गौओं को ऋत धारण करने वाली कहा गया है । जो गो अपरिपक्व होने पर भी पक्व (दुग्ध) धारण करती है तथा कृष्ण होते हुए भी शुभ्र, पुष्टिकारक और प्राणधारक दुग्ध द्वारा मनुष्यों का पोषण करती है, उसी गो से ऋत द्वारा सम्बद्ध ऋत दुग्ध की याचना की गई है ।[217] इसी तरह अग्नि को सिंचित करने वाले ऋत दुग्ध का उल्लेख भी मिलता है ।[218] अमृतवर्षी गौएँ जब यज्ञ में उज्ज्वल व पवित्र दूध प्रदान करती हैं उस समय उन्हें पुनः ऋत को प्राप्ति होती है ।[219] इससे पता चलता है कि गो ऋत को यज्ञ में धारण करती है और यथा समय उसका दोहन करती है एक मन्त्र के अनुसार ऋत के लिए दो धेनुएँ प्रदान करती हैं ।[220]

ऋत द्वारा बल भेदन

जैसा कि अन्यत्र कहा गया है कि बल नामक असुर गौओं को गुहाओं में निरुद्ध कर देता ह । अंगिरा ऋत की सहायता से वर्ष भर में बल का भेदन करते हैं और गोयुक्त धन को प्राप्त कर लेते हैं ।[221] एक अन्य मन्त्र के अनुसार भी अंगिराओं ने अद्रिभेदन किया और वे गौओं से संगत हुए ।[222] इस प्रकार ऋत की

---

214 उर्वी गव्यूतिरदितेर्ऋतं यते । ऋ० 9।74।3

215 ऋतस्य पथा सरमा विददुगा । ऋ० 4।45।8

[Their foundation is in ths supreme session—world of session--Sarma by the path of truth found the ray cows. Sri Aurovindo]

216 ऋ० 5।45।7 (इस मंत्र में सत्य अर्थात् अस्तित्ववान् पदार्थों का आधार ऋत को कहा गया है ।)

217 ऋतेन नियतं ऋतं इळे । ऋ० 4।3।9

218 अग्निः वृषभः ऋतेन पयसा अक्तः । ऋ० 4।3।10

219 ऋग्वेद 10।61।11

220 ऋताय धेनू परमे दुहाते—ऋ० 4।23।10

221 ऋतेनाभिनन्दन् परिवत्सरे बलम् गोमयं वसु उदाजन् पितरः । ऋग्वेद 10।62।2

222 ऋतेनाद्रि व्यसन् भिदन्तः समंगिरसो नवन्त गोभिः ऋ० 4।3।11

सहायता से जो गौएँ प्राप्त होती हैं वे पुनः ऋत में प्रविष्ट हो जाती हैं अर्थात् दुग्धादि प्रदान करने के लिए स्वयं को समर्पित कर देती हैं—

ऋतेन गाव ऋतमाविवेशुः ।[223]

ऋत की रश्मियां

ऋग्वेद में ऋत की रश्मियों का उल्लेख मिलता है ।[224] सभी रश्मियाँ गो कही जाती हैं ।[225] समस्त देवता भी रश्मि रूप हैं ।[226] ऋग्वेद में उपमान के रूप गो या रश्मि की सृष्टि का उल्लेख मिलता है और यह कहा गया है कि ऋत के सदन में द्युतिमती उषाएँ प्रबुद्ध होकर स्तुत होती हैं ।[227] एक अन्य मन्त्र के अनुसार ऋत के मूल में उषा को प्रेरित करके आदित्य द्यावा पृथिवी के मध्य में प्रवेश करते हैं ।[228]

ऋत की धारा

ऋग्वेद में ऋत की धारा का उल्लेख भी मिलता है जो ऋत का दोहन करने पर प्रकट होती है ।[229] एक मंत्र के अनुसार इस धारा को अग्नि प्रेरित करते हैं ।[230] सोम सहस्रधाराओं वाला, कामनाओं का वर्षक, पयोवृध और प्रिय कहा गया है जो ऋत से उत्पन्न हुआ है ।[231] सम्भव है ऋत की धाराओं का सम्बन्ध सोम की धाराओं से हो । सोम आदित्य से घृत व पय को दुहता है जिनसे ऋत की नाभि और अमृत उत्पन्न होता है ।[232]

ऊपर के विवेचन से सुव्यक्त है कि ऋग्वेद में ऋत व गो के रहस्यात्मक सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है ।

---

223 ऋ० 4।23।9
224 ,, 1।123।13, 5।7।3
225 सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते । निरुक्त 2।2।2
226 एते वै रश्मयो विश्वेदेवाः—शतपथ ब्राह्मण 12।2।6।6
227 ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते । ऋ० 4।51।8
228 ऋ० 3।61।7
229 ऋतस्य धारा सुदुघा दुहाना । ऋ० 7।43।4
230 ऋ० 5।12।2
231 ,, 9।108।8
232 ,, 9।74।4

अष्टम अनुच्छेद :
ऋग्वेद में प्रतीक के रूप में गो

अब तक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऋग्वेद में गो शब्द केवल पशु-गो के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। गो व तदर्थवाची अन्य शब्दों द्वारा ऋग्वेद में जिन तत्त्वों की ओर संकेत किया है, उनको संकेतित करने में वैदिक ऋषियों ने शब्दों की प्रतीकात्मक-शक्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

प्रतीकः स्वरूप और प्रक्रिया

मनुष्य अपनी सुखदुःखात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी सुन्दररूप में यथावत् वस्तु वर्णन की शैली अपनाता है और कहीं उपमा-उत्प्रेक्षादि से अलंकृतशैली का प्रयोग करता । अर्थालंकारों में वक्ता अप्रस्तुतविधान का आश्रय लेकर गुण-साहृश्य के अनुसार उपमानों की कल्पना करता है। इन उपमानों में जो विशिष्ट भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं उनको प्रतीक कहा जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सारे उपमान प्रतीक नहीं होते। प्रतीक का आधार उसकी 'भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है।'[1] सच्ची परख वाले कवि उपमान के रूप में जिन वस्तुओं को लाते हैं उनमें प्रतीकत्व होता है। ऐसे प्रतीकों के नाम मात्र हमारे हृदय में कुछ बँधी हुई भावनाओं का उद्बोधन करते हैं।[2]

प्रेषणीय भाव जितने गम्भीर होते हैं प्रतीकों की आवश्यकता उतनी बढ़ जाती है। डा० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार यदि प्रतीकों का प्रयोग न किया जाय तो हमारा दिव्य-दर्शन किसी के हृदय में नहीं उतर सकता।[3]

प्रतीक शब्द के कोश में प्रदत्त अर्थों में दो प्रमुख हैं—

1. मूर्ति और 2. मुख।[4]

अमूर्तभावों को मूर्तरूप देना ही प्रतीक विधान का उद्देश्य होता है। मनुष्य दृश्यमान् जगत् में अपनी सुखदुःखात्मक अनुभूतियों का तादात्म्य खोज लेता है और प्रकृति के विभिन्न उपादानों से अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ लेता है। जिन उपादानों से जिस प्रकार का भावात्मक सम्बन्ध जुड़ता है, कालान्तर में वे उपादान उन भावनाओं को जगाने वाले साधन बन जाते हैं, जिन्हें प्रतीक कहा जाता है। ये प्रतीक पदार्थ सूक्ष्म भावों के भव्य व मूर्तरूप होते हैं। डा० चन्द्रबली पाण्डेय

---

1 'काव्य में रहस्यवाद'—निबन्ध—चिन्तामणि भाग 2 पृ० 121

2 वही पृ० 121

3 तसव्वुफ और सूफीमत—पृ० 98

4 Apte—The Student's Sanskrit English Dictionary P. 360

के अनुसार इन रूपों को प्रतीक के रूप में प्रयोग करके और इस प्रकार अमूर्त भावों को मूर्तरूप देकर मनोभावों को बोधगम्य और सरल बना लिया जाता है।[5]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतीक एक मूर्तपदार्थ होता है, जो गुह्य अर्थों को वहन करने में प्रवृत्त होता है।[6] शास्त्रीय प्रतीक भाव के विषय में कहा गया है कि लोक में जिसे प्रतिनिधि कहते हैं वही शास्त्रीय प्रतीक भाव है।[7]

प्रतीक बाह्य जगत् के भी हो सकते हैं, आन्तर्जगत् के भी; उनकी सार्थकता भावों के उद्बोधन में है। बाह्य और आन्तर्-जगत् के जो सब शक्तिशाली पदार्थ मानव मन में स्वाभाविक रूप से अन्दर के भाव को जगाकर उसे जगत्कारण की खोज एवं साक्षात् उपलब्धि करने के लिए प्रेरित करते हैं, उन्हें भी प्रतीक कहते हैं।[8] प्रतीक भाव या विचार को मूर्त संकेत प्रदान करता है, जो उस विचार के पुनर्ग्रहण में सहायक होता है।[9]

प्रतीक प्रयोग के कारण

प्रतीकों का प्रयोग मानव मनोविज्ञान के अनुकूल होता है। साधारण वार्तालाप में भी मनुष्य प्रतीक शैली का आश्रय लेता है। ऐसा करने से उसमें यह विश्वास जागता है कि वह भाव प्रेषण में समर्थ शैली का प्रयोग कर रहा हैं अतः श्रोता उसके भाव को अवश्य समझ लेगा। इस प्रकार की आत्मतुष्टि से वह प्रतीक शैली की ओर झुकता है। अतिशय भावुकता के कारण मनुष्य प्रत्यक्ष वार्तालाप में हावभावों का और लेखन व सन्देश प्रेषण में प्रतीकों का आश्रय लेता है गुरु-गम्भीर भावों को व्यक्त करने के लिए भी मनुष्य प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करता है यथा उपनिषदों में ब्रह्मवर्णन की असमर्थता को तूष्णीभाव द्वारा अनुभव किया गया है और कभी सूर्य या अग्नि के प्रतीक द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है।[10] अन्यत्र विराट् पुरुष का स्वरूप विविध ज्योतियों के माध्यम से प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर याज्ञवल्क्य ने विदेहराज के समक्ष स्पष्ट किया है।[11] गूढ़ भावों को व्यक्त करने के लिए—सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए भी प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है। सर जोन वुडरफ के अनुसार वेद ऋषियों का अतीन्द्रिय आदर्श अनुभव है।[12] उस अनुभव को व्यक्त

---

5 तसव्वुफ और सूफीमत पृ० 99
6 Sparks from the Vedie fire-Preface P. 1
7 पं० मोतीलाल शर्मा—संस्कृति और सभ्यता—पृ० 249
8 स्वामी शारदानन्दजी - भारत में शक्तिपूजा—निवेदन पृ० 2
9 Hopkins-Origin and Evolution of Religion P. 45
10 ईशोपनिषद् मंत्र 16 व 18
11 बृउ--4।3।2-6
12 Veda, that is the super-sensible standard experience of the Rishis or seers. Power as Reality P. 15

करने के लिए वेदों में भी प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया गया है। यथा ऋग्वेद में प्रकृतिजनित संसार और उसमें जीव ब्रह्म की स्थिति को अश्वत्थ वृक्ष पर बैठे हुए दो सुपर्ण पक्षियों के द्वारा व्यक्त किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।[13]

मर्यादा निर्वाह की दृष्टि से प्रेम, आलिंगनादि की चेष्टाओं को भी प्रतीकात्मक शैली में व्यक्त किया जाता है। इसी तरह कभी सामाजिक शिष्टाचार के कारण कटुवाक्य कहने की अपेक्षा व्यंग्यात्मक शैली में प्रतीकों के माध्यम से बात कही जाती है। समुद्र को प्रतीक मानकर किसी असत्कार्य में द्रव्य व्यय करने वाले पुरुष के प्रति यह उक्ति उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

आदाय वारि परित: सरितां मुखेभ्य:
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च।[14]

किसी बात को सर्वसाधारण के लिए अबोधगम्य बनाने के लिए प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर, सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है यथा मद्यप मद्य को 'गंगाजल', चोर चोरी को 'देवीपूजा' और ठग हत्या को 'दूध पिलाना' कहते देखे जाते हैं। भारत में विविध सम्प्रदायों के साहित्य में इसी दृष्टि से प्रतीक शैली का प्रयोग हुआ है। गुरु-शिष्य को यथासमय ऐसे प्रतीकों का रहस्य समझा देता था।

प्रतीक का उद्भव और विकास

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रतीक अमूर्त भावों को मूर्त-आधार प्रदान करता है। मानव की अनुभूतियों को इस प्रकार मूर्त आधार देने का सर्वप्रथम कार्य शब्द करता है। जगत् नामरूपात्मक है। उसमें नाम भी प्रतीक है और रूप विशेष को धारण करने वाला पदार्थ भी प्रतीक है। मनुष्य पहले शब्द या नाम रूप प्रतीक से परिचित होता है क्योंकि उसका केन्द्र वह स्वयं होता है। तदनन्तर वह उन पदार्थों से परिचय लाभ करता है जिनको समय-निर्देशानुसार शब्दप्रतीक संकेतित करता है।

मानव जाति के इतिहास में शब्द प्रतीक का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा ज्ञात होता है। पार्थिव पदार्थों को उसने अपने को केन्द्र मानकर समझना प्रारम्भ किया होगा। उन पदार्थों से उसने प्रारम्भिक संवेदन ग्रहण किये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि संवेदना के विषयों के अनुकूल पाँच तत्त्वों की कल्पना कदाचित्

---

13 ऋ० 1।164।20

14 काव्यप्रकाश-दशमसमुल्लास—(सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण)

उसने इसीलिए की। उसकी प्रारम्भिक संवेदनाएँ कुछ सार्थक ध्वनियों द्वारा व्यक्त होने लगी, जो कालान्तर में शब्द के रूप में विकसित हुईं। अतः शब्द प्रतीक स्वयं ध्वनिप्रतीकों का विकास ज्ञात होता है।

जब मनुष्य का ध्यान अपने से हट कर सृष्टि की ओर गया तो वहां उसने अपनी संवेदनाओं के अनुसार पदार्थों में भाव-निक्षेप कर लिए और ऐसे पदार्थ धीरे-धीरे वस्तु-प्रतीक का रूप ग्रहण करते गए। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार सृष्टि के सभी पदार्थ दिव्यसत्ता के प्रतीक हैं।[15] ऋग्वेद की 'देवं वहन्ति केतवः[16] उक्ति का भी यही भाव ज्ञात होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतीक का उद्भव संवेदना को व्यक्त करने वाली ध्वनि के रूप में हुआ और धीरे-धीरे शब्द, वस्तु आदि प्रतीकों का विकास होता गया।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रतीक

अर्थों की अधिकतम गंभीरता को वहन करने में समर्थ होने के कारण धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रतीक-प्रयोग को प्राथमिकता दी जाती है।[17] प्रतीकों से उन बातों की अभिव्यंजना भली प्रकार से हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी अपने आप को असमर्थ या मूक पाती है।[18]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतीक नित्य भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे आदिकाल से हमारे साथ हैं और अनन्तकाल तक रहने वाले हैं।[19] ऐसी भाषा का आश्रय लेकर विविध सम्प्रदायों ने अपनी गुह्य उपासना पद्धति को अनधिकारी से छुपाने व अधिकारी के समक्ष प्रकट करने के लिए सुरक्षित बनाए रक्खा। 'प्रतीकों के प्रयोग द्वारा गुह्यविद्या की मर्यादा भी बनी रहती है और (अधिकारी) लोगों को उसका बोध भी सुगमता से हो जाता है।'[20] धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त ये प्रतीक कभी हमारे भावों के आलम्बन रहे होते हैं जिनसे उन भावों का साक्षात्कार हो जाता है।[21] इन प्रतीकों द्वारा उस परम की खोज की जाती है जिसके अंश मात्र के प्रकाशन से किसी वस्तु को प्रतीक की पदवी प्राप्त

---

15 वैविभासं—भूमिका—पृ० 19
16 ऋ० 1।50।1 [केतवः—प्रज्ञापयितारः]
17 Vedic symbolism : Dr.V.S. Agrawal, Journal of Indian History Vol X L I August 1963 P. 517
18 Fares : Studies in Islamic Mysticism P. 232-57
19 Sparks from the Vedicfire-Preface--P. 1.
20 तसव्वुफ और सूफीमत—पृ०98
21 वही पृ० 99

होती है ।[22] धर्म के क्षेत्र में प्रतीक सदैव अपूर्ण रहते हैं वे निर्णयात्मक नहीं होते ।[23] कभी-कभी जब वे मूलभाव के स्थान पर दूसरे भाव को ग्रहण कर लेते हैं तब होपकिन्स के अनुसार वे बाधक बन जाते हैं ।[24]

दर्शन का विषय एकता की खोज है। विविध प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों परमेश्वर की विशालता के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालती है ।[24अ] अतः प्रतीकों का कार्य भी एक सत्ता की ओर संकेत करना ही होता है । मानव के सीमित मन और स्मृति की अनुभूतियाँ मिलकर महास्मृति और महामन का अंग बन जाती हैं । अंग्रेजी कवि W. B. Yeats के अनुसार प्रतीकों द्वारा उसी महामन और महास्मृति का आह्वान किया जा सकता है ।[25]

प्रतीकों की सार्वदेशिकता

भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं;[26] परन्तु कुछ प्रतीक सार्वभौम कहे जा सकते हैं जैसे—सूर्य-चन्द्रादि; जिन पर प्रकृति की भाषा के गुह्यार्थ लटक रहे हैं ।[27] ऐसे प्रतीकों की भाषा जातीय तथा क्षेत्रीय सीमाओं से ऊपर स्थित होकर प्रकाशित होती है । इसकी गहराई विवेकशील बुद्धि की शक्ति पर निर्भर होती है ।[28] मातृत्वादि भाव, गणित के अंक, आकाश, सूर्य, अग्नि आदि सार्वभौम प्रतीक माने जा सकते हैं ।

सृष्टि रचना और प्रतीक

मनुष्य विविध कलाओं में अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए चित्र, स्वर, मूर्ति आदि का आश्रय लेता है और उसकी कृति इस प्रकार उसके भावों की प्रतीक मानी जा सकती है । इनमें से भावप्रतीक और स्वरप्रतीक अपनी सूक्ष्मता के कारण अपने रहस्यमय मूल की ओर उन्मुख होकर काव्य में रहस्यवाद और संगीत में स्वर-साधना के सूक्ष्म क्रम को जन्म देते हैं । मनुष्य का यह सृजन वस्तुतः आत्म-प्रकाशन के निमित्त प्रतीकों की खोज है । ब्रह्म भी इसी तरह आत्म प्रकाशन के लिए सृजन क्रम को प्रवर्तित करता हुआ प्रतीकों की खोज करता है । सृष्टि के पदार्थ इसी खोज के परिणाम ज्ञात होते हैं । ऐतरेयोपनिषद् में ऐसी खोज में प्रवृत्त देव-

---

22 वही पृ० 100
23 डा० राधाकृष्णन्—सत्य की खोज-पृ० 139
24 Origin and Evolution of Religion. P. 45.
24अ सत्य की खोज पृ० 138
25 Ideas of Good and Evil से चिन्तामणि भाग 2 पृ० 122 पर शुक्लजी द्वारा उद्धृत मत
26 चिन्तामणि भाग 2 पृ० 120
27 Sparks from the Vedicfire--Preface P. 1.
28 वही पृ० 1

शक्तियों के मानव शरीर में प्रविष्ट होने का वर्णन मिलता है।[29] मानव शरीर में प्रवेश करने वाली ये देवशक्तियाँ पहले ही किसी तत्त्व को अपना अधिष्ठान बनाये हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राणियों के शरीरों व पंचतत्त्वनिर्मित सभी पदार्थों में चैतन्य का अंश वर्तमान है।[30] उस वस्तु का दृश्यमान रूप अपने में निहित चैतन्य का प्रकाशन करता है। इस प्रकार वह पदार्थ चैतन्य के उस अंश का प्रतीक है। उस वस्तु में निहित देवता के ये दो स्थूल व सूक्ष्मरूप हैं।[31]

मानव की कृतियाँ उसके भावों की प्रतीक होती हैं, उसकी तरह सृष्टि के विविधपदार्थ स्रष्टा के भावों के प्रतीक हैं। इस प्रकार सृजन प्रतीक योजना का अंग है। डा० सुधीरकुमार गुप्त के अनुसार सृजन गति का नाम है और वाणी से अभिन्न है।[32] अतः शब्द को सृजन का अंग और सृजन क्रम का प्रतीक माना जा सकता है।

शब्द की प्रतीकात्मकता

सृजन-क्रिया का परिणाम होने से भी शब्द प्रतीक है और अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला प्रथम साधन है। शब्दों की प्रतीकात्मकता के कारण सम्पूर्ण भाषा को ही प्रतीकात्मक कहा जाता है।[33]

प्रतीक निर्माण का आधार व शब्द प्रतीक

विविध वस्तुओं में गुणसाम्य, नामसाम्य, रूपसाम्य, क्रियासाम्य और भाव-साम्य की दृष्टि से एकता खोज कर प्रतीकों की कल्पना की जाती है। डा० चन्द्रवली पाण्डे के अनुसार अप्रस्तुत व प्रस्तुत का जितना लगाव होगा, अन्योक्ति-विधान (और तज्जनित प्रतीक योजना) उतना ही सुन्दर व सुगम होगा।[34] शब्द की व्याप्ति सभी प्रकार के साम्यों में है। अतः वह सभी प्रकार के स्थूल प्रतीकों के सूक्ष्मरूप का द्योतक माना जा सकता है।

शब्द-प्रतीक स्थूलप्रतीकों की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं। अतः उनकी प्रतीकात्मकता का आधार नामरूपादि का साम्य न होकर निर्वचन होता है। धात्वर्थ से

---

29 ऐउ० 1.2-3

30 पं० मधुसूदन झा ने माना है कि प्रस्तरादि में वैश्वानर अग्नि शरीरतन्त्रधर होता है, वनस्पत्यादि में वैश्वानर और तैजस तथा प्राणियों के शरीरों में वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ ये तीनों शरीरतन्त्रधर होते है। इस प्रकार दिव्यसत्ता सभी पदार्थों में व्याप्त है। विवि० पृ० 26

31 तत्र सर्वदेवतानां रूपद्वयं सूक्ष्मं स्थूल च इति।
दुर्गासप्तशती के प्राधानिक रहस्य पर नीलकंठी टीका।

32 वेदलावण्यम्—भाग 2 पृ० 51

33 All language is Symbolic---Savitri an approach and study---A. B. Purani P. 9

34 तसव्वुफ और सूफीमत पृ० 19

निर्वचन करके ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि शब्दविशेष किस भाव का प्रतीक है।

गोशब्द पर विचार करते समय एक शब्द के एक अर्थ और समान वर्ण वाले अनेक शब्दों के शिलष्ट रूप का उल्लेख किया जा चुका है। जब कोई शब्द एक से अधिक अर्थों को ध्वनित करता है तो उनका आधार उस शब्द में आश्लिष्ट विभिन्न शब्द होते हैं। उदाहरणार्थ आदित्य, पृथ्वी, पशु आदि के वाचक भिन्न-भिन्न शब्द ध्वनि साम्य के कारण एक 'गो' शब्द में खो गए हैं और इस प्रकार यह अकेला शब्द उन सब भावों का प्रतीक बन गया है। ऐसे अनेक अर्थों में से 'एक सामान्य अर्थ को निरुक्त मानकर निरुक्तिकर्त्ता प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्द का निर्वचन कर देता है।'[35] नैरुक्त अर्थसमग्रता पर दृष्टि रखते हैं। अतः उस एक निर्वचन द्वारा ही उस शब्द में आश्लिष्ट विविध शब्दों के अर्थों की व्यंजना हो जाती है। यथा—गो शब्द की √गम् धातु[36] से विविधगतियों और गतिसम्पन्न पदार्थों की उपपत्ति हो जाती है। 'निरुक्त मे निर्वचन का आधार शब्द का अर्थ माना गया है।[57] कभी एक निरुक्ति से अन्य अर्थों की व्यंजना न हो पाने पर अन्य अर्थों की दृष्टि से अन्य निर्वचन किए जाते हैं। जैसे इन्द्र शब्द में आश्लिष्ट अनेक शब्दों का यास्क ने पृथक् पृथक् निर्वचन किया है।[38]

वर्णसाम्य के आधार पर ही अनेक शब्द श्लिष्ट रूप ग्रहण करते हैं। अतः शब्द प्रतीक का आधार वर्णसाम्य है। उनके अर्थ वैभिन्न्य का पता निर्वचनों से चलता है।

प्रतीक प्रयोग की दो शैलियां

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—1. मनोविकारों को जगाने वाले तथा 2. विचारों को जगाने वाले।[39] प्रतीक बौद्धिक चिन्तन और अनुभूतियों को समान रूप से मूर्त आधार प्रदान करते हैं अतः प्रतीकों के उपर्युक्त दो प्रकार मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। भाव और विचार दोनों जगाना प्रतीक का कार्य है। अतः इन्हें 'प्रकार' के स्थान पर 'व्यापार' कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। भावप्रकाशन व्यापार में प्रतीकों की दो शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं—1. समता पर आधारित प्रतीक शैली तथा 2. विरोध पर आधारित प्रतीक शैली।

---

35 पं० युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक छन्दो मीमांसा—पृ० 20

36 नि० 2।2।1

37 वैदिक छन्दो मीमांसा--पृ० 20। यास्क का सिद्धान्त है 'अर्थनित्यः परीक्षेत'।

38 नि० 10।1।8

39 चिन्तामणि—द्वितीय भाग पृ० 119

शरीर और चादर में साम्य खोज कर विशिष्ट प्रतीक शैली में कबीरदास ने इस पद में शरीर का वर्णन किया है—

झीनी झीनी रस बीनी रे चदरिया।

आठ कमल दस चरखा डोले, पांच तत्त गुण तीनि चदरिया।

साईं को सियत मास दस लागै, ठोंक ठोंक कर बीनी रे चदरिया।

भगवद् गीता में भी शरीर और वस्त्र में साम्य स्थापित किया गया है।[40]

विरोध पर आधारित प्रतीक शैली का प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

अवधू कामधेनु गहि बांधी रे।

भांडा भाजन भरे सबहिन का कछू न सूझै आंधी रे।

जो व्यावे तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।[41]

इस पद में ऐसी कामधेनु का वर्णन है जो व्याने पर दूध नहीं देती, केवल सगर्भा होने पर ही दूध देती है। ऐसी विरोधी बातों के कारण ही इस शैली को 'उलटी' या 'उलटवां सी' कहा जाता है।

ऐसी प्रतीक शैली वेद में भी मिलती है।

ऋग्वेद में प्रतीक-योजना

ऋग्वेद में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर रूप में देखा जाता है। निम्न मन्त्रों में वृक्ष और सुपर्ण पक्षियों को प्रतीक बना कर प्रकृति, जीव और परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।[42]

तथा—

यस्मिन्वृक्षे मध्वद: सुपर्णा निविशन्ते सेवते चाधिविश्वे।

तस्येदाहु: पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्य: पितरं न वेद।।[43]

इन मन्त्रों में समासोक्ति अलंकार है। यहां 'वृक्षासीन सुपर्णों' के अप्रस्तुत वर्णन से अनुक्त प्रस्तुत (जीव-परमात्म-सम्बन्ध) का बोध होता है। संक्षिप्त कथन होने से ही यह समासोक्ति अलंकार है।

एक मन्त्र में 12 अरों, 360 शंकुओं व तीन नाभियों वाले चक्र का वर्णन मिलता है जो 12 महीने, 360 दिन और 3 ऋतुओं वाले संवत्सर का प्रतीक है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिन्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिता: षष्टिर्न चलाचलास:।[44]

एक अन्य मन्त्र में सुखकारी, अक्षय, सुदृढ़, सुन्दर और अविनाशी दिव्य नौका का वर्णन है जो प्रतीक ज्ञात होती है—

---

40 भगी-2।22

41 कबीरदास-पदावली पद सं० 152 42 ऋग्वेद 1।164।20

43 ऋग्वेद 1।164।22 44 ऋग्वेद 1।164।48

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीनावम् स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।।[45]

तत्त्व-द्रष्टा ऋषि जब सृष्टि में व्याप्त ब्रह्मसत्ता का अनुभव कर लेते हैं तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्हें कोई साधन दिखाई नहीं देता । 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'[55] आदि वाक्यों द्वारा की गई ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासा का अन्त 'कः' इस व्यापक प्रश्न में ही होता है और उसका भावुक मन प्रश्न को प्रजापति (संप्रश्न प्रजापति) समझ लेता है । उस अज्ञेय तत्त्व के विषय में जिज्ञासा शान्त होने का उपाय ही क्या है ?

ब्रह्म के विषय में तो जिज्ञासा का अन्त संप्रश्न में हो गया; सृष्टि प्रक्रिया के विषय में ऐसी स्थिति कहां तक रहती ? अतः सृष्टि के विषय में जिज्ञासा प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है—

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसापृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।[56]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋग्वेद की इस प्रतीकात्मक जिज्ञासा का उत्तर ब्रह्म को ही वन, वृक्षादि बतला कर दिया गया है ।[57]

उपर्युक्त प्रसंगों में प्रतीक का आधार प्रस्तुत व अप्रस्तुत का साम्य है । 'उलटी' या उलटवाँ सी' जैसे प्रयोग भी ऋग्वेद में देखने को मिलते हैं यथा—

इदं वपुर्निर्वचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः ।[58]

इस मंत्र में 'बहती हुई नदी और स्थिर पानी' इस विरोधाभास युक्त उक्ति द्वारा आदित्यमण्डल, अन्तरिक्ष और अहोरात्रि का प्रतीकात्मक वर्णन है ।

उपनिषदों का ऊर्ध्वमूल और अधः शाखा सम्पन्न सनातन अश्वत्थ का वर्णन[59] भी लोक-विरुद्ध बात का उल्लेख करने से 'उलटी' का उदाहरण माना जा सकता है । सृष्टि-यज्ञ के लिए 'अश्वत्थ' शब्द[60] का प्रयोग ऋग्वेद में भी मिलता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है ।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ऋग्वेद के ऐसे स्थलों पर प्रतीकात्मक अर्थ गिरिशिखरस्खलित हिमराशि (avalanche) के समान अवतरित हो

---

45 ऋग्वेद 10।63।10
55 ऋग्वेद 1।121।1-9
56 ऋग्वेद 10।81।2
57 तैत्तिरीय ब्राह्मण
58 ऋग्वेद 5।47।5
59 कठोपनिषद् 2।3।1 गीता
60 ऋग्वेद 1।135।8

जाते हैं।[61] उनके अनुसार अध्यात्म विद्या की भाषा प्रतीकात्मक होती है। वेद को समझने के लिए प्रतीकों की भाषा ही विचारों की अर्गला खोलने में सक्षम है।[62] वैदिक ज्ञान की गुह्यता का उल्लेख हो चुका है। रहस्यवादियों की भाषा प्रतीकात्मक होती है।[63] 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' कह कर सृष्टि में एकता खोजने वाला ऋषि भी रहस्यवादी है।[64] अतः वह अपने दिव्यदर्शन को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेता है। महर्षि अरविन्द ने भी ऋग्वेद में प्रतीकों के प्रयोग को स्वीकार किया है।[65]

ऋग्वेद में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग और उसकी व्यंजना

ऋग्वेद में अनेक बार प्रतीक शब्द प्रयुक्त हुआ है; सायणादि भाष्यकारों ने ऐसे स्थलों पर प्रतीक का अर्थ मुख किया है। प्रतीक के अर्थ में मुख का प्रयोग गौतम बुद्ध ने किया है।

अग्गिहुत्त मुखा यञ्ञा सावित्ती छन्दसो मुखम्।

(अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञ का प्रतीक है और सावित्री मन्त्र वेदों का प्रतीकहै।)

ऋग्वेद में उषा को त्वेषप्रतीका (दीप्तावयवा-सायण)[66] और अग्नि को शुचि-प्रतीक,[67] सुप्रतीक,[68] चारुप्रतीक,[69] पुरुधप्रतीक[70] कहा गया है। एक मन्त्र के अनुसार कवचधारी योद्धा जीमूत का प्रतीक ज्ञात होता है।[71] अग्नि को अनेक बार घृतप्रतीक[72] भी कहा गया है।

ऋग्वेद में यह स्पष्ट कहा गया है कि हविर्यज्ञों में घृताहुति अग्नि के प्रतीक में दी जाती है।[73] सूर्य को मित्र और वरुण का सुन्दर प्रतीक (सुप्रतीक)[74] कहा गया है इसी तरह एक मन्त्र में यज्ञवेदी को 'घृतप्रतीक'[75] विशेषण दिया गया है।

---

61 Skarks from the Vedic fire P. iii (Preface.)
62 Skarks from the Vedic fire P. 123
63 Mysiticism in the Rigveda—T. G. Mainkar. P. 5
64 उपर्युक्त पृ० 3
65 Hymns to the Mystic fire—forward Page xvi
66 ऋ० 1।167।5
67 " 1।143।6
68 ऋ० 7।10।3
69 " 2।8।2
70 " 3।7।3
71 " 6।75।1
72 " 1।143।7, 3।1।18, 5।11।1 मधुप्रतीक ऋ० 10।108।4
73 यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन—ऋ० 7।8।1
अन्यत्र-स्रुचा प्रतीकमज्यते—ऋ० 10।118।3 तुलनीय 10।108।8
74 ऋग्वेद 7।61।1
75 ऋग्वेद 10।114।3

वैदिक प्रतीक शैली पर दो दृष्टिकोण

वेदों की प्रतीक शैली पर दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं। प्रथम दृष्टिकोण श्री अरविन्द का है। उनके अनुसार "सत्य ज्ञान की गुप्ति व पवित्रता बनाए रखने की दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने अलंकारों से आवृत्त ऐसी शैली को जन्म दिया जिसका अपूर्ण, बाह्य रूप सर्वसाधारण के लिए था और पूर्ण आध्यात्मिक अर्थ दीक्षित अधिकारियों के लिए। अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा यह सर्वथा सम्भव था। वैदिक सूक्त इसी सिद्धान्त को विचार में रखकर लिखे गए थे।"[76]

द्वितीय दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द का है जिन्होंने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' उक्ति को प्रामाणिक मानकर वेद को मानव मात्र के लिए आचार-संहिता घोषित किया और वेदाध्ययन को सभी का पुण्य-कर्तव्य बतलाया। उन्होंने माना है कि वेदों का ज्ञान देने वाला स्वयं परमात्मा है, आदि ऋषियों के हृदय में उसने ही वैदिक ज्ञान का प्रकाशन किया है।[77] इस मत के अनुसार ईश्वर ने वैदिक ज्ञान का प्रकाश सभी के लिए किया है उसे गुप्त नहीं रक्खा। यजुर्वेद के इस मन्त्र से भी, जिसमें मानवमात्र के लिए कल्याणी वेदवाणी का प्रकाशन माना है, यह बात समर्थित होती है कि वैदिकज्ञान गुप्त नहीं है—

यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।[77]

भारतीय शिक्षण-परम्परा वेदाध्ययन के अतिरिक्त अन्यत्र श्रम करने को शूद्रत्व का साधक मानती है और वेदाध्ययन को द्विजत्व का साधक व परम तप।[78] वेद अपौरुषेय माने गए हैं इसलिए भी प्रयत्नपूर्वक अर्थों को छुपाने का प्रश्न ही नहीं होता। ऋषिदृष्ट ज्ञान पर मानव मात्र का समान अधिकार है।[79] ये दोनों मत परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं।

दोनों मतों का समन्वय

वैदिक ज्ञान मानव की सम्पत्ति है अवश्य; परन्तु उसका साधिकार उपयोग तो सज्ञान पुरुष ही कर सकता है। गुरु से दीक्षा लाभ करके वेदाध्ययन करने की परम्परा से स्वामी दयानन्द को कोई विरोध नहीं है। इससे तो वेद के परम्परागत रहस्यात्मक अर्थ सुरक्षित रहते आये हैं। श्री अरविन्द ने योग-साधना द्वारा वेदार्थों को अधिगम किया था। अतः दोनों ही वैदिक-ज्ञान की गम्भीरता से परिचित थे। श्री अरविन्द ने तो स्वयं स्वीकार किया है कि 'दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमें पकड़ा दिया है।'[80]

---

76 श्री अरविन्द—वेद रहस्य, प्रथम भाग पृ० 8
77 यजुर्वेद वा० सं० 26।2; सत्यार्थप्रकाश समुल्लास 1
78 मनुस्मृति 2।165, 166, 168
79 डा० राजबली पाण्डेय—'वैदिक सन्देश' नामक निबन्ध वेदवाणी वर्ष 15 अंक 1

80 वेद रहस्य-पू० भा० प्रथम भाग पृ० 43

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों के भौतिक व आध्यात्मिक अर्थों को समान महत्त्व का स्वीकार किया है। श्री अरविन्द ने भी मन्त्रों के द्विविध-अर्थको स्वीकार किया है; परन्तु दोनों को पृथक् रखने के पक्ष में है यद्यपि उनमें घनिष्ठता कम नहीं है। उनका कहना है कि—"ऋषियों ने अपनी विचार सामग्री को एक समानान्तर तरीके से व्यवस्थित किया था, जिसके द्वारा एक ही देवता एक साथ विराट् प्रकृति की आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों शक्तियों के रूप में प्रकट हो जाते थे। और उन्होंने एक ऐसी द्वयर्थक प्रणाली से अभिव्यक्ति की कि जिससे एक ही भाषा दोनों रूपों में उनकी पूजा के प्रयोजन को सिद्ध कर देती थी; परन्तु भौतिक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अपेक्षया अधिक व्यापक घनिष्ठता के साथ ग्रथित तथा अधिक संगत है। वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्मसाधना के लिए अभिप्रेत हैं। इसलिए यही अर्थ है जिसे कि प्रथम हमें पुनरुज्जीवित करना है।[81]

स्वामी दयानन्द दूसरा अर्थ शब्दों की यौगिकता से सिद्ध मानते हैं जबकि श्री अरविन्द भौतिक या बाह्य अर्थ को प्रतीकार्थ और आध्यात्मिक अर्थ को वास्तविक मानते हैं: परन्तु वे इसे रूपक मात्र भी नहीं समझते[82] इस प्रकार दोनों ही विद्वान् शब्दों की सामर्थ्य के विषय में एक मत थे और दो या अधिक अर्थ निकालने में उनका योग स्वीकार करते हैं। शब्द की यह सामर्थ्य वेद मन्त्रों का अर्थ अधिगम कराने में सहायक ही होती है। इस सामर्थ्य से अपरिचित रह जाने पर वैदिक-ज्ञान प्रच्छन्नवत् आभासित होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रतीकात्मकता के विषय में श्री अरविन्द व स्वामी दयानन्द में विरोध नहीं है, केवल उसकी व्याख्यान प्रणाली में भेद है।

मन्त्रार्थ की विविध परम्पराएँ

मन्त्रों की अधिलोक (Description of the world—सृष्टिविद्या), अधि-ज्योतिष् (Astronomical process), अधिविद्या (Educational), अधिप्रजा (Creation) और अध्यात्म (Spiritual) अर्थ परम्पराओं का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।[83] निरुक्त में यास्क ने भी वेदार्थानुशीलन के अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान-समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक और याज्ञिक पक्षों का नाम गिनाया है।[84] इन परम्पराओं का ऐतिहासिक विकास खोजना पृथक् अनुसन्धान का विषय है। यहां इनका उल्लेख वैदिक शब्द-प्रतीकों की सामर्थ्य की सूचना देने के लिए किया गया है क्योंकि मंत्रों के विभिन्न अर्थ शब्दों की प्रतीकात्मकता के कारण ही निकलना सम्भव है।

---

81 वेद रहस्य प्र० भा० पृ० 43
82 वेद रहस्य—तृतीय खण्ड पृ० 41
83 तैत्तिरीय आरण्यक 10।15
84 वैदिक साहित्य और संस्कृति—पं० बलदेव उपाध्याय-पृ० 320

इन सभी पक्षों का समावेश आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—इन तीन दृष्टिकोणों में हो जाता है। इनमें आध्यात्मिक ज्ञान व्यक्तिगत-साधना व चिन्तन का विषय होने से तथा प्रयोग-विज्ञान के सुदृढ़ धरातल पर आधारित होने से प्रधानता रखता है, किन्तु आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टिकोण भी नितान्त-गौण नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से भौतिक दृष्टिकोण प्रधान है और पारमार्थिक दृष्टि से अध्यात्म चिन्तन की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त आधिदैविक दृष्टिकोण, जिसके बिना उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण मिलकर भी पूर्णतया सृष्टि-विज्ञान की व्याख्या नहीं कर पाते, भी उतना ही आवश्यक है।

पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार आदि-प्रजा में आधिदैविक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जानने व मनन करने की शक्ति आज की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है।[85] इसीलिए प्राचीन भारत में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विज्ञान पर्याप्त उन्नति पर था।[86]

इन अर्थ परम्पराओं के विषय के विषय में सर जान वुडरफ की सम्मति अत्यन्त महत्त्व रखती है—

ये वैदिक या शास्त्रीय अर्थ परम्परा के मूल सिद्धान्त हैं। विषय सामग्री की तीन दृष्टिकोणों से व्याख्या की जाती है, प्रत्येक विषय सामान्यतया और विशेषतया व्याख्यात होता है और इस प्रकार अपकर्ष और उत्कर्ष की एक शृंखला बँध जाती है।……अगर इन सूत्रों को भुला दिया जाय तो हमारे वैदिक अध्ययन में हम शीघ्र एक ऐसे अरण्य में खो जाते हैं (जैसा कि कई प्राच्यविदों के विषय में कहा जा सकता है), जहां से निकलने का कोई मार्ग दिखलाई नहीं देता और स्वयं को निराधार परिकल्पनाओं, कठिन गुत्थियों व काल्पनिक-विरोधों के गर्त में निराशापूर्ण ढंग से गिर कर भीषण विवशता में पाते हैं।[87]

ऋग्वेद की त्रिविध-अर्थपरम्परा का आधार शब्दों की प्रतीकात्मकता ही हो सकता है।

गो, शब्द प्रतीक

शब्द-प्रतीक की सामर्थ्य उस समय बढ़ जाती है, जब वह (मनन द्वारा सामर्थ्य प्राप्त) मंत्र का अंग बन जाता है। 'मन्त्र चैतन्य' के जाग्रत होने पर साधक उसका प्रयोग आध्यात्मिक साधना में कर सकता है।[88] ऋग्वेद में शब्द मन्त्रों (छन्दों)

---

85 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ० 25

86 उपर्युक्त पृ० 26

87 Sir John Woodroffe—The world as power : power as Continuity P. 74-75

88 आर्थर एवलोन—गारलैंड ऑफ लेटर्स—पृ० 211

में प्रयुक्त हुए हैं, जो देवताओं के निवास स्थान (गृह) माने गये हैं।[89] गो तथा देवताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होने से ही छन्दों को गो-स्थान भी कहा गया प्रतीत होता है।[90]

डा० फतहसिंह के अनुसार छन्द उस वाक् विराज् का नाम है, जो सांख्य की प्रकृति या वेदान्त की माया के समकक्ष है। सारा विश्व इसी से विकसित होता है। एक मूल छन्द से सारे देव, दिशाएँ, पशु, अश्व, पृथिवी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, वर्ष आदि विश्व के नाना छन्द उत्पन्न हुए हैं।[91] इन छन्दों में व्याप्त होकर छन्दोमा रहते हैं[92] जो विविध कर्मों से विश्व-यज्ञ को प्रवर्तित करने वाले देवों से अभिन्न ज्ञात होते हैं।[93] देवता कर्म द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया में अपना योग दे रहे हैं और आत्मा या प्राण के वाचक हैं।[94] गो गति या शक्ति के रूप में उससे संयुक्त बनी रहती है। जितने देवता हैं, उतने ही इस गति या शक्ति के रूप हैं। गो शब्द गति के इन सभी रूपों को व्यंजित करता है। देवताओं के कर्मसामर्थ्य से प्रवर्तित विश्व-यज्ञ की प्रतिष्ठा गो शब्द से व्यंजित गति ही है।

सृष्टि गति और स्थिति पर आधारित है। ये दोनों सापेक्ष भाव है और उनकी कल्पना सापेक्ष तारतम्य पर आश्रित है।[95] वस्तुतः स्थिति ही गतिभाव को प्राप्त करती है।[96] गति का दूसरा नाम जगत् है। गति से ही इस जगत् व तद्गत पदार्थों की दिक्काल में अवस्थिति होती है। गति काल तत्त्व है और स्थिति दिक् तत्त्व।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार गति विद्युत्-रूप-शक्ति से आती है। तांत्रिकों ने भी गति को शक्ति ही माना है और शिव से शक्ति का अभिन्न सम्बन्ध बतलाया है। डॉ० गोपीनाथ कविराज के अनुसार शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, क्रियाहीन, ज्ञानहीन और स्पन्दन में असमर्थ शवमात्र है और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्मप्रकाश में भी असमर्थ है। अतः दोनों अभिन्न हैं। दोनों को केवल जागतिक दृष्टिकोण से ही भिन्न—शिवांश को निष्क्रिय और साक्षी तथा शक्ति को सर्वदा पंचकृत्यकारी माना गया है।[97] निःशब्द, निस्पन्द चित्—शिव को यहाँ स्थिति

---

89 शतपथ 9।2।3।44

90 छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः—तै० ब्रा० 3।2।9।3

91 वैदिकदर्शन पृ० 182-83

92 वही पृ० 184

93 वही पृ० 185-86

94 वही पृ० 187

95 डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—वेदविद्या-पृ० 3

96 वही पृ० 3

97 तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—पृ० 3-4

भाव का वाचक माना जा सकता है। वह शक्ति रूप होकर अपने में से ही सृष्टि का विस्तार करता है। अतः स्थिति गति का ही एक रूप है। सृजन के लिए स्थिति का गति रूप होना आवश्यक है। स्थिति रूप शिव या शक्तिमान् जब जड़तत्त्व को स्पन्दित करता है अर्थात् उसे गतियुक्त करता है, तब शक्ति और शक्तिमान् का नृत्य प्रारम्भ हो जाता है जिसे सर्गनृत्य (Cosmic dance)[98] कहते हैं। इसका संहारक रूप प्रलय का कारण है। सर्गनृत्य को दिव्यदम्पती का मैथुन भी कहा जाता है। शक्ति सक्रिय है, शिव निष्क्रिय। अतः यह विपरीत मैथुन चलता है।[99] इस दिव्य-दम्पती के प्रेम से सृष्टि-क्रम का प्रारम्भ होता है इसलिए सृष्टि आनन्द स्वरूपा है।[100] इस आनन्द में कारण-सलिल में देवता नृत्य करने लगते हैं, जिनसे परमाणु संचालित होते हैं।[101] डॉ फतहसिंह ने दिव्यदम्पती को विराज् के दो वत्स— बृहस्पति (ब्रह्म) और बृहती (माया) अथवा प्राण और वाक् माना है।[102] इस प्रकार के शक्तिक्षोभन को उन्होंने तप या अर्जन कहा है।[103] प्रलय के पश्चात् अर्चन के द्वारा आपः या अर्क उत्पन्न होता है। अर्क से पृथिवी और पृथिवी से अग्नि नाम का तेजस् उत्पन्न होता है, जो आदित्य, वायु और प्राण में अपने को व्याकृत कर लेता है।[104] ऋग्वेद में अर्क से गौओं की उत्पत्ति भी कही गई है।[105] अतः गो का सम्बन्ध सृजन की उपर्युक्त प्रक्रिया से व्यंजित होता है।

सर्गक्रम में जहाँ भी गति है वह गो शब्द द्वारा व्यक्त हुई है। प्रकृति (विराज्, वशा आदि नामों से व्याख्यात) गो है[106] क्योंकि गति का प्रवर्तन उसी मे होता है, प्राण गो है[107] क्योंकि गति और आगति (विकास और समचन) का उसके साथ सम्बन्ध है; वाक् गो है[108] क्योंकि मन की गति का अधिष्ठान गो है; इन्द्रियाँ गो हैं क्योंकि वे प्राणों की गति से सम्बद्ध होती हैं;[109] अन्न गो है[110] क्योंकि शारीरिक

---

98 आर्थर एवलोन—गारलैंड ऑफ लेटर्स पृ० 108

99 वही पृ० 110

100 वही पृ० 111

101 ऋग्वेद 10।72।6

102 वैदिक दर्शन पृ० 209

103 वही पृ० 110

104 वही पृ० 111-12

105 ऋवे-3।31।11 शतपथ 10।4।1।23; 10।6।2·7 में प्राण को अर्क कहा गया है।

106 चतुर्मुखी जगद्योनिः प्रकृतिर्गौः प्रकीर्तिता। वायुपुराण 23।55

107 प्राणो वै गौः प्राण ऋषभः। ऐतरेय आरण्यक—3।1।6, 4।1।17 सप्तधेनुओं का सम्बन्ध सप्तशीर्षण्य प्राणों से ज्ञात होता है।

108 वाग्वै धेनुः—शतपथ 14।8।9।1, तां० म० ब्रा० 18।9।21 गो पथ पू० 2।21

109 योग चूड़ामणि उपनिषद् 15, 16, मैत्रायणी उपनिषद् 9

110 अन्नं हि गौः—जै० उ० 3।3।13, शतपथ 4।3।4।25 अन्नं वै गौः— तै० ब्रा० 3।9।8।3

गति अन्न से ही प्रवर्तित होती है; रश्मियाँ गो हैं,[111] क्योंकि वे प्रकाश के गतिमान् रूप की अधिष्ठान हैं तथा गति से सम्बद्ध देवता भी गो से अभिन्न[112] या गो संयुक्त[113] कहे गये हैं।

गो शब्द उपर्युक्त गति के विविध रूपों को व्यक्त करता है और इस प्रकार ऋग्वेद मे वह शब्द-प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। एक मंत्र में सुभगा, विस्तीर्णा और प्रथमा उषा को वहन करने वाली दीप्तिमती रोहतवर्णा गौओं का उल्लेख मिलता है—

वहन्ति सीमरुणासो रुशन्तो गावः सुभगामुर्विया प्रथानाम्।[114]

यहाँ रोहितवर्णा गौएँ उषा की प्रातःकालीन रश्मियाँ हो सकती हैं। अतः गो शब्द रश्मि का वाचक है। मेक्डानल के अनुसार गौओं को उषा की रश्मियों से उपमित किया गया है।[115] सूर्य जिन गौओं में गति करते हैं[116] वे भी रश्मियाँ ही हो सकती हैं। कुछ मन्त्रों में गौएँ साधारण रश्मियों के साथ ज्ञानरश्मियों की भी व्यंजक हैं इसीलिए विद्वानों ने गो का अर्थ प्रज्ञारश्मि किया है।[117] देवता अद्रिभेदन करके तमोभूत रात्रि से प्रकाशरूप गौएँ प्राप्त करते हैं।[118] अद्रिभेदन ऋत से दिखाया गया है[119] अथवा दिव्य वचनों से ही गोव्रज का उद्घाटन होता है।[120] ये प्रसंग गो को रश्मि के साथ ज्ञानरश्मि से भी सम्बद्ध कर देते हैं। रश्मि शब्द प्राण और देवता का समानार्थक है।[121]

ऋग्वेद में गो शब्द पुल्लिग और स्त्रीलिंग—दोनों में प्रयुक्त हुआ है। अतः इस शब्द से मातृत्व, धारण सामर्थ्य आदि के साथ सेचन सामर्थ्य का भाव भी व्यंजित होता है।

---

111 निरुक्त 2।2।2, जै० ब्रा० 2।145

112 यथा ऋग्वेद 6।28।5

113 गोमती उषा, गोमत् इन्द्र आदि देवताओं के विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, देखो 'गो व अन्य देवता' अनुच्छेद।

114 ऋवे० 6।64।3 उषा का अरुणी गौओं से सम्बन्ध ऋ० 5।80।3 तथा तथा 10।172।1 में भी द्रष्टव्य।

115 वैदिक रीडर-पृ० 36 व० पृ0 43

116 ऋवे० 5।45।9

117 ऋवे० 1।5।5, 1।8।8, 1।10।7, 1।11।3 आदि मन्त्रों पर कपालिशास्त्री का सिद्धांजन भाष्य द्रष्टव्य।

118 ऋवे० 10।68।11

119 ऋवे० 4।3।11

120 ऋ० 4 1।15

121 प्राणाः रश्मयः-तै० ब्रा० 3।2।5।2 प्राणा वै विश्वेदेवाः शतपथे—14।2।2।37: एते वै रश्मयो विश्वेदेवाः शतपथ-12।2।6।6

इस प्रकार ऋग्वेद में गो शब्द-प्रतीक के रूप में अनेक भावों को मूर्त आधार प्रदान करता है। व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति में जहां भी गति है वह 'गो' शब्द-प्रतीक द्वारा संकेतित की गई है और इसीलिए यह शब्द-प्रतीक एक अद्वितीय तत्त्व का व्यंजक बन गया है।

गो प्रकाश का प्रतीक

जैसा कि कहा जा चुका है, गो रश्मि का वाचक है। रश्मि प्रकाश की धारा का नाम है। रश्मि की गति वस्तुत: प्रकाश की गति है जो मन की गति को छोड़ कर तीव्रतम गतिवान् माना जा सकता है।

ऋग्वेद में अग्नि को वृषभ व धेनु कहा गया है।[122] अग्नि प्रकाश रूप है अत: गो प्रकाश रूप भी हो सकती है। सूर्य की रश्मियों से उत्पन्न[123] गौएँ तथा उष के रथ को खींचने वाली गौएँ[124] श्री अरविन्द के अनुसार ज्योति की प्रतीक हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकतीं।[125] उनके अनुसार इन्द्र ज्योतिस्वरूप गौएँ ही देता है।[126] ज्योति से इन्द्र का सम्बन्ध होने के कारण ही उषा को इन्द्रवती,[127] गो-निर्माता ऋभुवों को 'इन्द्रवन्त:'[128] तथा अग्नि को 'इन्द्रवत्'[129] कहा गया है।

उषा संसार के लिए ज्योति रचती है और अंधकार को नष्ट करने के लिए गोव्रज का उद्घाटन करती है।[130] गोवाची अदिति को भी ज्योति प्रदान करने वाली कहा गया है।[131] अत: गो का सम्बन्ध प्रकाश से प्रकट हो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार गो का अर्थ प्रकाश ही होता है, उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि गौ से वृत्र को मारा गया, तो वहाँ गाय पशु का तो प्रश्न ही नहीं उठता।[132]

गो का प्रकाशक व आवरक रूप

ऋग्वेद में एक स्थान पर गो को आवरक कहा गया है।[133] ताँडच महा-

---

122 ऋग्वेद 10.5।6
123 ऋग्वेद 7।36।1
124 ऋवे० 1.124।11
125 वेदरहस्य प्रथम खण्ड—पृ० 161
126 वही पृ० 163
127 यवे० वा० सं० 3।11
128 ऋवे० 4।33।8, 36।4
129 ऋवे० 10।35।1
130 ऋवे० 1।92।4
131 ऋवे० 10।36।3
132 वेदरहस्य -प्रथम भाग (पृ० 165)
133 ऋवे० 6।47।27
यहाँ इन्द्र के वज्र को गौओं द्वारा (सायण--चर्मभि:) आवृत कहा गया है। मंत्र पर विचार करने से प्रतीत होता है कि 'वज्रम्' पद 'अपामोज्मानम् का समानाधिकरण है। कौषीतकि ब्राह्मण (3।2) के अनुसार वज्र का प्रथम रूप 'आप:' है। अत: मंत्रांश का अर्थ होगा 'इन्द्र का ओजयुक्त आपोमय रूप (—वज्र) गौओं--रश्मियों से आवृत हुए उस रमणीय रूप (रथ) की हवि से परिचर्या करो।' इन्द्र का आपोमय रूप उसकी सृजन प्रवृत्ति का सूचक होता है।

ब्राह्मण में प्रयुक्त √गोवय् धातु का अर्थ भी आवरण करना ही प्रतीत होता है।[134] अतः ऐसा ज्ञात होता है कि वृत्र की तरह गो भी आवरक है; परन्तु गो का प्रकाश से सम्बन्ध ऊपर कहा गया है अतः वृत्र के अन्धकारमय आवरक रूप से भिन्न गो का आवरण प्रकाश का होगा और इस रूप में उसे आवरक के स्थान पर प्रकाशक कहना अधिक उचित है। इस दृष्टि से गोत्र 'गो-प्रकाश से बचाने वाला' अर्थात् अन्धकार का वाचक हो जाता है। इसीलिए निघण्टुकार ने गोत्र को वृत्र का पर्याय माना है।[135]

प्रकाश के पालक

ऋग्वेद में इन्द्रादि देवताओं को गोपा कहा गया है[136] उनका यह रूप उनको प्रकाश का पालक - प्रकाशस्वरूप सिद्ध करता है। सोम को तो स्पष्ट रूप से सुरश्मि कह कर प्रकाश से सम्बद्ध बतलाया गया है।[137] केवल रुद्र ही ऐसा है जिसका शास्त्र गोहा[138] उल्लिखित है। अतः अघा (—मघा) नक्षत्र में होने वाले गोहनन[139] से केवल रुद्र का ही सम्बन्ध हो सकता है यद्यपि ऐसा कथन मन्त्र में नहीं है। अघा (न + √ हन् का प्रयोग) शब्द से यहाँ 'न मारने योग्य' संकेतित है। अतः अघा या मघा में गौएँ (रश्मियाँ) क्षीण हो जाती हैं, मारी नहीं जाती। इस प्रकार यदि रुद्र का इस रश्मि-घात से सम्बन्ध मान भी लिया जाय तो भी वह रश्मि रूप गौओं को मारता नहीं है, अतः उनकी रक्षा ही करता है और देवताओं की तरह प्रकाशरक्षण में योग देता है। देव शब्द की व्युत्पत्ति से भी[139अ] भी यही व्यक्त होता है कि देवगण का सम्बन्ध प्रकाश से है।

प्रकाश के पुत्र

प्रकाश से देवों का सम्बन्ध जन्यजनक भाव का भी है। देवमाता अदिति को स्पष्ट रूप से ऋग्वेद में ज्योतिष्मती कहा गया है।[140] अतः आदित्य रुद्र मरुतादि देवता ज्योति के पुत्र भी माने जा सकते हैं। ऋग्वेद में मरुतों में लिए 'गोजाताः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[141] एक स्थान पर आदित्यादि अग्नि के त्रिषधस्थ रूपों

---

134 यद्वै तद्देवा असुरानेभ्यो लोकेभ्यो गोवयँस्तद्गोर्गोत्वम् (तांमब्रा० 16।2।3 (सायण का अर्थ · गुप्ताँस्तिरोहितान् कुर्वन्निति)

135 निघण्टु 1।10 वृत्र और गोत्र दोनों मेघ के नामों में गिने गए हैं।

136 द्रष्टव्य-गो तथा अन्य देवता अनुच्छेद।

137 सुरश्मि सोममिन्द्रियं यमीमहि--ऋ० 10।36।8

138 ऋवे० 7।56।17 तुलनीय 1।114।10

139 अघासु हन्यते गावः—ऋवे० 10।85।13

139अ देवो द्योतनात् निरुक्त 7।2

140 ऋग्वेद 1।136।3

141 6।50।11, 7।35।14

के लिए 'गोजा: ।[142] शब्द आया है, अन्यत्र सभी देवताओं को गोजाता:[143] कहा गया है। आदित्यादि के साथ रस और प्रकाश का सम्बन्ध माना जाता है।[144] ऐसा ज्ञात होता है 'गोजा:' विशेषण से उनको प्रकाश का पुत्र ही कहा गया है। मरुतों की माता पृश्नि, द्युलोकस्थ गौ और अदिति इन सभी का सम्बन्ध प्रकाश से है।[145]

प्रकाशरूप घृत और उसकी धाराएँ

गो का प्रकाशत्व घृत के नाम से जाना जाता है। √ घृ-क्षरण दीप्त्योः धातु से व्युत्पन्न घृत शब्द का अर्थ प्रकाश भी होता है इसीलिए यह शब्द दीप्तिमान ब्रह्म का वाचक भी बन गया है।[146]

यद्यपि प्रकाश रश्मियों के नियमित क्रम से प्रवहमान रहता है परन्तु घनीभूत होकर कभी धाराओं के रूप में भी प्रवाहित होता प्रतीत होता है। ऋग्वेद में ऐसी धाराओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[146] एक मन्त्र के अनुसार घृत की धारा में प्रकाशमान अग्नि प्रतिष्ठित हैं।[149] वे धाराएँ अग्नि की ओर पति की ओर गमन करने वाली हास्यवदना, कल्याणी योषित् के समान गमन करती हैं। यह उनका दीप्तिमान्) रूप है जिसकी कामना जातवेदा भी किया करता है।[150] इस रूप से भिन्न पणियों द्वारा गुह्यमान घृत का भी उल्लेख मिलता है।[151] इस घृत को देवों ने गो में प्राप्त किया—एक रूप को इन्द्र ने पाया, दूसरे को सूर्य ने और तीसरे को कान्तिमान् अग्नि ने पाया तथा अपने में संयुक्त करके अपनी धारण सामर्थ्य द्वारा प्रकट कर दिया। यहाँ नि: पूर्वक √ तक्ष् धातु का प्रयोग सृजन की सूचना दे रहा है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि यह प्रकाश—घृत पहले (प्रकृति की अव्यक्त—सलिल अवस्था में) अन्धकार की आवरक शक्ति द्वारा प्रच्छन्न था। तदनन्तर सृजन कार्य प्रारम्भ हुआ।

इस सृजनात्मक गति-गो-में इन्द्रादि सृजक शक्तियों ने उस प्रकाश को प्राप्त किया, अपने में धारण किया और इस धारण सामर्थ्य द्वारा सृजन कर्म में प्रवृत्त होकर प्रकट किया। सृजन की इस प्रथम प्रवृत्ति को ही मधुमान् ऊर्मि के नाम से

---

142 ऋ० 4।40।5　　143 ऋ० 10।53।5

144 नि० 2।4।1 यहाँ आदित्य की रसधारक व प्रकाशदीप्त स्वरूपों के आधार पर निर्वचन किया गया है।

145 नि० 2।4।2 में पृश्नि के निर्वचन और गो व उसके पर्यायवाचक आदित्यादि के निर्वचनों से यह बात पुष्ट होती है।

148 ऋ० 4।58।5, 7, 8, 9, 10

149 ,, 4।58।5　　150 ऋ० 4।58।8

151 ,, 4।58।4

जाना गया है जो रश्मि रूप गो का एक अंश है, अमृत सृष्टियज्ञ की नाभि है, देवताओं की जिह्वा है घृत का गुह्य नाम या पद इसी को कहते हैं।[152] घृत यज्ञ में चित्त का पर्याय है।[153]

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार गो के दुग्ध में घृतकण वृषभ के आग्नेय गुण से आते हैं।[154] ऋग्वेद में इसी कारण घृत के साथ वृषभ का उल्लेख भी हुआ है जो अपने अद्भुत रूप से मर्त्यों में प्रविष्ट है।[155] यह महावृषभ विश्व की प्रतिष्ठा रूप महाधेनु से अभिन्न ज्ञात होता है। प्रकाश की धाराएँ सृजन के प्रथम स्पन्दन उपर्युक्त ऊर्मि के उपरान्त महाधेनु से संयुक्त हो जाती हैं और प्राणियों के पोषण के लिए नित्यप्रति नदी के समान प्रवाहित होती रहती हैं।[156]

प्रकाश के व्रज

ऋग्वेद में उल्लिखित व्रजों का सम्बन्ध प्रकाश से ज्ञात होता है। ऐसे व्रजों का वहाँ विशेष नाम 'स्वसर' प्रयुक्त हुआ है। कई मन्त्रों में 'स्वसर में' में वत्स की ओर गमन करने वाली गो का उल्लेख मिलता है।[157] द्युलोक का व्रज 'स्वसर' है इसी तरह अन्तरिक्ष में ज्योति रूप आप:[158] निवास करती हैं। आप: और गो में अभेद होने से अन्तरिक्ष भी प्रकाश का व्रज ही है, परन्तु व्रज के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। व्रज वृत्र की तरह ही आवरक ज्ञात होता है। ये पर्वतों से घिरे रहते हैं और वृत्रादि अन्धकार की आवरक शक्तियाँ इन्हें प्रकट नहीं होने देती। उषा, इन्द्रादि देवगण व्रजों को मुक्त करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकाश का पुंजीभूत अन्धकाराच्छन्न रूप व्रज है और प्रकट रूप स्वसर। प्रथम का सम्बन्ध सृष्टि की अव्यक्तावस्था है और दूसरे का व्यक्त अवस्था से है।

प्रकाश की जननी

घृत रूप प्रकाश की माता गो है। वह स्वयं प्रकाश–स्वरूपा है और सृजन-शक्ति की प्रतीक ज्ञात होती है। उसके इस रूप की जननी उषा कही गई है।[159] सृजन के प्रारंभिक प्रवर्तन को प्रकाश से अभिन्न मान कर उसकी जननी के रूप में उषा की कल्पना की गई ज्ञात होती है। अन्तरिक्ष में देवों के कर्मों का विस्तार करने

---

152 ऋ० 4।58।1 जिह्वा–√जिवि प्रीणने से व्युत्पन्न
153 चित्तमाज्यमासीत्—ऐ ब्रा 24।6
154 वेदविभास—भूमिका पृ० 19
155 ऋ० 4।58।3 यह वृषभ अग्निरूप है जिसका तेज घृत है—एतद्वा अग्ने प्रिय-धाम यद्घृतम्। तै० ब्रा० 1।1।9।6 इसी धाम या तेज में – विश्व अवस्थित है (ऋ० 4।58।11)।
156 ऋ० 4।58।6-7
157 ऋ० 2।2।2, 2।34।8, 8।88।1
158 आपोज्योति रसोऽमृतम्।
159 ऋ० 7।77।2

वाली उषा ही है ।[160] अन्धकार के दृढ़ द्वारों को खोलकर प्रकाशरूपिणी गौओं को मुक्त करना उषा का ही काम है ।[161] उसे गौओं की नेत्री कहने का[162] कारण भी उसका यह कार्य ही ज्ञात होता है । जहाँ उषा व गो का जन्यजनक भाव अभिप्रेत नहीं है वहां केवल यह कहा गया है कि उषा की गौएँ (रश्मियां) ही तम को विनष्ट करती हैं ।[163] उषा का तमोनाशक रूप सामान्य प्रकाश का जनक मात्र नहीं है वरन् समस्त भुवनों को उत्पन्न करने वाला भी है ।[164] वह सृजन की प्रथम गति से युक्त (गोमती) है अतः सृजनोपरान्त प्राणियों के पोषण के प्रतीक घृत रूप प्रकाश को दूहने वाली भी है ।[165]

उषा की सृजन-प्रवृत्ति को 'व्युष्टि' कहा गया है । उसके इस व्युष्टि-क्रम में ही अग्नि में यज्ञ किया जाता है,[166] अश्विन्-द्वय का रथ विश्व-यज्ञ को विविध प्रकार से प्रेरित व सम्पन्न करता है,[167] द्यावापृथिवी कर्मचेतना से युक्त होती हैं,[168] सोम पवित्र पर क्षरित होते हैं जिससे हुरश्चित् नामक दस्यु तिरोहित हो जाते हैं,[169] इन्द्र लोकरक्षण में प्रवृत्त होता है,[170] अदिति व दिति का अवलोकन करने या इन्हें प्रकाशित करने के लिए मित्र और वरुण रथ पर आसीन होते हैं,[171] सोम इन्द्र को प्रसन्न करता है,[172] गोपा अग्नि जाग्रत होता है,[173] दशग्वा प्रथम यज्ञ का वहन करते हैं[174] तथा उस्रा (गो या रश्मियां) प्राणियों को प्रबुद्ध करती हैं ।[175] डा० फतहसिंह ने अथर्ववेद की साक्षी से उषा की 5 व्युष्टियों—रात्रि, ऊर्जस्वती, प्रजावती, राष्ट्री और ऋषिसम्बद्धा—का उल्लेख करते हुए उन्हें सृजन की विशेष स्थितियों के रूप में स्वीकार किया है और उनकी विराज् के 5 धामों से तुलना की है ।[176]

प्रकाश का खो जाना और प्राप्त होना

सूर्य का प्रकाश जिस प्रकार बादलों के पीछे खो जाता है, उसी तरह चंचल मनोवृत्ति के कारण हृदय का विवेक भी अज्ञानान्धकार में खो जाता है, और देवों द्वारा खोजा हुआ प्रकाश भी अन्धकार की आवरक शक्तियों—दस्युओं द्वारा घेर लिया जाता है । सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करने वाले मेघों की तरह वृत्र,

---

160 ऋ० 7।75।3
161 ,, 7।75।8
162 ऋ० 7।76।6
163 ,, 7।79।2
164 ,, 7।80।1
165 ,, 7।80।3
166 ,, 10।122।7 तुलनीय 4।1।5
167 ,, 10।41।1 तुलनीय ऋ० 7।69।5, 4।45।2
168 ,, 10।35।1
169 ,, 9।98।11
170 ,, 6।24।9
171 ,, 5।62।8
172 ,, 5।30।13
173 ,, 3।15।2
174 ,, 2।34।12
175 ,, 1।171।5
176 ,, वेद—पृ० 231-33

शम्बर, बल, पणि आदि दस्युओं को भी नैरुक्त यास्क ने मेघनामों में पढ़ा है।[177] प्रकाश ग्रावा, अद्रि, अश्मा, पर्वत, व्रज, गोत्र आदि में छुपा रहता है और छुपाने वाले शम्बर बल आदि होते हैं। डॉ० फतहसिंह ने शम्बर, वृत्रादि को कद्रू नाम की निष्क्रिय वाक् मानी है।[178] ग्रावा, अद्रि, पर्वतादि को आपः का कृष्ण रूप माना जाता है। आसुरी वाक् के प्रभाव से प्रकाश उनमें खो सा जाता है। डॉ फतहसिंह के अनुसार आसुरी शक्ति—कद्रू सौ रूपों में विभक्त होकर देवशक्तियों को जो प्रकाश रूप हैं—आवृत्त करती हैं। इन्द्र सौ या सहस्र पर्वों के वज्र से शम्बर के सौ पुरों—आसुरी शक्तियों के सौ रूपों को छिन्न-भिन्न कर देता है[179] और इसके फलस्वरूप उषा, अग्नि, सूर्य और आपः प्रकट होते हैं इनके साथ ही गौएँ प्रकट होती हैं जो श्री अरविन्द के अनुसार रश्मि—गौएँ (Ray-Cows)[180] हो सकती हैं। अद्रिभेदन के बाद प्रकाश की रश्मियों, ग्रावाओं से अभिषवन के बाद प्रकाश रूप सोम और बल की गुहा के द्वार खोलने के बाद गौओं के प्रकट होने के उल्लेख मिलते हैं।[181]

खोया हुआ प्रकाश अन्धकार की आवश्यक शक्तियों को पूर्णतया पराजित करने पर प्रकट होता है। प्रकाश व अन्धकार की शक्तियों में चलने वाले संग्रामों की ओर ऋग्वेद में बहुधा संकेत मिलता है। ऐसे संग्रामों में इन्द्र का प्रबल पराक्रम प्रकट होता है। बृहस्पति, मरुत्, अंगिरा, विष्णु आदि कहीं संग्राम में इन्द्र का सहयोग करते हैं अथवा स्वतंत्र रूप से प्रकाश की गौओं को जीतते हैं। देवताओं के गोविन्दु,[182] गोविद्,[183] गोजित्[184] आदि विशेषण उनकी प्रकाश प्राप्ति के सूचक हैं। उन्हें स्वर्जित् भी कहा गया है।[185]

प्रकाश की वर्षा

देवों का वर्षण-कर्म उनके वृषभ विशेषण से ध्वनित होता है। सहस्रशृंगों वाला वृषभ[186] आदित्य प्रतीत होता है। उसके अग्नि रूप को एक मंत्र में 'सहस्र-

---

177 निघ--1।10

178 वैद—पृ० 155

179 वैद--पृ० 155-56

180 हिमिफा—पृ० 65

181 देखो अनु० 'गो व अन्य देवता'।

182 ऋ० 9।96।19

183 ऋ० 9।55।3, 86।39 (सोम) ऋ० 1।82।4, 8।53।1, 10।103।5, 6 (इन्द्र)

184 ऋ० 2।21।1, 9।59।1

185 ऋ० 6।72।1

186 ऋ० 7।55।7 ऋ० 5।1।8 में अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ माना गया है। सूर्य भी अग्नि का रूप है अतः कोई विरोध नहीं है।

रेता = वृषभ'[187] कहा गया है जो गो के गूढ पद से अभिन्न है। सूर्य प्रकाश का वर्षण अपनी सप्त संख्यक रश्मियों से करता है। प्रकाश की वर्षक शक्तियों का प्रकाश-रूप-पय सहस्रधाराओं में प्रवाहित होता दिखाया गया है।[188] यद्यपि रस वर्षण का कार्य मध्यमस्थानीय शक्तियों का है, परन्तु रसादान करने वाले आदित्यादि को भी इस प्रकार की वर्षा से सम्बद्ध माना जा सकता है। उनकी सात रश्मियाँ इस वर्षण-कर्म की प्रवर्तिका हैं और सात धेनुओं से अभिन्न ज्ञात होती हैं।

संवत्सर की गौएँ

आदित्य अपनी सहस्र रश्मियों में से एक-एक को प्रतिदिन प्रकाश वर्षण में प्रवृत्त करता है और इस प्रकार 1000 दिनों के क्रम के साथ सहस्राक्षरा गो[189] का सम्बन्ध बैठ जाता है। सहस्र दिनों के क्रम का अधिज्योतिष पक्ष में स्पष्टीकरण डॉ शामशास्त्री ने किया है।[190] इस क्रम की अन्तिम रात्रि सहस्रतमी कही जाती है जिसके गर्भ से संवत्सर का जन्म होता है।[191] सहस्रतमी रात्रि के उपरान्त की प्रथम उषा (अष्टकाधेनु) संवत्सर की पत्नी या प्रतिमा मानी जाती है।[192] संवत्सर के विषय में कल्पना की गई है कि प्रत्येक रात्रि रूपी धेनु अगले दिन रूपी वत्स को जन्म देती है तथा सम्पूर्ण संवत्सर को जन्म देने वाली प्रथम रात्रि या उषा है। धेनु और वत्स के प्रतीक द्वारा संवत्सर, गवामयन आदि के स्वरूप का विश्लेषण ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में ऐसे प्रसंग नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में यही अभिप्रेत है कि संवत्सर को अष्टका धेनु का वत्स माना गया है और इस प्रकार प्रकाश के वर्षण को रश्मि का कर्म स्वीकार करते हुए यहां प्रतीक-शैली का प्रयोग किया गया है।

प्रकाश का भौतिक व आध्यात्मिक रूप

ऋग्वेद में गो शब्द का प्रतीकात्मकता से जिस प्रकाश को संकेतित किया गया है वह केवल भौतिक प्रकाश ही नहीं है वरन् संज्ञान, आज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असू, काम, वश आदि[193] नामों से व्याख्यात शरीरगत मनश्चेतना का प्रकाश भी है। इस प्रकाश की जननी उषा भी साधक के मन में दिव्य संकल्प के रूप में उदय होने वाली मानी जा सकती है और इस रूप में वह योगियों की मधुमती स्थिति से अभिन्न प्रतीत होती है। शरीर में प्रकाश को वहन करने वाली इन्द्रियाँ (इन्हें मैत्रायणी आरण्यक में रश्मियाँ कहा

187 ऋ० 4।5।3

188 ऋ० 10।74।4

189 ऋ० 1।164।41

190 Eclipse cult in the Vedas, Bible and Koran P. 22-40

191 जैब्रा. 2।252

192 अवे—3।10।1-3

193 ऐब्रा० 3।2 (प्रज्ञान-मन के नाम)

गया है), प्रकाश स्वरूपा मेधा और प्रकाशात्मा प्राण शक्तियाँ हैं। ये सब गो शब्द-प्रतीक से व्यंजित होते हैं आगे इनका विवेचन किया जा रहा है।

गो शब्द इन्द्रियों का प्रतीक

सायणाचार्य के अनुसार सूर्य-रोचमाना-दीप्ति शरीर में मुख्य प्राण के रूप में विद्यमान रहती है। इस एक प्राण की पाँच वृत्तियाँ होती है।[194] यह प्राण पांच रश्मियों—ज्ञानेन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है।[195] इन्द्रियों के अधिष्ठातृ प्राणों की संख्या इन्द्रियों की संख्या के आधार पर मानी गई है। कर्मेन्द्रियाँ अश्व हैं।[196] अतः पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता पांच प्राण ही गो हैं।[197]

ऋग्वेद में 'शसने न गाव:' उपमा का उल्लेख है। सायण व कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसका अर्थ किया है—'जिस प्रकार गोहत्या के स्थान पर गौएँ मारी जाती हैं।'[198] परन्तु ऋग्वेद में गो हत्या न करने का स्पष्ट उल्लेख मिलने से इस मंत्र का अर्थ इन्द्रियों के विषय में[199] करने में अधिक स्वाभाविकता आ जाती है—देवताओं को गोपा भी[200] कहा गया है। आध्यात्मिक पक्ष में वे इन्द्रियों के पालक ही हो सकते हैं।

अनुशासित इंद्रियों की प्रेरिका बुद्धि का ही नाम वशा ज्ञात होता है। एक मंत्र के अनुसार 'हृदय द्वारा निर्मित ऋचा को हवि बना कर अग्नि को समर्पित करने पर वह वशा और ऋषभ हो जाती है।[201] इस मंत्र के 'हृदातष्ट' शब्दों पर विचार करने पर ऐसी भी ध्वनि निकलती है—'हृदय द्वारा निर्मित भावनाओं को ऋचा द्वारा तुम्हें समर्पित कर रहा हूं। हे अग्निदेव, मेरे मन व इन्द्रियों की वृत्तियाँ तुम्हारी

---

194 ऋ० 10।189।2 पर सायण भाष्य।

195 मैत्रायणी-आरण्यक 2।6 मैउ 9

196 मै आ० 2।6 मैउ० 9

197 ऊपर टिप्पणी 195 के अनुसार इन्द्रियों व उनसे सम्बद्ध प्राण शक्तियाँ रश्मियाँ हैं और यास्क ने (नि० 2।2।2) सभी रश्मियों को गो कहा है।

198 ऋ० 10।89।19 (हिन्दी ऋग्वेद)

199 उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ 'जिस प्रकार इंद्रियों को विषय से छिन्न किया जाता है उसी तरह मित्रद्वेषियों को पृथ्वी पर सुला दिया जाता है' हो सकता है।

एक अन्य मंत्र (ऋ० 5।41।18) में 'गो:शसा' के शसा पद का अर्थ सायण ने स्तुत्या: और पं० जयदेव विद्यालंकार ने आलोक भाष्य में पृथ्वी व वाणी का शासन माना है। अतः √ शसु धातु का √ शंस व √ शासु के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

200 ऋ० 1।22।18, 2।9।2, 3।10।2 आदि।

201 ऋ० 6।16।47

हो जायँ।' मन में श्रेष्ठता (ऋषभत्व) और इन्द्रियों पर विजय पाने (वशात्व सिद्धि) का सरल मार्ग आत्मनिवेदन ही है। आत्मनिवेदन से इन्द्रियों की संख्या वशा होने वाली है। अतः यहाँ वशा शब्द का सोद्देश्य प्रयोग है जिसे लौकिक साहित्य में परिकरांकुर अलंकार कहा जाता है। ऋग्वेद में 'दशवशासः' (सम्भवतः 10 इन्द्रियों) का उल्लेख भी मिलता है।[202] सम्भवतः विषयों से निवृत्त इन्द्रियों को भाष्यकारों ने वन्ध्या गो समझ कर वशा का वाचक माना है। इन्द्रियों के वशा हो जाने पर उनका उस अनन्त प्रकृति पर अधिकार हो जाता है जिसे अथर्ववेद में वशा कहा गया है। गभीर जातवेदा कवि अथर्वन् के पास वरुण की गो के रह जाने[203] का भी यही कारण ज्ञात होता है। वशा-गो युक्त व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि में उदित होने वाली सप्त-उच्च अवस्थाओं को जानता है उनकी (विषयों से) दूरी को भी वह जानता है और यज्ञ के सिर (शीर्षस्थ या श्रेष्ठयज्ञ—इन्द्रियविजय) को भी जानता है।[204]

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 'इन्द्रियों की संज्ञा पंचजन है। इन पंचजनों का संवादी स्वर पंचजन की शंखध्वनि है। इन्द्रियों की उच्छृंखला उनकी विसंवादिता है। समस्त इन्द्रियों का मन के साथ सज्ञानसूत्र में बद्ध रहना ही पाँचजन्य शंख का दिव्य मधुर घोष है। वशीभूत इन्द्रियाँ ही कामधेनु गौएँ हैं, जो अमृत के समान मधुर दुग्ध देती हैं। यथाकाम दुग्ध प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है।[205]

शरीरस्थ पंचज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय-इन नौ अथवा दसों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले की संज्ञाएँ आध्यात्मिक दृष्टि से नवग्वा और दशग्वा ज्ञात होती हैं।

गोशब्द प्राण का प्रतीक

शतपथ ब्राह्मण में प्राण को गो कहा गया है।[206] प्रकृति के भौतिक रूप पर गति करने वाली दिव्यशक्तियों को देव या प्राण कहते हैं। प्राण शब्द अमृतत्व का वाचक है[207] और देवता भी अमर माने जाते हैं। अतः दोनों अभिन्न हैं देव चैतन्यशक्तियां है जिनमें प्रकृति का अंश—महत्तत्व विद्यमान रहता है, जो उनका बल (असुरत्व)

---

202 ऋ० 6।63।9 रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'दशवशासः' का अर्थ रथ किया है। रथ शरीर की संज्ञा भी है। अतः यहाँ 'इन्द्रियाँ' अर्थ लिया जा सकता है। आलोकभाष्य में जयदेव विद्यालंकार ने यहां 10 इन्द्रियों व राजनीतिपरक 'दशावरा-परिषद्' अर्थ किया है।

203 अवे 5।11

204 अवे० 10।10।2 गोको पृ० 58 भी देखें।

205 कल्पवृक्ष' पुस्तक का इसी नाम का निबन्ध देखो।

206 प्राणो हि गौः—शब्रा० 4।3।4।25

207 अमृतमु वै प्राणाः—शब्रा० 9।1।2।32

है।[208] प्रकृति ऋग्वेद में गो के रूप में वर्णित है।[209] अतः देवताओं से संयुक्त महत् गो का अंश ही ज्ञात होता है। एक मन्त्र में गो के परमपद में विज्ञातव्य अक्षर-महत् का उल्लेख मिलता है।[210]

गो का शब्दार्थ गति है और सृष्टि में गति या शक्ति के प्रवर्तक देवता—प्राणतत्त्वों के साथ उसका अभेद सम्बन्ध है। प्रत्येक देवता की गति-शक्ति या प्रकाश को गो कहा गया है। जो देवता जितना गतिमान् वा जितना प्रकाशमान है, वह गो से उतना ही सम्बद्ध है। इन प्राणतत्त्वों की जननी अदिति गो है।[211] देवता रूप प्राणशक्तियों से गो का अभेद व अनेक प्रकार का सम्बन्ध अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है।[212]

गो शब्द मेधा (धी) का प्रतीक

बाह्य प्रकाश शरीर में धी, मेधा या प्रज्ञा आदि के रूप में विद्यमान है। अतः गो शब्द इनका भी प्रतीक ज्ञात होता है। ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार गो प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है।[213] तैत्तिरीय आरण्यक में मेधा देवी की उपासना के प्रसंग में मेधा को स्पष्ट ही गो कहा गया है—

अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः।
दैवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषताम् ॥
आ मां मेधा सुरभिर्विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगती जगम्या।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुरभिर्जुषताम्।[214]

वाक्, जो ऋग्वेद के अनुसार धेनु है[215], को धी कहा गया है जो घृत सिंचित करने वाली भी है।[216] यहाँ घृत प्रकाश का प्रतीक है। धी अर्थ-प्रकाशन व्यापार के कारण घृताची कही गई ज्ञात होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि धी का व्यापार ही ऋग्वेद में 'धीति' कहा गया है। ऋतुओं ने धीतियों द्वारा जिस गो का निर्माण किया[217] वह 'धी' ही ज्ञात होती है। धी इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समन्विता

---

208 महद्देवानामसुरत्वमेकम्—ऋ० 3।55।1।22
209 वैदिक समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना—डा० फतहसिंह।
210 ऋ० 3।55।1
211 तैआ—20।21
212 देखो 'गो व अन्य देवता' अनुच्छेद।
213 ऐउ० 3।1।3
214 तैआ—10।41,42 यहाँ सुरभिशब्द गोवाचक है। पुराणों में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है,
115 ऋग्वेद 8।100।11
216 वाग्वै धी घृताची—ऐआ—1।4
217 ऋग्वेद 1।161।7, 4।36।4 बिना किसी बाह्य साधन (चर्म) के इसका निर्माण हुआ।

शक्ति का नाम है। धी, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्योतक बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार को डॉ० फतहसिंह ने चार चमस माना है जिनका निर्माण ऋभु करते हैं। ऋत से प्रकाशमान ऋभुओं के प्रज्ञाकर्मों (धीतिभिः) से धी ही इन चार रूपों में विभक्त होकर स्वस्वव्यापार निरत होती है। एक मन्त्र के अनुसार ऋभुओं को चमस निर्माण और गोतक्षण का फल अमृतत्व की प्राप्ति के रूप में मिला।[218] ऋभु सूर्यरश्मिरूप माने गए हैं।[219] ऋभुओं और रश्मियों दोनों का कार्य रूपनिर्माण करना है। ऋभुओं की गो विश्व की प्रेरयित्री (विश्वजू) तथा बहुरूपा (विश्वरूपा) है।[220]

गो के ऋत से सम्बन्ध का व्याख्यान किया जा चुका है।[221] ऋत के लिए दूहने वाली दो धेनुएँ[222] प्रज्ञा और वाक् ज्ञात होती हैं। यद्यपि दोनों अभिन्न हैं; परन्तु प्रज्ञा का क्षेत्र विज्ञानमयकोश है, जब कि वाक् का क्षेत्र अन्नमय कोश। 'ऋभुवों द्वारा निर्मित धेनु बृहस्पति (बृहतीनां पतिः) को प्राप्त हुई।[223] इस कथन से भी इस धेनु का (विज्ञानमय कोश की शक्ति) धी से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।[224] श्री अरविन्द के अनुसार यह धेनु—'आदिरश्मि, अदिति, असीमित सचेतन सत्ता की असीमित चेतना है जो कि लोकों की माता है। वह चेतना ऋभुवों द्वारा प्रकृति की आवरण डालने वाली गति के अन्दर से निकाल कर लायी गई है और उसकी एक आकृति को उन्होंने यहाँ हमारे अन्दर रच दिया है।[235]

धी के अनुशासन के लिए ही कदाचित् प्रतीक-यज्ञों में गो का आलंभन किया जाता है, क्योंकि प्रदीप्त प्रज्ञा से यज्ञाहुति देने पर ही अध्यात्म-यज्ञ की रूपसमृद्धि प्रतीक यज्ञ में होती है।[236]

मनन मानसिक गति ही है इसलिए गो (गति) से मति का अभेद सिद्ध होता है। कपालि शास्त्री के अनुसार मतियों के—मानसिक विचारों के परले पार पहुँचने के लिए अश्विनीकुमार नाव का आश्रय लेते हैं।[237] यह नाव वरुण की नाव

---

218 ऋ० 4।36।4

219 ऋ० 4।33।7 सूर्य के ग्रह में निवास करने वाले ऋभु रश्मि रूप ही हो सकते हैं।

220 ऋ० 4।33।8

221 अनुच्छेद 7 देखो।

222 ऋताय धेनू परमे दुहाते - ऋ० 4।23।10

223 बृहस्पतिर्विश्वरूपाजत — ऋ० 1।161।6

224 बार्हस्पत्या गो का वर्णन अनु० 9 में तथा उसका ब्रह्म गवी से सम्बन्ध प्रदर्शन परिशिष्ट 2 में किया गया है।

235 वेदरहस्य—द्वि० खं० पृ० 141

236 ऋ० 1।12।5 पर सिद्धांजनभाष्य द्रष्टव्य।

237 ऋ० 1।46।7 सिद्धांजन भाष्य

(सुत्रामाणं नावम्)[238] के समान है और अथर्वा को दी हुई गो से[239] अभिन्न ज्ञात होती है।

गो शब्द प्रकृति का प्रतीक

पुराणों के अनुसार गो शब्द प्रकृति का प्रतीक भी है–

चतुर्मुखी जगद्योनि: प्रकृतिर्गौ प्रकीर्तिता ।[240]

प्रकृति में व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था की ओर तथा अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था की ओर निरन्तर परिवर्तन चला करता है। इसी गति के कारण उसे गो कहा गया ज्ञात होत होता है। अथर्ववेद के अनुसार सृष्टि के चार मूल तत्त्वों में से तीन (—त्रिगुणात्मिका प्रकृति), जगत् का विस्तार करते हैं और एक (—पुरुष या अक्षर) तत्त्व जीव को संसार से वियुक्त करता है।[241] त्रिवर्णात्मिका प्रकृति ही सर्वकामदुघा, प्राणियों की जनित्री अनादि और अनन्त गो है—

गौरनाद्यनन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभो: ।।[242]

यह कामदुघा गो श्वेताश्वतरोपनिषद् की लोहितशुक्लकृष्णा—अजा[243] से अभिन्न ज्ञात होती है। वेदों की त्रिवर्णा पृश्नि भी जो पुरुष को आवृत करने वाली अन्धकारमयी माया है,[244] यही है। मायी वरुण की पृश्नि प्रकृति ही है, जो सत्त्व, रज और तम के कारण पृश्नि[245] कही गई है।

समस्त देवताओं की माता अदिति (गो)[246] को भी प्रकृति माना है।[247] ऋग्वेद में अदिति गो है।[248] ऋग्वेद में अदिति आकाशादि अनेक पदार्थों की जननी[249] होने से 'सार्वभौमिक प्रकृति के मूर्तीकरण का प्रतिनिधित्व करती है।[250]

सर जॉन वुडरफ के अनुसार ऋग्वेद में अदिति प्रकृति के आदि जगदुत्पादक-कारण सलिल से अभिन्न है जिससे उत्पन्न होकर अमृत बिन्दु देवगण उस सलिल में

---

238 ऋ० 10।63।10 239 अवे० 5।11
240 वायुपुराण 23।55
241 अवे० 8।9।3 (आलोकभाष्य देखें)
242 मंत्रिकोपनिषद् सं० 5
243 श्वेताश्वतरोपनिषद् 4।4।5
244 वैद० पृ० 82
245 उरुज्योति—पृ० 100
246 अदितिर्देवमाता--देभापु० 9।1।124
247 उरुज्योति--पृ० 100
248 ऋ० 8।101।15
249 ऋ० 1।89।10

250 वेमा—हिन्दी अनुवाद--चौखम्भा पृ० 231

महोत्साह प्रकट करते हुए नाचने लगते हैं।[251] माता के रूप में अदिति माया की तरह (दोनों शब्द √मा-माने से व्युत्पन्न-) मित या सीमाबद्ध करने वाली है।

विराज् गो भी प्रकृति ही हैं। विराज् को वाक्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु और साध्य देवों का अधिराज कहा गया है।[252] शबली कामधेनु विराज् और पृश्नि से अभिन्न[252] प्रकृति ही है। वशा भी गो है और प्रकृति से अभिन्न है।[253]

गोशब्द पृथिवी का वाचक

भूमि को भी गो कहा जाता है।[254] यास्क ने गो को पृथिवी का पर्यायवाची माना है।[255] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पृथिवी अदिति है।[256] डा० फतहसिंह के अनुसार पृथिवी न केवल स्थूल प्रकृति या प्रतिरूप होकर द्यावा-पृथिवी की कल्पना के अन्तर्गत आती है, अपितु अथर्ववेद (12।1) में पृथिवी द्वारा सारे विश्व का सृजन पालन भली प्रकार दिखाया गया है और मूलरूप को महत् के समान ही सलिल भी कहा गया है[257]—

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वरन्मनीषिणः।
यस्यां हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।।[258]

सायण के अनुसार भी भूमि अदिति है।[259]

ऋग्वेद में ओषधियों आदि से पोषण करने वाली पृथिवी को अच्छिद्रोध्नी गो कहा गया है, जो दुग्ध की सहस्रों धाराओं से सबको पुष्ट करती है।[260] अन्यत्र द्युलोक से संयुक्त पृथिवी के घृतवती, भूतों की आश्रयभूता, मधुदुघा; विस्तीर्णा, सुरूपा आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।[261]

इट् नामक अन्न को धारण करने वाली इळा भी पृथ्वी है।[262] ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार इळा (इरा) समस्त भुवनों का हित साधन करने वाली है।[263]

---

251 ऋ० 10।72।5-6 तथा--World as power: Power as Continuity P. 79.
252 तामब्रा० 21।3।1-2
253 देखें परिशिष्ट 1
254 भूमिर्धेनुर्धरिणी लोकधारिणी--तैआ० 10।1 नारायणोपनिषद् मं० सं० 8
255 निघण्टु 1।1
256 शब्रा० 3।3।1।1, 2।1।5।19
257 वैद—पृ० 102
258 अवे० 12।1।8
259 अखण्डित्वाददीनत्वाद्वाभूमिरेवादिति इति—ऐब्रा० 13।7 पर भाष्य।
260 ऋ० 10।133।7
261 ऋ० 6।70।1
262 इडा हि गौ अदितिर्हि गौः शब्रा. 2।3।2।34, गौर्वा इडा-शब्रा. 3।2।4।4
263 ऋ० 5।83।4

पृथिवी प्रकृति का सृजन के निमित्त प्रथनशील स्वरूप ही ज्ञात होता है और प्रथनगति के कारण गो उसका प्रतीक है। ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार अग्नि माता (पृथ्वी) का स्तन पीकर बढ़ने वाला वत्स है।[264] वह इळा के पद (सायण-वेदी) में उत्पन्न होता है।[265]

गो शब्द सूर्य का प्रतीक

आकाशस्थ सूर्य के स्थूल रूप का प्रतीक गो शब्द है।[266] सूर्य में सावित्री प्राण का निवास है जो गो से अभिन्न है।[267] सतरंगी रश्मियों के कारण सूर्य पृश्नि भी कहा गया है।[268] यास्क के अनुसार रसों को गति प्रदान करने वाला तथा अन्तरिक्ष में गमन करने वाला सूर्य ही गो है।[269] उसने आदित्य को गो कहने वाली 2 ऋचाओं को उदाहरण रूप में[270] प्रस्तुत किया है। सूर्य के एतग्वा अश्वों का सम्बन्ध भी गो (रश्मियों) से ज्ञात होता है। प्रकाश और गति दोनों भावों को लेकर गो शब्द आदित्य के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

गो शब्द वाक् का प्रतीक

वाक् के पर्यायवाची गो शब्द का विवेचन पहले किया जा चुका है।[270अ] वाक् निस्पन्द ब्रह्म की सक्रिय शक्ति है और शक्ति या प्रकृति से अभिन्न है। सृजन की प्रत्येक क्रिया गति है और गति से शब्द उत्पन्न होता है। डॉ० सुधीर कुमार गुप्त के अनुसार गति और तज्जन्य शब्द सृष्टि के मूल कारण हैं। यह गति या शब्द ईश्वर की अपनी शक्ति या महिमा है।[270आ] गो की वाक् से न केवल तुलना मात्र की गई है[270इ]; वरन् गो वाक् की सामान्य संज्ञा हो गई है और वाग्देवी के अनेक नामों में स एक है।[271]

---

264 ऋ० 10।32।8

265 ऋ० 10।1।6

266 सूर्यो गोर्वा विष्णुर्विशत्—परमात्मिकोपनिषद् 5।5

267 सूर्य गो है अतः उसकी शक्ति भी गो हो सकती है।

268 गोः गमनशीलः पृश्निः प्राष्टवर्णः प्राप्ततेज अयं सूर्यः ऋ० 10।189।1 पर सायण। स्वामी दयानन्द—गो पृथिवी सूर्य चन्द्रादि, पृश्नि अन्तरिक्ष। दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी सस्करण पृ० 428।

269 निरुक्त 2।4।2

270 ऋ० 6।56।3, 1।84।15

270 अ अनु० 2 देखें

270 आ वेला० पृ० 51

270 इ शब्रा० 14।8।9।1

271 वैइ—-पृ० 126-27 तथा-गो ब्रा० उ० 3।19, शब्रा० 7।5।2।19, तैब्रा० 4।9।5 .तैब्रा० 2।8।15 आदि।

वाक् का स्थूल शब्दमय रूप वैखरी है। देवताओं की स्तुति में यही प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में गो या धेनु शब्द स्तुति अर्थ में भी प्रयुक्त है।

मध्यमावाक् सरस्वती भी गो से अभिन्न है। वाक् के पश्यन्ती व परारूप गति की सूक्ष्मता के उपरान्त भी गो पद से संकेतित हैं।[272]

वाणी विचारों के शब्दमय रूप की प्रकाशिका होती है; इसलिए उसे राष्ट्री[273] भी कहा जाता है। प्रकाश की रश्मियों और विचारों की रश्मियों में साम्य भी बैठ जाता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीन शक्तियों में क्रिया तो गति है ही; इच्छा उसी का सूक्ष्म रूप हैं और ज्ञान प्रकाश रूप है। गो का गतिभाव इन सभी का प्रतीक हैं। ज्ञान और शक्ति प्रदान करने वाली वाग्धेनु हर्षित करने वाली है।[274] वाक्य दात्री, वचन को जन्म देने वाली, प्रज्ञा संयुक्त, प्रकाश माना और दिव्वतत्त्वों का बोध कराने वाली उस गो (वाणी) को कोई अभागा ही प्राप्त नहीं कर पाता।[275] अग्नि को वहन करने वाली अत: प्रकाशमाना, द्युलोक वासिनी गौओं का[276] उल्लेख भी मिलता है। मध्यमावाक् (गो) दोहन किये जाने पर रस (आनन्द) का क्षरण करती है।[277]

इस प्रकार वाक् के प्रतीक के रूप में गो गति व प्रकाश दोनों की ओर संकेत करती है।

गन्धर्व—वाणी के धारक

वाणी के धारण करने वाले गन्धर्व कहलाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की एक गाथा के अनुसार गो और वाक् से गंधर्वों का सम्बन्ध व्याख्यात है।[278] गन्धर्वों में प्रधान विश्वावसु-गन्धर्व से आप: मिलने की इच्छुक रहती हैं।[279] आप: मनस्तत्त्व का नाम है और गो से अभिन्न है। एक मंत्र के अनुसार नदियों के चरण प्रदेश में इन्द्र ने एक मेघ—सस्नि को देखा और व्रज के द्वार खोल दिये उस समय गन्धर्व ने अमृत का प्रवचन किया[280] इन्द्र के द्वारा अश्म-द्वार खोलने का गन्धर्व के अमृतवचन से सम्बन्ध तभी बैठ सकता है जब अश्म-द्वार को वाणी का प्रतिबन्धक माना जाय जिसका मेघ के समान आवरक होना सम्भव है। अमृत-प्रवचन उन नामों का किया जाना सम्भव है; जिन्हें गन्धर्व ने ऋत का अनुसरण करते हुए जलों के प्रवाह में अधिष्ठान बना कर जाना।[281] वाक् का गान्धर्वी[282] नाम गन्धर्वों से सम्बद्ध होने के कारण ही प्रयुक्त हुआ है।

---

272 देखें अनुच्छेद 9
273 ऋ० 10।125
274 ऋ० 8।100।11
275 ,, 8।101।16
276 ,, 3।7।2
277 ,, 1।164।26-27
278 ऐब्रा० 5।2
279 यदापो अघ्न्या इति-अवे० 7।83।2
280 ऋ० 10।139।6
281 ऋ. 10।123।4
282 [illegible] 1।11

आनन्दमय कोश के अधिष्ठाता ब्रह्मचारी से विज्ञानमय में परा वाक् का सम्मिलन होने पर उसको गन्धर्व कहा जाता है। वही ऋत का आश्रय लेकर शब्दमयी वाणी को जन्म देने में कारण बनता है। गन्धर्व के इस ध्रुवपद में साधनारत विप्र घृतयुक्त पय चाटते हैं।[283] सोम को भी गन्धर्व कहा जाता है। वह आनन्द की सेनाओं का अधिपति है।[284] सोम व गो के मिलाने का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।

वाक् के अनेक पद

ऋग्वेद में वाक् के एक, दो चार, आठ व नौ पदों का उल्लेख है।[285] सायण के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का अधिगम कराने वाला साधन पाद कहलाता है।[286] डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार पाद का अर्थ गति है।[287] वाक् के ये पाद सृजन की विविध गतियों की ओर सकेत करते हैं।

वाणी के पदों का सम्बन्ध उसके अपने रूपों से होना सम्भव है। आनन्दमय कोश में बीजरूप में ब्रह्म से संयुक्त रहने से वह एक पदी है। विज्ञानमय कोश में ब्रह्म से पृथक् होकर द्विपदी बनती है अथवा पिण्ड व ब्रह्माण्ड भेद से द्विपदी है। अपने को तीन रूपों में—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में–विभक्त करके वह चतुष्पदी बनती है। वाणी के ये चार रूप अन्तःकरण चतुष्टय में व्याप्त होकर उसे अष्टापदी व नवप्राणों से संयुक्त करके नवपदी बना देते हैं।

ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि ऋत को स्पर्श करने वाली अष्टापदी या नवपदी वाणी भी इन्द्र के विस्तार की समानता नहीं कर सकती।[288] अष्टापदी गो वाणी के द्वारा पोषणकर्त्ता अग्नि का आह्वान किया जाता है।[289] सप्तरश्मियों की तरह सप्तवाणी का उल्लेख भी मिलता है।[290] सप्तवाणी सात छन्द हैं। इन 7 वाणियों का सम्बन्ध अक्षरतत्त्व (ब्रह्म) से है। अध्यात्म में 7 छन्द सप्तप्राण हैं और यज्ञ के सप्ततन्तु व उषा के सप्तधामों से सम्बद्ध हैं। सात वाणियों में अक्षर (ब्रह्म) तत्त्व 8 वाँ होकर बैठ जाता है यथा प्रतीक यज्ञ में यज्ञ के 7 होता अपने-अपने स्थानों पर तथा पोता आठवें स्थान पर आसीन होते हैं।[291]

यह अष्टम स्थान गो का परम पद ज्ञात होता है जिसमें अक्षर-तत्त्व प्रतिष्ठित है।[292] गो के परमपद से विष्णु के परमपद का, जिसका पौराणिक नाम

---

283 ऋ० 1।22।14
284 बेर—द्वि० भा० पृ० 167
285 ऋ० 1।164।41
286 पद्यते गम्यते ब्रह्मतत्त्वमेभिरिति पादाः। तैआ 10।10 पर सायण भाष्य।
287 विलोडा पृ० 150
288 ऋग्वेद 8।76।12
289 ऋ० 2।7।5
290 ऋ० 1।164।24
291 ऋ० 2।5।2
292 ऋ० 3।55।1

गो लोक हो गया, सम्बन्ध ज्ञात होता है और उसमें स्थित 'मधु का उत्स' गो के परमपद का 'महत् अक्षर' ही ज्ञात होता है।[293] यहां गो का वाणी से अभेद सम्बन्ध और भी प्रत्यक्ष हो जाता है। ऋग्वेद में ऋचाओं का मूल स्रोत चिदाकाश (परमेव्योमन्) में स्थित अक्षर तत्त्व कहा गया है--ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।[294] सारे देवताओं को यह अविनाशी अक्षरतत्त्व ही जन्म देता है। इसीलिए गो के परम पद में न केवल सब देवता निवास करते हैं, वरन् वे अदिति स्वरूपा गो से ही उत्पन्न होते हैं।[295] प्रधान देवों को अदिति के पुत्र होने से आदित्य कहा जाता है।[296] कृष्णोपनिषद् में गौओं को ऋचाएँ ही कहा गया है।[297] इस परम्परा का मूल ऋग्वेद ज्ञात होता है जहाँ इन्द्र द्वारा ऋचाओं (स्तुतियों-अर्कैः) से गो का जन्म देने का उल्लेख है।[298]

गो का नाम इळा भी है।[299] इळा का पद गो का परम पद ही है। इळा के पद में अग्नि आदि देवताओं का उद्भव होता है[300] और सब उसमें निवास करते हैं। सायणाचार्य ने 'इड़ायास्पदे' शब्द का अर्थ यज्ञवेदी किया है।[301] प्रतीक यज्ञों में वेदी को परमपद मानना उचित है जहां 10000 गायें ग्रहण करके स्वर्गलोक की भावना की जाती है।[302]

गोदोहन

जगत् के विविध शक्ति-केन्द्रों को गतिभाव से गो मानकर ऋग्वेद में उनके दोहन का उल्लेख किया गया है। विराज् धेनु का दोहन देव, असुर, पितृगण, मनुष्य आदि सभी की तृप्ति करता है। इस दोहन का आगे वर्णन किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वाग्धेनु का वत्स मन और ऋषभ प्राण है। उसके स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार स्तन हैं। इनमें से स्वधाकार पितरों का व हन्तकार मनुष्यों का उपजीव्य है। शेष दो देवों के उपजीव्य हैं।[303] गो अमृत की नाभि है।[304] अमृत के गोपा देवगण उससे अमृत का दोहन करके अमृतपुत्र और

---

293 ऋ॰ 1।154।5

294 ऋ॰ 1।164।39

295 तैत्तिरीय आरण्यक 10।2।

296 निरुक्त 2।4।1

297 गोप्यो गावः ऋचस्तस्य—कृष्णोपनिषद्।

298 ऋग्वेद 3।31।11

299 गोर्वाऽइडा—शतपथ ब्राह्मण 3।2।4।4

300 ऋग्वेद 3।29।3, 10।1।6 आदि।

301 ऋ॰ 3।23।4, 3।29।4, 10।1।6 आदि पर भाष्य।

302 ताम ब्रा॰ 19।13।6

303 बृ॰ 5।8।1

304 ऋवे॰ 9।1।4 यहाँ मधुकशा गो से अभिन्न है।

अमृतबन्धु कहलाते हैं। द्युलोक और पृथिवी दो धेनुएँ जगत् के पोषण के लिए दूहन करती हैं। अन्तरिक्ष ऊधस् है। आदित्य वत्स ऊधस् प्रदेश से पयपान करता है। कभी विश्व गो स्वतः ही वत्स अग्नि के लिए जल वर्षण करती है। वर्षण-क्रिया को घृताहुति भी कहा गया है[305] और इस प्रकार विश्व में एक यज्ञ प्रवर्तित हो रहा है। जिसकी प्रतिष्ठा विश्वरूपिणी गो है। सोम के लिए दुग्ध-स्रवित करने वाली चार धेनुएँ उस एक गो के स्थान भेद से चार रूप हैं—पृथिवी, अन्तरिक्षस्थ विद्युत, सौररश्मियाँ और पारमेष्ठ्य आपस्तत्त्व। इनके दुग्ध से पोषण प्राप्त करके सृष्टि प्रवर्तित हो रही है।[306]

गो विमुक्ति की प्रतीक गाथा

ऋग्वेद में बहुधा बल की गुहा से गौओं की मुक्ति का उल्लेख है। इन्द्र, बृहस्पति, मरुत् आदि देवताओं ने स्वतन्त्र रूप से या परस्पर मिल कर गौओं को मुक्त करने का कार्य किया।[306अ] इस प्रतीक गाथा का ताण्डच महाब्राह्मण में विस्तार से वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि बल नामक असुर (या असुरों का बल) अन्धकार से ढका हुआ था जिसमें गोधन छुपा हुआ था। देवता उसका भेदन करने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने बृहस्पति से गौओं को मुक्त करने के लिए कहा। बृहस्पति ने उद्‌भिद् याग से बल को बिल से वियुक्त किया और बलभिद् याग से मारा, उत्सेध साम से गौओं को प्रकट किया और निषेध साम से गौओं का पलायन रोक कर गौओं को प्राप्त किया।[306आ]

ऋग्वेद की गो विमुक्ति की प्रतीक गाथा का ताण्डच महाब्राह्मण के इस प्रसंग से स्पष्टीकरण होता है। बृहस्पति और और इन्द्र में से प्रथम ज्ञानपक्ष का और द्वितीय क्रिया पक्ष का द्योतक है। इन दोनों और इनके सहयोगी तत्त्वों का गो विमुक्ति में योग रहता है। इन्द्र अकेला गौओं को मुक्त नहीं कर सकता क्योंकि प्रज्ञा-शक्ति के योग के बिना यह कार्य सम्भव नहीं होता। अतः वह सरमा[306इ] के सहयोग से गौओं का पता लगाता है। सरमा ऋत के मार्ग पर चलती हुई गौओं को प्राप्त करती है। बृहस्पति स्वयं प्रज्ञा-रूप होने से बिना सरमा की सहायता के

---

305 निघ० में घृतजल का पर्यायवाची है।

306 गो के दूहन व देवों द्वारा दोहन के लिए देखो 'गो देवता' तथा 'गो और अन्य देवता' अनुच्छेद।

306अ द्रष्टव्य—गो व अन्य देवता अनुच्छेद।

306आ तामब्रा० 19।7।1-7

306इ सरमा शब्द सर—सरति गतिकर्मा से व्युत्पन्न—मा—मित करना से प्राप्त होता है और प्रकृति की उस विशेष गति का द्योतक है जो आनन्दमय-कोशस्थित चैतन्य को सीमित कर देता हैं अर्थात् बुद्धि तत्त्व सरमा है। श्री अरविन्द व दयानन्द सरस्वती ने भी सरमा को बुद्धि ही माना है।

गौग्रों का पता लगा लेता है। उसे गुहास्थित गौग्रों का शब्द सहज रूप से सुनाई पड़ता है।[306ई] ऋत का शंसन करते हुए अंगिराओं के साथ बृहस्पति ही विश्व-यज्ञ को प्रवर्तित करता है।[306उ] यह कार्य क्रमशः उषा, सूर्य और गो[306ऊ] के उद्भव से हुआ। गोविमुक्ति का प्रसंग सारा सृजन प्रक्रिया के प्रारम्भ का सूचक ज्ञात होता है। तम शब्द प्रलय का और ज्योति शब्द सृष्टि का वाचक है। प्रलय के अन्धकार की गुहा में खोई हुई सृजक शक्तियों का सृजन के लिए स्वतंत्र हो जाना ही गो मुक्ति है। उद्भिद् शब्द से भी सृजन के लिए तम का भेदन करने की ओर संकेत ज्ञात होता है। कहीं गुहा के स्थान पर पर्वत से भी गो उत्पत्ति कथित है। पर्वत को मेघरूप में व्यक्त अति बला शक्ति माना गया है जो गौरी या गो को उत्पन्न करने वाली है।[306ए]

सृष्टि प्रक्रिया का सूक्ष्म रूप पिण्डाण्ड में भी घटित होता है। साधना करने पर प्रज्ञाशक्ति जाग्रत होकर अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर देती है और प्रज्ञा-रश्मियों का उदय होता है। गोविमुक्ति का आध्यात्मिक स्वरूप प्रज्ञा रश्मियों का उदय ही ज्ञात होता है।

गो शब्द पशु प्रतीक

उपर्युल्लिखित मूलभाव 'गति' से व्यापक अर्थविस्तार करता हुआ गो शब्द पार्थिव पशुविशिष्ट के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है। प्रारम्भ में 'गो' भाव द्वारा द्योतित अनेक पदार्थों में गो-पशु भी एक था; परन्तु धीरे-धीरे भाषा समय-क्रम से रूढ़ होती गई। भाषा की अर्थविस्तार की क्षमता का ह्रास हो जाने व सृष्टि की आदिकालीन प्रवाहमय तरलता के लुप्त हो जाने के कारण गो शब्द का रूढ़ अर्थ अधिक प्रचार पाता गया। अन्य अर्थ अप्रस्तुत का स्थान ग्रहण करते गए। अब 'पृथ्वी के गोरूप धारण करने की गाथाओं की' कल्पना हुई।[307] सामर्थ्य के भाव का द्योतक वृषभ भी पृथ्वी का धारक धर्म बन गया।

भाषा द्वारा बौद्धिक आधार ग्रहण कर लिए जाने पर अनुभूति-पक्ष गौण होता गया। इसलिए अर्थसन्धान करते समय अब प्रकरणवश स्वतः ही गो का वाणी, पृथ्वी, इन्द्रिय, रश्मि आदि का प्रकाश होने की अपेक्षा गो-पशु का मूर्तरूप कल्पित करने की प्रथमतः आवश्यकता प्रतीत हुई और अन्य अर्थ मूर्तपशुओं के उपमान बन गए अथवा पशु-गो उन-उन पदार्थों का वस्तु-प्रतीक बना।

306ई ऋ० 10।68।8

306उ ऋ० 10।67।2

306ऊ ऋ० 10।67।5 बृहस्पति ने सृजन-प्रवृत्ति के लिए इन तीनों को प्राप्त किया।

306ए उमासहस्रम्—वासिष्ठगणपतिमुनि—पृ० 30

307 श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध 1

'गो पशु रूप में' अनुच्छेद में आपातत: प्रतीत होने वाले पशुगो के उल्लेखों का संकलन किया गया है। साथ ही यह संकेत भी किया जाता रहा है कि उक्त उल्लेखों के अन्य आधिदैविक व आध्यात्मिक अर्थ भी हैं। उन प्रसंगों में जहाँ गो उपमार्थक व्यवहृत हुआ है वहाँ साधारणतया गो-पशु को ही स्वीकार किया गया है। 'गो' शब्द उन प्रसंगों में मूर्तपदार्थों का प्रतीक ही माना जा सकता है क्योंकि साधारणतया अमूर्तभावों को, मूर्तपदार्थों को उपमान बनाकर, प्रकट किया जाता है। ऐसे मूर्तपदार्थ, जो गो शब्द की प्रतीकात्मकता से प्रकाश में आते हैं और उपमान रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं, सूर्य (द्युलोक में), पृथ्वी और गो-पशु ही हो सकते हैं। उपमान के रूप में प्रयुक्त गो के सामान्यतया ये ही अर्थ होते हैं।

कुछ उदाहरणों में उपमावाची गो शब्द देखा जा सकता है—

(1) अभिसंचरन्ति गाव: उष्णमिव व्रजं ।[308]

(2) मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा ।[309]

(3) विभूत द्युम्नश्च्यवन: पुरुष्टुत: क्त्वा गौरिवशाकिन: ।[310]

(4) गावो गोष्ठादिवेरते ।[311]

(5) संवरणस्य ऋषेर्व्रजं न गाव: प्रयता अपि ग्मत् ।[312]

(6) अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातर: ।[313]

(7) वाश्रा अर्षन्ति इन्द्रवोऽभि वत्सं न धेनव: ।[314]

इन स्थलों पर गो का उपमान के रूप में प्रयोग है; परन्तु प्रतीक-अर्थ भी ध्वनित होता है यथा प्रथम उद्धरण में व्रज की उष्णता रश्मियों-गो की ओर भी संकेत कर देती हैं। तृतीय में इन्द्र का शाकिने: विशेषण गो को उसकी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। अन्यत्र भी प्रतीक अर्थ संकेतित हैं। अत: स्पष्ट है कि उपमान के रूप में ऐसा प्रयोग अपने पीछे समर्थ शब्दप्रतीक के अर्थविस्तार की व्यापक पृष्ठभूमि लिए हुए था। इसीलिए लोकजीवन में पशुगो में पूजनीयता का भाव निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहा और उसे भगवती का अवतार तक मान लिया गया।[315]

गो वस्तु या पदार्थ प्रतीक

ऋग्वेद की ऋचाओं में वस्तु प्रतीक के रूप में गो का उल्लेख सायणादि ने किया है; परन्तु ऐसा आपातत: ही प्रतीत होता है। साधारणतया उन प्रसंगों में ऐसे संकेत मिल जाते हैं जिनसे बिना पशुरूप गो को ध्यान में लाये हुए ही प्रकरण संगत अर्थ का संधान हो जाता है। अथर्ववेद में अवश्य ही स्पष्ट रूप से वस्तुप्रतीक के रूप में गो के दर्शन हो जाते हैं और उस इतिहास की एक कड़ी भी हाथ लग जाती है

---

308 ऋ० 10।4।2
309 ऋ० 10।145।6
310 ,, 8।33।6
311 ,, 10।97।8
312 ,, 5।33।10
313 ,, 9।12।2
314 ,, 9।13।7
315 स्वामी विवेकानन्द—धर्मरहस्य—पृ० 31

जिससे यज्ञों में वैदिक मन्त्रार्थों के वस्तुप्रतीक ग्रहण किये गए और जिन्हें रूपसमृद्धि के लिए यज्ञ का अविच्छिन्न अंग मान लिया गया।

अथर्ववेद में एक सूक्त में गो का पृथ्वी, द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, दिशाओं आदि के प्रतीक के रूप में उल्लेख किया गया है।[316] यज्ञ ब्रह्माण्ड में चलने वाली समस्त क्रियाओं का प्रत्यक्ष समृद्धरूप माना गया है। इसलिए गो में ब्रह्माण्ड की भावना करके यज्ञवेदी को पृथिवी का अन्त और यज्ञ को भुवनों का केन्द्र या नाभि–कहने की बात प्रसिद्ध हुई।[317] इसी तरह एक अन्य मन्त्र में धान को धेनु और तिल को वत्स कहा गया है।[318] इन मन्त्रों से पता चलता है कि यज्ञ में हवि के रूप में यव, व्रीहि, तिल आदि धान्य भी प्रतीक ही हैं।

ऋग्वेद में वस्तु प्रतीक का स्पष्ट वर्णन न मिलने पर भी ऋग्वेद में ऐसे संकेत मिल जाते हैं जिससे प्रतीक ग्रहण पद्धति के मूल की खोज में पर्याप्त सहायता मिलती है। पदार्थों का रूप ही उनका प्रतीक है। अतएव रूप निर्माता अग्नि के ऋग्वेद में मधुप्रतीक[319] चारुप्रतीक,[320] पुरुप्रतीक,[321] सुप्रतीक,[322] पृथुप्रतीक,[323] त्वेषप्रतीक[324] घृतप्रतीक,[325] शुचिप्रतीक[326] आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। प्रकाश ही अग्नि का प्रतीक है अतएव प्रकाश रश्मियों का भी प्रतीक प्रसंग में उल्लेख मिलता है जो कृशांग को सुप्रतीक बना देती है[327] रश्मियों के कारण प्रकाशस्वरूप सूर्य को भी सुप्रतीक कहा गया है।[328] सूर्य भी अग्नि का ही एक रूप है इसलिए उसे त्वेषप्रतीक विशेषण दिया गया है। उषा भी सुप्रतीका[329] और घृतप्रतीका[330] है। प्रकाशात्मक देवताओं का स्वामी इन्द्र अपने कार्यों से 'पुरुप्रतीक'[331] बन गया है। सविता की सुप्रतीका भुजाएँ रश्मियाँ ही ज्ञात होती हैं।[332] प्रकाश की अधिष्ठान स्वरूपा द्यावापृथिवी[333] और दोषा-उषा भी[334] सुप्रतीका कही गई हैं।

उक्त प्रसगों से इन बातों पर प्रकाश पड़ता है —

---

316 अथर्ववेद 4।39।1-10
317 इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। ऋग्वेद 1।164।35
318 अथर्ववेद 18।4।32-34
319 ऋ० 10।108।4
320 ऋ० 2।8।2
321 ,, 3।7।3
322 ,, 1।94।7, 3।29।5, 6।15।10, 7।10।3, 1।143।3,
323 ,, 7।36।1
324 ऋ० 1।66।4, 1।167।5
325 ,, 3।1।18, 5।11।1, 1।143।7, 10।21।7
326 ,, 1।143।6
327 ऋ. 6।28।6
328 ,, 7।61।1
329 ,, 1।92।6
330 ,, 7।85।1
331 ,, 3।48।3
332 ,, 6।71।5
333 ,, 1।185।6
334 ,, 5।5।6

(1) किसी भी वस्तु या भाव को व्यक्त करने वाला रूप विशेष प्रतीक होता है।

(2) एक भाव की प्रतीक-व्यक्तियाँ पारस्परिक सम्बन्ध के कारण एक से अधिक हो सकती हैं।

(3) प्रतीक-व्यक्ति का निर्माण साधन प्रकाश है जो गति का ही रूप है (यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द स्वयं गूढ़ भावों की व्यक्ति ही है अतः प्रकाशस्वरूप हैं। शब्दमयी वाक् के विकास में अग्नि के सहयोग का उल्लेख किया जा चुका है। अग्नि स्थूल रूप की तरह शब्द के सूक्ष्मरूप का निर्माता भी है)।

जिस प्रकार भावों का प्रतीक रूप होता है, उसी तरह कभी प्रकरण विशेष में एक वस्तु दूसरी वस्तु की प्रतीक बन जाती है। ऋग्वेद में एक मंत्र में कवचधारी योद्धा को मेघ (जीमूत) का प्रतीक कहा गया है।[325] ठीक इसी तरह अथर्ववेद के उपर्युक्त प्रसंग में धान को धेनु और तिल को वत्स कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रतीकों का प्रचुर रूप से वर्णन मिलता है। प्रतीक भौतिक जगत् से ग्रहण किये गये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-रहस्यों का उद्घाटन है। आधुनिक विद्वान् भी उन्हें कर्मकाण्ड के विश्लेषक ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। इनमें वर्णित प्रतीक-यज्ञों के विस्तार का मूल संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषाएँ इस विषय में मार्गदर्शन करती हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राण अग्नि है,[336] दस इन्द्रियों के अधिष्ठाता एक प्राण के दस रूप दस वीर (प्राणो वै दशवीराः[337]) हैं, प्राण ही इन्द्र है,[338] गोएँ इन्द्र की हैं (ऐन्द्रो-गावः),[339] विश्वरूप त्वाष्ट्र को मारने पर सोम पान करने के उपरान्त इन्द्र के मुख से स्रवित वीर्य से गौ वा वृषभ उत्पन्न हुआ (कहना न होगा कि इस प्रतीक-गाथा में मुख से स्रवित वीर्य वाक् ही है–), और स्तनों से स्रवित शुक्र से पय उत्पन्न हुआ जो पशुओं की ज्योति बन गया।[339] इस प्रतीक गाथा से वैदिक पशुओं का सम्बन्ध ज्योति से सिद्ध होता है, पयस्वती गो प्रकाश रश्मियों की प्रतीक इसी कारण हो गई है। स्वयं इन्द्र का बल वाक् है[340] और वाक् गो है।[341] इसीलिए ऋग्वेद में गौओं को इन्द्र से अभिन्न[342] कहा गया है।

---

335 जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे। ऋग्वेद 6।75।1

336 शतपथ ब्राह्मण 12।2।5।6

337 शतपथ ब्राह्मण 12।3।5।22

338 शतपथ ब्राह्मण 12।4।3।14

339 शतपथ ब्रा० 12।3।2।1–6

339 शतपथ ब्राह्मण 12।3।3।6

340 शतपथ ब्रा० 12।3।3।6

341 बृहदारण्यकोपनिषद् 5।8।1

342 ऋग्वेद 6।28।4

शतपथ ब्राह्मण की तरह अन्य सभी ब्राह्मणों में परिभाषाएँ भरी पड़ी हैं जिनके बिना वैदिक अर्थ-परम्परा की गुत्थियों का सुलझना असम्भव है। इन परिभाषाओं को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस तरह वाक्, गो, अदिति, अघ्न्या, आप:, प्राण आदि न केवल शब्द-परिवार की दृष्टि से, वरन् तात्त्विक दृष्टि से भी परस्पर सम्बद्ध हैं उसी तरह एक-एक तत्त्व के विशिष्ट गुण को प्रकट करने वाले अनेक प्रतीक-शब्द संहिताओं में व्यवहृत हुए हैं; ब्राह्मण ग्रन्थों की याज्ञिक शैली में उन्हीं शब्दों के समय-निर्देश मिलते हैं जो भाषा की ह्रास की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। ज्यों-ज्यों समय-क्रम पूर्वक भाषा रूढ़ होती गई शब्दप्रतीकों की सामर्थ्य भी कम होती गई और वस्तु-प्रतीक का प्रयोग बढ़ गया। प्रतीक-यज्ञ वस्तु-प्रतीक पर ही आधारित है।

गो मातृत्व का भाव प्रतीक

वाक् ब्रह्म को 'मित' करने वाली प्रकृति (माया) है। 'मातृ' शब्द का अर्थ भी 'सीमित करने वाली' ही है। वह अव्यक्त को व्यक्त रूप देकर निर्माण करती है। इस निर्माण क्रिया से नामरूपात्मक सृष्टि का विकास होता है जो असीम को ससीम कर देती है। अत: वाक् या प्रकृति को माता कहा गया है। पौराणिक मातृदेवियों व तांत्रिकों की त्रिपुर-सुन्दरी प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के ही रूप हैं। वैदिक संहिताओं में गो, अदिति, आपस् आदि शब्द स्पष्ट रूप से मातृत्व की सूचना दे देते हैं। गो के पशु रूप में रूढ़ होने पर उसमें भी मातृत्व का अधिष्ठान मान लिया गया। इसलिए गो अपने पीछे एक विस्तृत प्रतीक परम्परा (शब्द प्रतीक की) की पृष्ठभूमि लेकर मातृत्व की प्रतिष्ठा का आधार बनी है यह कहना अनुचित नहीं जान पड़ता।

"गौ दूध का प्रतीक है। दूध देने वाले और भी कई पशु हैं उनमें गौ ही श्रेष्ठ है। गौ के शरीर में कोई ऐसी रसायनशाला है जो जल को दूध में बदल देती है किन्तु गौ भी तब तक दूध नहीं देती जब तक वह बच्चा नहीं देती। अतएव स्पष्ट हुआ कि नीर का क्षीर में परिवर्तन ही प्रजनन या मातृत्व है।"[343]

दूध और घृत गो-पशु की सर्वोत्तम देन है। दूध की तरह घृत भी प्रतीक प्रक्रिया का साधन है। अत: कहा गया है—"दूध और पानी में क्या अन्तर है, इस प्रश्न का प्रतीकात्मक उत्तर स्पष्ट है। पानी वह है जिसको मथने पर त्रिकाल में भी घी या स्नेह नहीं प्राप्त होता; किन्तु दूध ऐसा श्वेतजल है जिसके रोम-रोम में घृत के कण व्याप्त रहते हैं। यह घृत माता के हृदय का स्नेह है जो वह वत्स के लिए प्रकट करती है। अतएव गौ मातृत्व या प्रजनन का प्रतीक है।"[344]

लौकिक भाषा में घृत का एक नाम स्नेह भी है। अत: स्नेह शब्द का इतिहास भी मातृत्व की परिकल्पना का प्रकाशक है।

343 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित भूमिका—पृ० 19

344 उपर्युक्त पृ० 19

वैदिक विचारधारा के अनुसार माता और पिता से मिलकर एक इकाई बनती है। द्यावा और पृथिवी मिलकर इसी तरह की इकाई का निर्माण करते हैं जिसे रोदसी भी कहा गया है। इसी तरह गोवृषा की एक इकाई बनती है। रोदसी रुद्र-सृष्टि का विस्तार है। यह 'ऐसा लोक है जिसमें कोई भी नई सृष्टि माता-पिता के बिना नहीं होती।'[345] गो रोदसी के अधिष्ठाता रुद्रों की माता[346] कही गई है अत: वृष के बिना वह भी पूर्णत्व की द्योतक नहीं हो सकती। गो पशु भी इसी तरह वृष के बिना घृत व पय को धारण नहीं कर सकता। इसलिए कहा गया है कि गो जब गर्भित होती है तभी वह बछड़े को जन्म देती है और तभी उसमें दूध देने की क्षमता उत्पन्न होती है। गो का मातृतत्व सोम है। वह वृषभ के शुक्र या आग्नेय गुण से गर्भ धारण करती है यह अग्नि ही गो के दूध में व्याप्त घृत है। पानी और घी का यही अन्तर है कि पानी से आग बुझती है और घी से प्रज्वलित होती है। अतएव वैदिक ग्रन्थों में घृत अग्नि का साक्षात् स्वरूप है[347] एतद्वा अग्ने: प्रियं धाम यद्घृतम्[348] एतद्वै प्रत्यक्षं यज्ञरूप यद् घृतम्।[349]

गो पशु के मातृत्व की वैदिक पृष्ठभूमि उपस्थित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार वृषभ और गौ से वत्स का जन्म होता है वैसे ही पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक सयोग से विश्व का जन्म होता है। इस विश्वरूपी वत्स की माता को, जो अनन्त प्रकृति है, अदिति कहते हैं। वह कामदुघा व विश्व-धायस् धेनु कही जाती है। काम ही उसका दूध है और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है। इस प्रकार केवल गो का प्रतीक अनेक अर्थों की उद्भावना करता है। जहाँ जहाँ प्रजनन या मातृत्व है, वहीं वहीं गो का रूपक चलता रहता है। पृथिवी गो है जो अनन्त वृक्ष-वनस्पति को प्रतिवर्ष जन्म देती है। ऐसे ही विश्व के प्राणिमात्र की जितनी माताएँ हैं सब गो के रूप हैं। सूर्य की रश्मियां गौएँ हैं, जो अपनी गति से समस्त संसार में विचरण करती हैं और जिस पृथिवी से उनका सम्पर्क होता है, उसे वे गर्भधारण की योग्यता प्रदान करती हैं। सूर्य की उष्णता से ही पृथिवी गर्भित होती है। इसी प्रकार वाक् भी गो है। वह मन रूपी वृषभ में गर्भित होती है। मन के विचार ही वाणी में आते हैं और देवों के सम्मिलन से प्राण या क्रिया का जन्म होता है।[350]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गो शब्द अपने मूल भाव 'गति' या 'प्रकाश' को सुरक्षित रखता हुआ ऋग्वेद में अनेक प्रकार से प्रतीक बन गया है। अथर्ववेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में गो को वस्तुप्रतीक के रूप में भी प्रयुक्त देखा जाता है। कुल मिलाकर गो गति प्रकाश और मातृत्व का प्रतीक है।

---

345 उपर्युक्त पृ० 16 346 ऋ० 8।101।15
347 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—भूमिका—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—पृ० 19
348 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1।1।9।6 349 शतपथ ब्राह्मण 12।8।2।15
350 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति–भूमिका डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ० 19

नवम अनुच्छेद: ऋग्वेद में गो-तत्त्व

ऋग्वेद और ज़ेन्द अवेस्ता में गो-तत्त्व के विषय में एक से विचार देखने को मिलते हैं। 'अवेस्ता में हम एक दिव्य-सत्त्व से परिचय-लाभ करते हैं जिसे गेउस् उर्वन्' या गोस्-उरुन्' कहा जाता है अर्थात् 'गो की आत्मा'—जो जीवन-सत्ता का संरक्षक और मानवीकृत रूप माना जाता है।[1] इसी तरह ऋग्वेद में गो और विश्व-सत्ता मे रहस्यात्मक सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[2] यह विचार अथर्ववेद में और विकसित हुआ है, जहाँ एक सूक्त[3] गौओं में आदर्श—वशा को सम्बोधित किया गया है, जो एक प्रकार से विश्व के प्रजनन-तत्त्व से सम्बद्ध है और एक दूसरा सूक्त[4] अव्युत्पन्न वृषभ—अनड्वान् को सम्बोधित है जिसके साथ भी ऐसे ही कार्यों को संयुक्त किया गया है।"[5]

विश्व को 'अहम्' (आत्मभाव) की तुलना में 'इदं' या 'इदं सर्वम्' कहा गया है।[6] विश्व के समस्त व्यापार व्यष्टि और समष्टि भेद से दो समानान्तर रूपों में चला करते हैं। मानव-शरीर व्यष्टि है और ब्रह्माण्ड समष्टि। यह माना जाता है कि मानवशरीर विश्व का संक्षिप्त संस्करण है।[7] इन दोनों की प्रक्रिया को समझने के लिए लोकप्रचलित 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' उक्ति से बड़ी सहायता मिलती है। इसमें 'भारत की दार्शनिक परम्परा का सार'[8] निहित माना गया है। इस उक्ति के अनुसार जो-जो वस्तुएँ एक (शरीर) में हैं, वे दूसरे में (ब्रह्माण्ड में) भी हैं।[9] दोनों में सादृश्य का कारण पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता है। अन्न, आप: और तैजस

---

1 ज़ेन्द अवेस्ता यस्न 28।1, 29।5,9 जेम्स हैस्टिंग्ज द्वारा एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में पृ० 224 पर उद्धृत।

2 ऋग्वेद 1।153।3, 8।101।15, 10।11।1 उपर्युक्त ग्रन्थ में साक्षीरूप में उद्धृत।

3 अथर्ववेद 10।10 उपर्युक्त ग्रन्थ में साक्षीरूप में उद्धृत।

4 अथर्ववेद 4।11 उपर्युक्त ग्रन्थ में साक्षीरूप में उद्धृत।

5 एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—पृ० 224-225

6 यजुर्वेद वा० सं० 31।2, 40।1, ऋग्वेद 10।90।2 आदि।

7 The dody of man is the universe in miniature. Elizabeth sharpe— The Tantric Doctrine of Immaculate Conception. P. 33.

8 डा फतहसिंह — वैदिकदर्शन—पृ० 63

9 उपर्युक्त पृ० 63

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। कठोपनिषद् 2।1।10।

के जिन त्रिवृत संयुक्त-तत्त्वों से मन, प्राण तथा वाक् का निर्माण हुआ है, उन्हीं से आदित्य और अग्नि का भी निर्माण हुआ है। हमारे शरीर में जो वाक, मन, चक्षु आदि शक्तियाँ हैं, वे यथार्थ में ब्रह्माण्ड की शक्तियों का ही रूपान्तर हैं।[10]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता को खोजने के लिए वैदिक अर्थ परम्परा के मूल सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता जिनके अनुसार माना जाता है कि—

अ वेद में विषय सामग्री 3 धरातलों—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक पर प्रस्तुत की गई है।

आ प्रत्येक विषय को सामान्यतया और विशेषतया इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि प्रस्तुतीकरण की उत्कर्ष व अपकर्ष की दृष्टि से एक शृंखला सी बन जाती है।

इ वेद बहुधा शृंखला के परमोत्कर्ष को अपना विषय बनाता है जिससे विशेषीकृत भिन्न-भिन्न पदार्थ मौलिक ऐक्य के विषय बन जाते हैं।[11]

वेद के तीन धरातल हैं—भूत, दैव और आत्मा। इन पर विचार करने के लिए वेद के मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से अर्थ किये जाते हैं। प्रथम दृष्टिकोण स्थूल जगत् को आधार मान कर चलता है, जिससे जड़ वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे दृष्टिकोण से स्थूलजगत् की गति प्रदान करने वाली शक्ति—प्राणतत्त्व या देवता का ज्ञान प्राप्त होता है तथा तीसरा दृष्टिकोण आत्मानुभूतिपरक है जिससे साधना द्वारा शुद्ध चैतन्य का बोध होता है।[12] इनमें अन्तिम दृष्टिकोण उपर्युल्लिखित शृंखला के चरमोत्कर्ष का द्योतक है। जिसमें प्रथम दो अपना अस्तित्व खो देते हैं। "वेदाध्ययन में यदि इन सूत्रों (विविध अर्थचिन्तन) को भुला देंगे तो हम शीघ्र ही स्वयं को अरण्य में खोया हुआ पायेंगे जहाँ से किसी प्रक्रिया तक पहुँचने का कोई मार्ग नहीं है।"[13]

इन दृष्टिकोणों से विचार करने पर इस तथ्य का उद्घाटन होता है कि पिण्ड और ब्राह्मण में सर्वत्र चित्शक्ति से जड़तत्त्व अधिष्ठित है और जड़तत्त्व पर गतिशील-प्राण-शक्तियाँ क्रिया करती रहती हैं।[14] इस तरह—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥[15]

मन्त्र में अग्नि पद भौतिक अग्नि, उस पर गति करने वाले अग्निदेवता और परामात्मा का द्योतक है। पूर्वोक्त अनुच्छेदों के निष्कर्षों की दृष्टि से भौतिक अग्नि

---

10 वैदिक दर्शन पृ० 69

11 Woodroffe-The world as power : Powar as continuity P.74

12 वही पृ० 68

13 वही पृ० 74-75

14 वही पृ० 82-83

15 ऋग्वेद 1.1.1 (अर्थ के लिए दयानन्द भाष्य द्रष्टव्य)

परमात्मा और अग्निदेवता का प्रतीक है[16] और अग्नि शब्द भी इन सबका प्रतीक है। अग्नि ही नहीं, ऋग्वेद के सारे पद इसी प्रकार की अर्थयोजना से सम्बद्ध हैं। गो शब्द द्वारा जिस गति भाव की ओर संकेत किया गया है उससे जड़ पदार्थ, जिन पर गति होती है तथा प्राणात्मक देवशक्तियाँ जो गति की प्रेरक हैं और चैतन्य-तत्त्व, जो गति का द्रष्टा है, सभी की व्यंजना हो जाती है। गो शब्द अपनी विविध अर्थ-योजना से पिण्ड और ब्रह्माण्ड की गतिरूप सृजन-प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। यहाँ उसका विवेचन किया जा रहा है।

सृष्टि प्रक्रिया और गो

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 'वेद-विद्या सृष्टि विद्या का दूसरा नाम है[18]—''वेद न तो इतिहास के और न सामाजिक स्थिति के ही ग्रन्थ हैं, वरन् वे सृष्टि विद्या के सत्य-भण्डार हैं।'[19] विविध विद्याओं के द्वारा वेद में सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या की गई है। यज्ञ, देवता,:छन्द, ऋत-सत्य, अश्वत्थ, पशु, प्राण आदि विविध पदार्थों को केन्द्र मान कर सृजन की प्रक्रिया का व्याख्यान वेद में किया गया है। ये सब वेद में प्रतीक माने गए हैं, जिनको आधार मान कर चिन्तन की विविध परम्पराओं का—विद्याओं का विकास हुआ। इन विद्याओं में गो या विराज् गो के प्रतीक द्वारा जिस चिन्तन परम्परा का विकास हुआ उसे गो विद्या अथवा विराज् विद्या कहा जाता है। डॉ. अग्रवाल ने कई विद्याओं में गो विद्या का भी नामोल्लेख किया है।[20]

गो शब्द प्रतीक द्वारा सृष्टि प्रक्रिया पर पूर्णतया प्रकाश पड़ता है; परन्तु जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, व्यावहारिक दृष्टिकोण से गो को पदार्थ प्रतीक भी माना जा सकता है। इसके अनुसार गो पशु के शरीर और सृष्टि में अपूर्व सामंजस्य विद्यमान है। विश्वरूपी वत्स की माता अनन्त प्रकृति है। वह विश्व को वैसे ही गर्भ में धारण करती है जैसे गो (पशु) अपने वत्स को धारण करती है। गो (पशु) मातृत्व का प्रतीक है इसीलिए उसके शरीर में नीर क्षीर में परिवर्तित हो जाता है—क्षीर, जिसमें घृतकण व्याप्त रहते हैं। घृत माता के हृदय का स्नेह है जो वह वत्स के लिए प्रकट करती है।[21] प्रकृति भी विश्व के पोषण के लिए

---

16 ऋग्वेद में अग्नि को सुप्रतीक (ऋ० 1।143।3); शुचिप्रतीक (1।143।6) घृतप्रतीक (1।143।7), मधुप्रतीक 6।15।10 (10।118।4) आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है और यह भी कहा गया है कि घृत द्वारा यज्ञ में प्रतीक रूप भूताग्नि ही आहुत किया जाता है—यस्य प्रतीकं आहुतं घृतेन (ऋ० 7।8।1) तुलनीय ऋ० 10।118।3

18 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—भूमिका पृ० 4

19 Sparks from the Vedic fire-P. 23

20 वही पृ. 123

21 डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-वैदिक विज्ञान व भारतीय संस्कृति-भूमिका पृ.19

विविध पदार्थों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार प्रकृति से विश्व का विकास गो, उसके प्रजनन कार्य और मातृत्व से साम्य रखता है इसीलिए सृष्टि-प्रक्रिया को गो-विद्या के नाम से ऋषियों ने चिन्तन का विषय बनाया। 'वेद में अनेक प्रकार से गो के रूपक का विस्तार पाया जाता है।'[22]

गो शब्द स्वयं भी अपने प्रतीकात्मक अर्थ द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। उससे ध्वनित गतिभाव में सृजन की प्रत्येक प्रक्रिया का समावेश हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में गति से सृजक शक्तियाँ उत्पन्न हुईं।[23]

सृजन की द्विविध प्रक्रिया

सृष्टि प्रक्रिया दो प्रकार से चलती है उसके एक रूप से वर्तमान सृष्टि अस्तित्व में आई और दूसरे रूप से नित्यकार्य चला करते हैं।

प्राकृतिक प्रलय की अवस्था का उल्लेख ऋग्वेद के नासदीय सूक्त[24] में हुआ है। इस अवस्था को वहाँ अप्रकेत सलिल अवस्था कहा गया है जिसमें मृत्यु रूप तम से सृष्टि की कारणभूता सृजक शक्तियाँ छिपी हुई थीं।[25] उस समय अदिति ने अमृत-बन्धु देवों को जन्म दिया। वे देवता उस सलिल में महोत्साह प्रकट करने लगे। वे मानों नाचने लगे जिससे तीव्र धूलि उठी। देवों ने मेघों की तरह सारे विश्व को ढक लिया। आकाश में निगूढ़ सूर्य उत्पन्न हुआ।[26] इस प्रकार क्रमशः सारे पदार्थ उत्पन्न हो गए।

सृष्टि का दूसरा रूप नित्य सृजन से सम्बन्ध रखता है। आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि आकाशस्थ नीहारिका-मण्डल में से अनेक नीहारिकाएँ नित्य प्रति नष्ट होती रहती हैं। उनके छोटे-छोटे टुकड़े तो चूर्ण होकर अन्य ग्रहों पर बरस जाते हैं; परन्तु बड़े पिण्ड नवीन सृष्टि के केन्द्र बन कर अपने मण्डल में गति करने लगते हैं। पृथिवी पर भी नित्य विनाश और निर्माण का कार्य चलता रहता है। प्राणियों के शरीर जरा के माध्यम से क्षण-प्रतिक्षण मृत्यु के ग्रास बनते चलते हैं और नवीन शरीरों की उत्पत्ति होती रहती है। स्थूल सृष्टि की तरह सूक्ष्म-सृष्टि भी चलती है। प्राणियों के प्रत्येक कार्य, उन कार्यों का मनोगत — वैचारिक रूप और विचारों को व्यक्त करने वाला शब्द — ये सभी नित्य सृजन प्रक्रिया के अंग है।

---

22 वही० पृ० 19

23 डॉ सुधीर कुमार गुप्त--वेद लावण्यम् भाग 2 पृ० 5।

24 ऋग्वेद 10।129

25 ऋग्वेद 10।129।3

26 तां (अदिर्ति) देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥
यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूढमा सूर्यमजभर्तन ॥ ऋ० 10।72।5-7

गो का सम्बन्ध सृजन की इन दोनों प्रक्रियाओं से है। सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक प्राणात्मक देवों से अधिष्ठित भौतिक पदार्थ समान रूप से विनाश और सृजन के विषय बनते आये हैं। सृष्टि की यह प्रक्रिया ब्रह्माण्ड में चल रही है। प्राणात्मक देवों का सम्बन्ध गो से पहले कहा जा चुका है। वे ही ब्रह्माण्ड में सृजन रूप-गति का संचालन कर रहे हैं। विचार, विचार के वाहक शब्द और उसके क्रियात्मक स्वरूप की सृष्टि का आधार मानव शरीर है। यह उल्लेखनीय है कि सृजन की प्रक्रिया दोनों ही स्थानों पर एक समान है।

इन प्रक्रियाओं का विवेचन करने के पूर्व संक्षेप में पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्वरूप समझ लेना उचित होगा।

मानव शरीर और ब्रह्माण्ड

ऋषि रहस्यवादी थे। उनके रहस्यात्मक चिन्तन का प्रारम्भ ज्ञाता और ज्ञेय से होता है और दोनों की एकता में समाप्ति हो जाती है। उनके लिए ज्ञेय विषय रहा है—स्वयं का शरीर और ब्रह्माण्ड। रहस्यवादी प्रत्येक क्षेत्र में एकत्व खोज लिया करता है।'[27] शरीर एवं ब्रह्माण्ड में एकता देखने का कारण ऋषियों की रहस्य-प्रियता ही ज्ञात होती है।

शरीर की कल्पना एक पुर के रूप में की गई है जिसमें 8 चक्र है 9 द्वार।[28] नाभि और ब्रह्मरंध्र समेत इसमें 11 द्वार हैं।[29] शरीर में मूर्धातत्त्व (ज्ञान तत्त्व) और हृदय तत्त्व (संवेद तत्त्व) से मिलकर देवकोश का विस्तार हुआ है,[30] जिसकी रक्षा, अन्न, प्राण और मन रूपी तीन रस्सियाँ भली प्रकार लिपट कर करती हैं जिसे नव द्वारों के पुण्डरीक के रूप में जाना गया है।[31] इस पुर में हिरण्यय कोश या ब्रह्मपुरी है जिसमें रहने के कारण ब्रह्म को पुरुष कहा गया है।[32] यह पुरी देवकोश के आधारभूत सत्, चित् और आनन्द तथा मन, प्राण और अन्न के मूलतत्त्व सत्त्व, रज, तम से निर्मित है। इस तीन आरों और तीन पुट्ठियों के ज्योतिर्मण्डित स्वर्गरूप हिरण्ययकोश में देह का स्वामी यक्ष विराजमान हैं।[33]

हिरण्ययकोश में आनन्द-विज्ञान-मनोमयरूप विश्वसृट् आत्मा की प्रतिष्ठा होती है जो वाक्, प्राण, मन से बने शरीर में अपने को व्यक्त करती है।

---

27 T. G. Mainker : Mysticism in the Rigveda P. 5

28 अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। अथर्ववेद 10।2।31, तुलनीय श्वे० उ० 3।18

29 पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः—कठ० उ० 2।2।1

30 अथर्ववेद 10।2।26-27

31 अथर्ववेद 10।8।43

32 अथर्ववेद 10।2।28

33 अथर्ववेद 10।2।31-32 [देवकोश और हिरण्ययकोश के वर्णन के लिए वैदिक दर्शन—पृ० 2–4 द्रष्टव्य।

शरीर पाँचकोशों से निर्मित:है–आनन्दमय कोश (हिरण्यय कोश); विज्ञानमय-कोश (देवकोश); मनोमयकोश, प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोश। आहारमय शरीर अन्नमयकोश कहलाता है जिसके ऊपर संवेदशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्तियाँ कार्य करती रहती है। आहारमय शरीर में वायु के रूप में प्राणमयकोश समाया हुआ है जो शरीर में उष्णता बनाए रखता है। मूर्धातत्त्व और हृदयतत्त्व का संयुक्त रूप मन प्राणमयकोश में मनोमयकोश के रूप में व्याप्त है। अन्नमयकोश और प्राणमयकोश के व्यापारों को यही चलाता है। मनोमयकोश को उसमें व्याप्त विज्ञानमयकोश संचालित करता है। विज्ञानमय ज्ञानतत्त्व की सर्वोत्कृष्ट-शक्ति है। यह मन, प्राण और अन्न के कोशों का बीज है। विज्ञानमय को शक्ति आनन्दमयकोश से मिलती है।[34] इनमें अन्नमय स्थूल शरीर है, मनोमय सूक्ष्म शरीर और विज्ञानमयकोश कारण शरीर है।[35] इनसे सम्बन्ध रखने वाली क्रमश: जागरित (क्रिया प्रधान); स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ हैं। आनन्दमय से सम्बद्ध तुरीमावस्था है।[36]

शरीरस्थ पुरुष इच्छा, ज्ञान और क्रिया द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करता है। यही उसका सृजन है। शरीर या पुर त्रिविध है भूतमय, दैवतमय और आत्ममय।[37] क्रिया का साधन भूतमय शरीर है। उसमें निहित दैवतमय (सूक्ष्म शरीर) ज्ञान का वाहक है और आत्ममय शरीर इच्छा का जनक—शरीरस्थ प्रजापति।

ब्रह्माण्ड की कल्पना भी प्रजापति-पुरुष के शरीर (पुर) के रूप में की गई है। सर्वप्राणि-समष्टि-रूप ब्रह्माण्ड-देह–वाले विराट् पुरुष का वर्णन ऋग्वेद में पुरुष सूक्त[38] में मिलता है जो अनन्त शिर, अक्षि व पादवाला है और ब्रह्माण्ड गोलक को परिवेष्टित करके उस (ब्रह्माण्ड) के बाहर भी स्थित रहता है।[39] अतीत, वर्तमान और भविष्य का यह सारा जगत् (इदं सर्वम्) पुरुष ही है, वही अमृतत्व का स्वामी है। उसी से प्राणियों के उपभोग्य अन्न द्वारा कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् इस अवस्था को प्राप्त होता है।[40] यह जगत् तो उसकी महिमा मात्र है, वह पुरुष इससे भी अधिक है। त्रिकालवर्ती प्राणि-जात और समस्त भूत उसके चतुर्थांश हैं, तीन अंश तो अमृतस्वरूप हैं, जो उसके प्रकाशस्वरूप में अवस्थित हैं।[41] उस विराट्-पुरुष से विराट् ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। उस ब्रह्माण्ड-रूपी-देह को अधिकृत करके उसमें अधिपुरुष प्रविष्ट हुआ। विराड् व्यतिरिक्त अधिपुरुष से भूमि आदि लोक व उन पर जीवों के पुर उत्पन्न हुए।[42] देवता-गण इस पुरुष में संकल्प रूप आहुति देने लगे और मानस-यज्ञ का विस्तार हुआ।[43] सर्वात्मक पुरुष के सर्वहुत

---

34 वैदिक दर्शन पृ० 4-9
35 वैदिक दर्शन—पृ० 9
36 वैदिक दर्शन—पृ० 9-11
37 पं० मधुसूदन झा–विज्ञानविद्युत्—पृ० 2
38 ऋग्वेद 10।90
39 वही 10।90।1
40 वही 10।90।2
41 वही 10।90।3
42 ऋ० 10।90।5
43 वही० 10।90।6

यज्ञ से विविध पशु—गो, अश्व, अजा, अवि आदि, ऋक्-साम-यजु-विविध छन्द, चार वर्ण, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु आदि उत्पन्न हुए।[44] इस प्रकार पुरुष सृष्टि को उत्पन्न करके ब्रह्माण्ड-शरीर में स्थित है। ब्रह्माण्ड में उसके द्वारा यज्ञ प्रवर्तित हो रहा है जिसका लघु संस्करण जीव-शरीर में भी चल रहा है।[45] जीव के शरीर के अन्तर्गत चलने वाले इच्छा, ज्ञानादि व्यापार और शरीर द्वारा प्रवर्तित क्रियाओं का प्रवर्तन ब्रह्माण्ड-शरीर के समानान्तर ही होता है।

ऊपर पुरुष को ही जगत् कहा गया है। पुरुष के तीन रूप होते हैं—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और अव्यय पुरुष। विकार संघ का उपादान कारण क्षर-पुरुष है। अपने इसी रूप से वह परिवर्तमान जगत से अभिन्न है। क्षर पुरुष के अन्तर्गत अक्षर पुरुष का निवास है। यह विकारों का जनक निमित्त कारण है। उसके भी अन्तर्गत अव्यय पुरुष है।[46] एक गूढ़ोऽत्मा पुरुष-प्रजापति इन तीनों का आयतन होता है जो प्रतिव्यक्ति भिन्न होने से अनन्त है। इनसे भिन्न असीम, निरुपाधिक, दिग्देशकालादि से अनवच्छिन्न बलसमुद्रात्मा—ब्रह्मभाव परात्पर है। बलोपाधि से भी भिन्न विशुद्ध रस मात्र की बुद्धि से कल्पना सम्भव हो, तो वह रस निर्विशेष कहा जाता है।[47] निर्विशेष ही तुरीय कहा जाता है। शांखायन ब्राह्मण में 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'[47] कहकर पुर, पुरुष, परात्पर और निर्विशेष की ओर संकेत किया गया है।

कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, प्रजावर्ग और वित्तवर्ग इन पंचलक्षणों से समवेत विकारसंघ शरीर का आश्रय भूत क्षरपुरुष है।[48] प्रतिष्ठामय ब्रह्मा, यज्ञमय विष्णु, वीर्यमय इन्द्र, विकासमय अग्नि और संकोचमय सोम—इन पंच लक्षणों से समवेत क्षरपुरुष का नियन्ता अक्षर पुरुष है। ये पाँचों शरीरों के नियामक होते हैं। ब्रह्मा प्रतिष्ठा प्राण है, विष्णु आकर्षण प्राण है और इन्द्र उत्क्षेपण प्राण है उत्क्षिप्त-प्रतिष्ठित अक्षरविशेष अग्नि कहा जाता है और आकृष्ट-प्रतिष्ठित-अक्षरविशेष सोम है। इस प्रकार प्रतिष्ठा-प्राण सबका आधार है। उत्क्षेपण-प्राण से कृश होने पर प्रतिष्ठा-प्राण में अशनाया (विष्णु—आकर्षण प्राण) परकीय रसों को अपने में आकर्षित करता है।[49] इस प्रकार प्रतिष्ठाप्राण अन्य प्राणतत्वों को समन्वित किए रहता है।

अव्यय पुरुष उपर्युक्त कार्य और कारण का भी कारण है। वह माया बल से अन्य सब बलों को उत्पन्न करता है, प्रतिष्ठित करता है और विलीन करता है।[50]

---

44 वही 10.90.8-13
45 वही 10।90।15-16
46 पं० मधुसूदन झा—विज्ञान विद्युत्-पृ० 2
47 शांखायन ब्राह्मण 3।2
48 विज्ञानविद्युत् पृ० 3-4
49 वही० पृ० 5
50 वही पृ० 11

अव्यय की पंचभक्तियाँ है—आनन्द, विज्ञान, मन प्राण और वाक्। अव्यय की इन कलाओं से ही पंचकोश अवगत होते हैं।[51]

पुरुष रस तत्त्व है पुर बलतत्त्व। इन दोनों का अन्योन्यबन्धन हृदयग्रन्थि के नाम से जाना जाता है। हृदय ग्रन्थि का सम्पादन ही सृष्टि है। सृष्टिक्रम धारावाहिक रूप से निरन्तर चला करता है। हृदयग्रन्थि का भेदन ही मोक्ष का कारण है।[52]

शरीर और ब्रह्माण्ड में सादृश्य और एकता

अव्यय-पुरुष की कलाओं से भूतजात विकारसंघ की उत्पत्ति के प्रसंग से शरीर और ब्रह्माण्ड में सृजन की समान प्रक्रिया चलती है यह ऊपर वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्ड और शरीर का स्थूल दृष्टि से अवलोकन करने पर यह सादृश्य और भी स्पष्ट हो जाता है। उपनिषदों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की सदृशता पर विस्तार से विचार किया गया है।[53] ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार शरीरस्थ वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोभ, मल, अपान व रेतस् की समानता क्रमश: ब्रह्माण्डस्थ अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, ओषधि वनस्पतियों, चन्द्रमा, मृत्यु और आप: से है। यह समानता अन्ततोगत्वा एकता में परिणत हो जाती है क्योंकि ये सब क्रमश: पुरुष के मुख, नासिका, आंख, कान त्वचा, हृदय, नाभि और शिश्न से उद्भूत हैं।"[54] पिण्ड और ब्रह्माण्ड के रचना तत्त्वों और शक्तियों (देवताओं) की एकता से, दोनों के पुरुषों (पुर में रहने वालों) की एकता दिखाई दी। अत: मानव शरीर का प्राण-पुरुष वही है जो आदित्य का।[55] ऋग्वेद में भी कहा गया है वह सूर्य प्रत्येक पुर में उद्गत होता है।[56] जैसे पिण्डाण्ड का प्राण, अपान आदि वायु में विभक्त है और उसमें प्राण श्रेष्ठ है वैसे ही आधिभौतिक प्राण (इन्द्र) भी आदित्य आदि सभी देवताओं में विभक्त प्रतीत होता है जिनमें वायु श्रेष्ठ है।[57] शरीरस्थ वाक्, प्राण, मन क्रमश: ब्रह्माण्डीय पृथिवी, वायु और द्यौ: के समकक्ष हैं। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सादृश्य और एकता विद्यमान है।

शरीर पुरुष और उसकी शक्ति गो

शरीर की इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों का मूल प्रकृति के सत्त्व, रज और तमस् गुणों में खोजा गया है। प्रकृति का एक अंश शरीर में बुद्धि, चित्त और मन के रूप में विद्यमान रहता है। विज्ञानमय कोश में एकोन्मुखी होकर संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति,

---

51 विज्ञानविद्युत् पृ० 29 व 31
52 वही पृ० 33-34
53 प्रश्नोपनिषद् 1।8, 3।4-9, 1।3-7, तै० उ० 2।2।2-5
छां० उ० 1।1।5, आदि, वैदिकदर्शन पृ० 63-68
54 एतेरेयोपनिषद् 1।1।1-4
55 तै० उ० 3।10।4
56 ऋ० 7।62।2
57 वैदिक दर्शन पृ० 72

संकल्प, ऋतु, असु, काम और वश आदि नामों से अभिहित पराशक्ति विद्यमान रहती है, जो बुद्धि, चित्त और मन के साथ बहुमुखी होकर काम करने वाली शक्ति से अभिन्न है। डॉ० फतहसिंह के अनुसार यह शक्ति आगम ग्रन्थों में (मनोमय के साथ होने से) समनी व (उससे ऊपर होने से) उन्मनी कही गई है।[58] शक्ति गति का ही दूसरा नाम है। अतः विज्ञानमय और मनोमय कोशों से गो का सम्बन्ध ज्ञात होता है।

गो मेध्य पशु माना जाता है। मेधा विज्ञानमयकोश से सम्बद्ध है, अतः गो का भी इससे सम्बन्ध प्रमाणित होता है। ऋग्वेद से गो के विशेष गतिभाव का नाम संज्ञान व्यंजित होता है।[59] गो को सौरभेयी (सुरभि पुत्री), वशा, कामदुघा आदि नामों से संबोधित किए जाने का कारण भी सुरभि, वश और काम से गो का सम्बद्ध होना ही प्रतीत होता है। तैत्तिरीय आरण्यक में मेधा को सुरभि से अभिन्न माना गया है —

दैवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषताम् ।

आ मां मेधा सुरभिर्विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगती जगम्या ।
उर्जस्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुरभिर्जुषताम् ।।[60]

ऐतरेयोपनिषद् में भी गो को प्रज्ञान में प्रतिष्ठित कहा गया है।[61] ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ।[62]

इस मन्त्र का अर्थ है 'मेरी धीतियाँ (प्रज्ञा या कर्म या बुद्धि या स्तुतिकर्म) बहुतों के द्वारा द्रष्टव्य वरुण की इच्छा करती हुई गमन करती हैं जैसे गौएँ गव्यूति की ओर जाती हों।' मंत्र 'यन्ति' क्रिया गति-अर्थक है और उपमा-वाचक वाक्य में आये हुए 'गावः' 'गव्यूति' आदि पदों से गुण-साम्य की व्यंजना करती है। 'गव्यूति' शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ हैं—(i) गौएँ इसमें मिश्रित रहती हैं (गावो अत्र यूयन्ते इति), (ii) गौओं के सम्मिलन में (गोर्यूतौ) तथा (iii) गौओं की गति है जिसमें (गवां यवनमत्रेति)।[63] गोपद गतिभाव के कारण शक्ति का द्योतक है। विविध शक्तियों का मिश्रण जिसमें होता हो वह गव्यूति विज्ञानमयकोश ही ज्ञात होती है। सारी शक्तियाँ मिलकर-एक भूत होकर विज्ञानमय में परा के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं। गव्यूति' को विज्ञानमयकोश मानने पर उपमार्थक वाक्य का अर्थ होगा—'जिस

---

58 वैदिक दर्शन पृ० 22-23 संज्ञानादि प्रज्ञान के नाम ऐ० उ० 3।1।2
59 ऋ० 10।15।4 'रहस्यमयी गो' शीर्षक अनुच्छेद भी द्रष्टव्य
60 तै० आ० 10।41-42
61 ऐ० उ० 3।1।3
62 ऋ. 1।25।16 [डॉ फतहसिंह के अनुसार इस मंत्र में चित्तवृत्तियों को परा में जाने की प्रार्थना की गई है। वैदिक दर्शन पृ० 23]
63 व्युत्पत्तियों के लिए द्रष्टव्य ऋ० 1।25।16 पर सायण भाष्य।

प्रकार शरीरस्थ विविध गतियाँ एक केन्द्रीभूत शक्ति के रूप में विज्ञानमय में प्रतिष्ठा लाभ करती हैं।' इस प्रसंग में उपमेय वाक्य का अर्थ होगा 'वैसे ही मेरी धीतियाँ (अंगुलियाँ लक्षणा से कर्म और कर्म प्रेरक प्रज्ञारश्मियाँ) अन्तःकरण की (विज्ञानमय की) 'परा' शक्ति में प्रतिष्ठित हों।[63अ]

श्री अरविन्द ने गौओं को मति या बुद्धि माना है। ऊपर दिये हुए प्रज्ञान के नामों में एक नाम मति भी प्रयुक्त हुआ है। इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विज्ञानमयकोश में रहने वाली परा शक्ति ही आदिगो है। यह परा ही एकीभूत स्थिर पद है[64] जिस पर आनन्दमय अरुष (सोम) व्यक्त होता है जो गौओं के अभिमुख त्रिपृष्ठ रूप से प्रकट है।[65] गो की त्वचा के ऊपर सोम को रखे जाने का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।[66] गो त्वचा को सोम शोधक भी माना गया है।[67] गो त्वचा पराशक्ति रूप गो ही ज्ञात होती है। त्वचा का कार्य स्पर्श करना मात्र है। विज्ञानमय की गो भी आनन्दमय का स्पर्श मात्र करती है। गो का नाम अदिति भी है। एक मंत्र के अनुसार मेधावी लोग सूक्ष्म बुद्धि द्वारा वेग के उत्पादक वाजिन्-आनन्दमय कोष को अदिति के क्रोड में अनुभव करते हैं।[68] गोत्वचा या पराशक्ति को आनन्दमय की शोधिका इसलिए कहा गया ज्ञात होता है कि जहाँ गो क्षर व अक्षर पुरुषों के साथ विविध रूपों में संयुक्त है वहां आनन्द-मय-स्थित-अव्यय पुरुष का केवल स्पर्श मात्र करती है उसे व्याप्त नहीं करती। डॉ फतहसिंह के अनुसार इच्छा, ज्ञान, क्रिया के क्षेत्रों को तीन पुर कहा गया है और पराशक्ति इन तीनों में और तीनों से भी ऊपर रहने के कारण 'महात्रिपुर-सुन्दरी' कही जाती है।[69]

शरीर में इन्द्रियों की संज्ञा देव है।[70] गो के देव-सम्बद्ध रूप का विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। क्रिया भेद से गो उनकी माता है, पुत्री है और स्वसा

63अ ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार 'गावः''''प्रज्ञानेत्रम्', गौएँ प्रज्ञा—विज्ञानस्य शक्ति द्वारा ले जाई जाती है। 'प्रज्ञानेत्रम्' का ही व्याख्यान शब्दान्तर द्वारा इस मंत्र में 'उरुचक्षसम्' पद द्वारा हुआ ज्ञात होता है।

64 ऋग्वेद 1।39।3 (परा ह यत्स्थिरं हथ) (वै० द० पृ० 23)

65 परा व्यक्तो अरुषो दिवः कविर्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि। ऋग्वेद 9।71।7 (वै० द० पृ० 3) (त्रिपृष्ठ पद इच्छा, ज्ञान, क्रिया के समन्वित रूप के आधारभूत विज्ञानमय का संकेतक है। विज्ञानमय के रूप में प्रकट होने वाला यहाँ आनन्दमय कहा गया है।)

66 ऋग्वेद 1।28।9, 9।66।29, 9।101।11; 16 आदि

67 ऋग्वेद 9।70।7

68 ऋग्वेद 9।26।1 वाजिन्-वेगवान-सायण।

69 वैदिक दर्शन पृ० 23

70 मुण्डकोपनिषद् 3।1।8

है तथा और अनेक प्रकार से सम्बद्ध है। इन विविध देवताओं से सम्बद्ध अनेक रूपों वाली गौएँ दीपक के समान प्रकाशमान हृदय स्थित प्रकाशात्मा की अनन्त रश्मियाँ हैं।[71] ये सभी रश्मि रूप गौएँ पराशक्ति रूप गो में एकीभूत हो जाती हैं।

विज्ञानमय के अधिष्ठान मनोमयकोश का अधिपति सोम है। सोम इन्द्र का प्रिय पेय है। सोम पान करके ही इन्द्र सारे पराक्रम दिखाता है।[72] इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों से इसका सम्बन्ध है। बुद्धि या विज्ञान से अनुशासित पंच-ज्ञानेन्द्रियों में वह इन्द्र स्वयं को विभाजित करके प्राण शरीर में विषयों का उपभोग करने के लिए संयुक्त कर देता है। शरीर इसका रथ है, कर्मेन्द्रियाँ अश्व और मन रूप से वह स्वयं नियन्ता है; प्रकृति मय प्रतोद है जिससे वह शरीर को चक्र के समान गतिशील बनाये रखता है।[73] विज्ञानमय रूप आदित्य ही सोमप्रिय इन्द्र ज्ञात होता है जिसे स्वराट् कहा गया है।[74] उसकी गति सर्वत्र है। वही अद्वैतभाव से उपेत होकर हिरण्ययकोश में अमरज्योति वाला सम्राट् बनता है और वही प्राण और वाक् से संयुक्त होकर विविध कर्मों का कर्ता बनता है। समस्त देवों को वह अपनी कर्म सामर्थ्य से विभूषित करने वाला है।[75] गो रूप में वही विराज् है। सम्राज, विराज् और स्वराज् तीनों का सम्बन्ध राज् — प्रकाशयुक्त होने से है। सम्राज् का नाना रूपों में प्रकाशित होना ही उसका विराज् स्वरूप (विविध रूपों में प्रकाशन) है। सम्राज् को अनेक करने वाली उसकी शक्ति विराज् है जो वाक् ही है।[76] डा० फतहसिंह के अनुसार द्वैत या नानात्व की अवस्था में वाक् को विराज् तथा ब्रह्म को 'विराजो अधि पुरुषः' विराट् पुरुष या विराज का पति कहा जाता है।...... अद्वैत ब्रह्म को द्वैतता तथा विविधता की ओर ले जाने वाली वाक् वास्तव में दूसरी अवस्था (विज्ञानमय) में ही प्रारम्भ हो जाती है और दूसरी अवस्था से लेकर पाँचवीं अवस्था अन्नमय तक अपना कार्य करती रहती है; परन्तु, जब कि दूसरी अवस्था में वाक् पुरुष से संयुक्त रहती है, तीसरी से लेकर पांचवीं अवस्था तक ये दोनों एक दूसरे से पृथक्-पृथक् होकर नानात्मक हो जाते हैं।[77]

उपर्युक्त मान्यता सत्य प्रतीत होती है क्योंकि वाक् से अभिन्न होने पर ही इन्द्र गो कहला सकता है[78] अन्यथा उसे 'गोपा'[79] वा गोपति ही[80] कहा गया है। गौएँ

---

71 अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि। मैत्रायणी आरण्यकम् 6।30

72 ऋग्वेद 2।15।1-9

73 मैत्रायणी आरण्यकम् 2।6

74 ऋग्वेद 1।61।9; 3।45।5, 7।82।2 आदि।

75 देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् — ऋ० 2।12।1

76 सा ते कामदुहिता धेनुरुच्यते यामाहु वाचं कवयो विराजम्।
अथर्ववेद 9।2।5

77 वैदिक दर्शन पृ० 53

78 ऋग्वेद 6।28।5

79 ऋग्वेद 5।31।1

80 ऋग्वेद 1।101।4; 8।62।7, 8।69।4, 10।47।1, 10।108।3 आदि

इन्द्र के आदेश में रहती हैं[81] तथा उसे अत्यन्त प्रिय है।[82] उपर्युल्लिखित स्वराज् इन्द्र विज्ञानमय पुरुष का ही नाम है। उसकी एकीभूत अव्याकृत शक्ति मनोमय, प्राणमय और अन्नरसमय में नानारूप होकर व्याकृत या व्यक्त हो जाती है। इन अवस्थाओं में अपनी विविधरूप से प्रकाशित (राजने वाली) शक्ति के कारण ही वह विराज् पुरुष कहा जाता है।[83]

डॉ० फतहसिंह ने अनुसार सम्राज्, स्वराज् और विराज् प्रकाश-तत्त्व की दृष्टि से एक होने पर भी प्रकाशभेद से भिन्न हैं। भेद विषयीकरण का है। ब्रह्म को एकत्व से अनेकत्व में बदलने वाली ब्रह्म की विषयीकरण की शक्ति ही विराज् या वाक् है[84] जिसे गतिभाव के कारण गो कहा गया है।

ब्रह्माण्ड में गो

शरीर में जैसे गो शरीरस्थ पुरुष को अनेकत्व में बदलने वाली होती है वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी वह विविध आधिदैविक शक्तियों के विकास में कारणभूत होती है। आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोशों की तरह ब्रह्माण्ड में स्वयंभू ब्रह्मा, परमेष्ठी विष्णु, आदित्यात्मक इन्द्र, सोम और अग्नि के अधिष्ठान स्वरूप 5 मण्डल हैं—स्वयंभू मण्डल, परमेष्ठी मण्डल, आदित्य मण्डल, चन्द्रमण्डल, और पृथ्वीमण्डल।[85] प्रकृति को वेद में गाय के रूप में देखा गया है।[86] वह गो रूप प्रकृति इन सभी मण्डलों में व्याप्त है। प्रकृति की 5 कलाएँ इन मण्डलों में क्रमशः स्वायम्भुवी, पारमेष्ठिनी, सौरी, चान्द्री और पार्थिवी गौओं के रूप में व्याप्त हैं। इन्हीं को उपर्युक्त नामों वाली वाक् भी कहा गया है।[87]

स्वायम्भुवी गो

शतपथ ब्राह्मण में प्राण को ही गो माना गया है।[88] इन गौओं को ऋग्वेद में समान रूप वाली, अनेक रूपों वाली और एक रूप वाली कहा गया है जो अंगिराओं के तप से उत्पन्न हुई।[89] गौओं की तरह ऋषि[90] विशेषतया अंगिरा[91]

---

81 ऋग्वेद 2।12।7 यस्य प्रदिशि गावः।

82 प्रिया इन्द्रस्य धेनवः—ऋग्वेद 1।84।11

83 वैदिक दर्शन पृ० 54

84 वही पृ० 55-56

85 मधुसूदन झा–विज्ञान विद्युत् पृ० 10-11

86 डॉ० फतहसिंह––वैदिक समाज शास्त्र में यज्ञ की कल्पना पृ० 7

87 पं० मोतीलाल शर्मा-संस्कृति और सभ्यता पृ० 382-8।

88 प्राणो हि गौ-शतपथ 4।3।4।25 गो० उ० 3।19

89 ऋ० 10।169।2

90 " 10।62।5

91 " 3।53।7, 10।62।6

भी अनेक रूपों वाले (विरूप) कहे गये हैं। आनन्दमयकोश की विज्ञानमय-स्थित परा शक्ति एक होते हुए भी अनेकरूपा हो जाती है यह ऊपर कहा गया है। आधिदैविक जगत् में भी इसी तरह एकरूपा और अनेकरूपा गौएँ देखी जाती हैं जो विविध रूपों वाले ऋषि-प्राणों से अभिन्न ज्ञात होती हैं। स्वायम्भुव-ऋषि-प्राण ही गो कहे गये हैं।[92] अथर्ववेदीय ब्रह्मगवी[93] स्वयंभूमण्डल की ऋषि-प्राण-रूपी-गो से अभिन्न ज्ञात होती है। ब्रह्मा से अधिष्ठित होने के कारण ही इसका नाम ब्रह्मगवी हो गया जान पड़ता है। इस गो को वैश्वदेवी भी कहा गया है।[94]

ब्रह्मा के साथ सरस्वती का सम्बन्ध भारतीय साहित्य में बहुधा उल्लिखित है। ब्राह्मी या स्वायम्भुवी गो से सरस्वती को अभिन्न माना जा सकता है।[95] अघ्न्या गो के नामों में एक नाम सरस्वती भी परिगणित हुआ है।[96] शतपथ के अनुसार प्रजापति के मुख से बल स्रवित हुआ। वही बल गौ व वृषभ बन गया।[97] यहाँ स्रवण रूप गति से गो का उद्भव उल्लिखित है। पद्मपुराण के अनुसार—

पुरा ब्रह्ममुखोद्भूतं कूटं तेजोमयं महत्।[98]

ब्रह्मा के मुख से निकलने वाला तेज महद्रूप था। ब्रह्मा को ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के रूप से जाना जाता है। अतः उपर्युक्त महत् तत्त्व ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति की शक्ति का नाम ही ज्ञात होता है। ऋग्वेद में देवताओं का महत् रूप शक्ति (असुरत्व) का उल्लेख हुआ है जो उनके कार्यों में सहायक होती है[99] और गतिभाव की ही द्योतक है। अतः महत् गो से अभिन्न है। "ब्रह्मा या स्वयंभू सृष्टि के पुरुषाकार मूल (बीजप्रदपिता) का प्रतिनिधि है और विश्वात्मिका परम-प्रकृति (महत्, महद्ब्रह्म, प्रधान प्रकृति आदि नामों से प्रख्यात) स्त्री-रूपा मूल है जो पिता के वीर्य से गर्भ-धारण करती है।"[100]

सृष्टि का स्त्री रूप मूल माता—आपस् (आपोदेवी) हैं जिन्हें नारा[101] भी

---

92 संस्कृति और सभ्यता—पृ० 588-89

93 अथर्ववेद 12।5, 5।18, 5।19

94 अथर्ववेद 12।5।53, संस्कृति और सभ्यता पृ० 589

95 सरस्वती हि गौः–यजुर्वेद 38।2 पर शतपथ 14।2।1।7

96 यजुर्वेद वा० सं० 8।43

97 शतपथ 12।7।1।4

98 पद्मपुराण–सृष्टिखण्ड 50।125

99 महद्देवानामसुरत्वमेकम् 3।55।1-22 (महत्, √ महि-वृद्धौ या √ मह पूजायाम् से व्युत्पन्न)

100 Sparks from the Vedic fire-Dr. V. S. Agrawal P. 9

101 आपो नारा इति प्रोक्ताः–मनुस्मृति 1।10

कहा गया है। पुरुष प्रजापति अग्नि है और उसका स्त्री रूप सोम—आप:।[102] ये दोनों तत्त्व स्वायंभुवमण्डल में अभिन्न रहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रजापति अपनी शक्ति-गो से संयुक्त होकर रहता है। इस समय वह स्वराज्, सम्राज् और विराज् रूपों से भी ऊपर रहता है। इसलिए उसे 'ज्येष्ठराज्' के नाम से अभिहित किया गया है।[103] ब्रह्मा से सरस्वती या महत् रूप गो प्रकट हुई, इससे यह सिद्ध है कि उसकी स्थिति ब्रह्मा या स्वयंभू में ही थी। गो को अपने स्वरूप में रक्षित करने के कारण ब्रह्मा (ब्रह्मणस्पति) को सुगोपा या गोपा कहा गया है।[104] हव्यप्रदायिका अनेक रूपों वाली गौओं को उसी ने प्रकट किया।[105] परम व्योम में विद्यमान महान् ज्योति के रूप में उत्पन्न होने वालों में प्रधान वृहस्पति ने अव्यक्तावस्था के तम पर सप्त रश्मियों से प्रहार किया।[106] वह अपने निवास स्थान में सुतृप्त होकर निवास करता है, उसके लिए वहीं सर्वदा इळा (गो) परिपुष्ट बनी रहती है। वह प्रकाश (राजनि—स्वराज्, सम्राज्, विराज्) मे प्रथम गमन करता है।[107] देवगण जिस अगव्यूति क्षेत्र की ओर गमन करते हैं वह स्वयंभू का स्वरूप ही है क्योंकि गो उसमें निविष्ट होने से प्रकट नहीं हो पाती। वृहस्पति उनको गविष्टि (गो-प्राप्ति-कार्य) में लगाते हैं।[108] वृहस्पति के सहायक देवों ने हंसों के समान कोलाहल करना प्रारम्भ किया, तब वृहस्पति ने प्रस्तर द्वारों से निरुद्ध (लक्षणा से—दृढ़तापूर्वक अपने स्वरूप में समाहित) गौओं को उनके लिए मुक्त कर दिया।[109]

एक मंत्र के अनुसार अनृत के सेतु (केतु—प्रज्ञापक) तम में निम्न भाग में दो रूपों से जानी जाने वाली तथा ऊपर से एक रूप गुहा में गौएँ विद्यमान थीं। वृहस्पति ने उस तम में ज्योति की इच्छा से त्रिगुणात्मिका गौओं (प्रकृति के विविध तत्त्वों) को प्रकट किया।[110] गुहा का अर्थ वह रहस्यमय स्रोत या स्थान है जो इस दृश्यजगत् की पूर्वावस्था का द्योतक है।[111] वृहस्पति की गुहा निम्न रूप में एक और पर रूप में एक थी अर्थात् सृजक रूप में प्रतिष्ठा और गति इन दो रूपों में वह विभक्त था; परन्तु था मूलत: एक—अद्वितीय ही।[112] उसी गुहा रूप रहस्य-मय कारण से विविध गतियाँ (गौएँ) उत्पन्न हुईं।

---

102 Sparks from the Vedic fire-P. 9
103 ऋग्वेद 2।23।1
104 ऋग्वेद 2।23।5-6
105 ऋग्वेद 4।50।5
106 ऋग्वेद 4।50।4
107 ऋग्वेद 4।50।8
108 ऋग्वेद 6।47।20
109 ऋग्वेद 10 67।3
110 ऋग्वेद 10।67।4
111 वेदविद्या-डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-पृ० 35
112 प्रजापति के निरुक्त स्वरूप में नामरूपात्मक दृश्य निहित रहते हैं अत: वह द्विधा भासमान होता है, परन्तु उसका अनिरुक्त स्वरूप नामरूप से परे होने से एक है। इसी का नाम गुहा, परोक्ष या अमूर्त है। वही गर्भ है--प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त:·········तस्मिन् भुवनानि विश्वा तस्थु:। यजुर्वेद 31।19

बृहस्पति एक-अद्वितीय रूप से बृहदाकार अण्डे को धारण किये हुए था। हिरण्यगर्भ[113] उसी की संज्ञा ज्ञात होती है। बृहस्पति ने यह जान कर कि समस्त सृजन या गति का गुहा स्थान यही है, पक्षी जैसे अन्डे को फोड कर बच्चे निकालते हैं, उस तरह उसे अण्डे को फोड़कर गौओं को प्रकट कर दिया अर्थात् विविध सृजन रूप गतियों को प्रेरित किया।[114] उसने उषा, सूर्य व अग्नि को पाया (ये सब प्रकाश रूप गो-गति से सम्बद्ध हैं।) और तम को बाधित किया।[115]

स्वयंभू प्रजापति की वह गो जो उसमे संयुक्त थी और सृजन के उपरान्त विविध गतियों के रूप में आविर्भूत हुई, और उसके बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति रूप के साथ उसकी शक्ति के रूप में संयुक्त हुई उसी को स्वायम्भुवी गो या बार्हस्पत्या गो कहा जाता है। ब्रह्मा जगत् का प्रतिष्ठा-तत्त्व है।

विष्णुगवी या कामगवी

ब्रह्मा रूप प्रतिष्ठा-तत्त्व का आश्रय लेकर रहने वाले परमेष्ठी-मण्डल का अधिपति विष्णु है। स्वायम्भुव-मण्डल के ऋषिप्राणों से अंगिरा और सौम्य पितृगण उत्पन्न हुए। अंगिराओं में प्रमुख बृहस्पति का जो स्वयभू प्रजापति से सृजन-क्रिया में अभिन्न हैं, वर्णन हो चुका है। सौम्य पितृ-प्राण परमेष्ठी-मण्डल में रहते हैं। उनकी गति ऋषि प्राणों की ओर होती है।[116] सोम उनको तृप्त करता है तथा अंगिरसों का उपास्य घृत है।[117] सौम्य पितृ प्राणों का भोजन सोममय इट् नामक अन्न- विशेष है। पारमेष्ठ्य गो में यह अन्न पाया जाता है। अतः अन्न को गौ भी कहा गया है।[118] इट् नामक अन्न के कारण गो को इळा कहा गया है।[119] यह इट् नामक सौम्य अन्न ही भूतान्न का आधार है। भूतान्न प्रदात्री पृथ्वी को इळा कहने का कारण भी यही ज्ञात होता है।

---

113 ऋ० 10।121।1 पिटरसन सोने का बीज, दयानन्द सरस्वती-सूर्यादि का धारक परमात्मा (ऋग्वेद भाष्य भूमिका 149), मनुहैम अण्ड-(मनुस्मृति 1।9) सायण सुनहरी अण्डे का गर्भ बना हुआ प्रजापति या सुनहरी अण्डे को धारण किये हुए।

114 ऋग्वेद 10।68।7

115 ऋग्वेद 10।68।9 इस मंत्र में सृष्टि की तमोभूत अप्रज्ञातलक्षण अवस्था का द्योतक तम शब्द है। बृहस्पति ने सृजन कार्य का प्रारम्भ करके उस अवस्था को समाप्त कर दिया।

116 ऋग्वेद 10।154।5

117 सोम एकेभ्य पवते घृतमेक उपासते— ऋग्वेद 10।154।1

118 अन्नमु गौः—शतपथ 7।5।2।19, अन्नं वै गौः—तै० ब्रा० 3।9।8।3, अन्नं हि गौः—शतपथ 4।3।4।25 जै० उ० ब्रा० 3।3।13 यद्धि किं चान्नं गौरेव तत्—शतपथ 2।2।4।13

119 इडा हि गौः शतपथ 2।3।4।34

ऋग्वेद के अनुसार सोम गौरी नामक वाग्विशेष के आश्रित हैं।[120] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार वरुण की वाक् गौरी पारमेष्ठ्य ऋत-समुद्र का पशु है। उसे ही परमेष्ठिनी या आम्भृणी वाक् कहते हैं। उससे महत्तत्त्व का विकास होता है।[121] सर्वत्र व्यापक सोमतत्त्व को, जो अपने प्रकाश से अन्धकार को मारता है, वाक्धारण करती है।[122] उसके विशेषण 'भूर्यावेशयन्ती' तथा 'भूरिस्थात्रा' प्रयुक्त हुए हैं।[123] इस संसार के ऊपर पितरों को वाक् ही उत्पन्न करती है।[124] वाक् के ऊपर दिये हुए दोनों विशेषणों के साथ प्रभूत अथवा दीर्घ शृंगों वाली गौओं की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता जो विष्णु के परमपद में निवास करती हैं।[125]

विष्णु का परम पद[126] ऋग्वेद में बार-बार उल्लिखित गो के परम पद से अभिन्न ज्ञात होता है। परमेष्ठी मण्डल ही वह पद ज्ञात होता है। गोलोक, जिसमें गोसव चलता है, भी यही स्थान है। विष्णु की गौएँ पारमेष्ठिनी कही जाती हैं। पं० मोतीलाल शर्मा के अनुसार कामगवी या कामदुघा भी इसी के नाम हैं। स्वायंभुव-मण्डल-स्थित प्रजापति की कामनाओं का (सृष्टि रूप व्यापार की प्रेरणा द्वारा) दोहन करने के कारण ही पारमेष्ठिनी गो के कामगवी आदि नाम प्रचलित हुए। विद्वानों के अनुसार अंगिरागर्भित भार्गव सोममय पारमेष्ठ्य-सौम्य प्राण ही गो तत्त्व है।[127]

सौरी गो

परमेष्ठी मण्डल में तमः प्रधान आप्यमण्डल (आसुर) और ज्योतिर्मय आप्य-मण्डल (देवमण्डल) आते हैं जिनमें प्रथम का अधिष्ठातृ देवता वरुण हैं व द्वितीय का इन्द्र।[128] इन्द्रप्राणात्मक सूर्य को गो कहा गया है।[129] ऊपर कहे गए देव व असुरों का उद्भव पितृप्राण रूप गौओं से होता है—

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देव दानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः।[130]

---

120 सोमो गौरी अधिश्रितः ऋ० 9।12।3
121 'गौरी' नामक निबन्ध — कादम्बिनी जून 1964 वर्ष 4 अंक 8 तथा विलोडा पृ० 147–48
122 ऋग्वेद 10।125।2
123 ऋग्वेद 10।125।3
124 ऋग्वेद 10।125।7 — यहाँ एक वचन में पिता उल्लिखित है जिसका लक्षणा से बहुवचन में पितरः अर्थ लिया गया है।
125 ऋग्वेद 1।154।6
126 ऋग्वेद 1।22।20,21
127 मोतीलाल शर्मा—संस्कृति और सभ्यता—पृ० 387
128 वही पृ० 565
129 वही पृ० 588
130 मनुस्मृति 3।201

सौरमण्डल में प्रकाशात्मक देवगण और तमोभूत असुर गण रहते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष चला करता है। 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, प्रजापति और इन्द्र–ये 33 देवता हैं। इनमें एक-एक के अनन्त कार्य हैं। उन कार्यों के कारण देवों को 33 हजार, 33 लाख या 33 कोटि तक कहा जाता है। इनका सीधा संघर्ष 99 असुरों से होता है। इन्द्र के मण्डल पर असुरों का आक्रमण होता है और इन्द्र उनको प्रवेश नहीं करने देता। यही देवासुरम् है। देवासुरम की लीला भूत-प्राण और मन इन तीनों क्षेत्रों में हो रही है।[131] भौतिक जगत् में 'देवासुरम्' प्रकाश व अन्धकार का संघर्ष है. अधिदैवत पक्ष में देव और असुर प्राणों का संघर्ष है और मनोजगत् में दैवी व आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष है। ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र का गो विजय के लिए युद्ध 'देवासुरम्' ही है। ऊपर आसुरी जगत् के अधिष्ठाता वरुण कहे कए हैं और दैवी जगत् के इन्द्र। वरुण में देवत्व भी है असुरत्व भी। वह महत्तत्त्व का प्रतिनिधि है, जिसे (-महत्तत्त्व को) देवों का असुरत्व (=बल) माना गया है और वह अवेस्ता के 'अहुरमज्द' के समकक्ष है।[132] वरुण का स्वभाव आवरण डालना है। वह देवत्व से विरहित होने पर असुरों का प्रधान वृत्र बन जाता है। इन्द्र आवरक वृत्र का नाश कर देता है।[133] इन्द्र में भी महान् असुरत्व है। उसका असुरत्व रहित रूप 'मित्र' कहा जाता है। मित्र की इस रूप में केवल कल्पना ही की जा सकती है अन्यथा √मा धातु से व्युत्पन्न मित्र शब्द ब्रह्म के माया द्वारा 'मित' स्वरूप को ही व्यक्त करता है और इसीलिए वह सदैव वरुण से जो स्वयं असुर होने से महत् का वाचक है, संयुक्त माना गया है। मित्र और वरुण दोनों का सम्राजौ[134] विशेषण प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि उनकी सम्राजता पिण्डाण्ड के 'साक्षी सम्राज' के समकक्ष नहीं है।[135]

सौरमण्डल में द्यु, अन्तरिक्ष व भौम ये तीन रोदसी लोक प्रतिष्ठित हैं।[136] सृजन के लिए इन रोदसी विश्वों में माता और पिता अनिवार्य है।[137] रुद्र नामक अग्नि से व्याप्त होने से ही इन्हें रोदसी कहा गया है।[138] इन लोकों में जो देव-शक्तियाँ सृजन कार्य में व्यस्त रहती हैं वे आदित्य की रश्मियों से अभिन्न हैं।[139] रश्मि का नाम गो भी है। अतः वे देवशक्तियाँ गो या गतितत्त्व मानी

---

131 वेदविद्या—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल--पृ० 294
132 वैदिकदर्शन—पृ० 97
133 ऋग्वेद 1।4।8, 8।2 आदि
134 ऋग्वेद 1।136।1,2, 41।6, 5।68।2, 8।23।30 आदि
235 वैदिकदर्शन पृ० 82-83
136 संस्कृति व सभ्यता–पृ० 589
137 डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—भूमिका पृ० 17
138 वही—पृ० 17
139 एते रश्मयो विश्वेदेवा:—शतपथ ब्रा० 12।2।6।6

जाती हैं। सौरमण्डल में सहस्र रश्मियाँ मानी गई हैं। सहस्र रश्मियों वाले वृषभ के रूप में उदय होते हुए सूर्य का वर्णन ऋग्वेद में अनेक बार मिलता है।[140] एक मन्त्र में सूर्यमण्डल की रश्मि-रूप गौओं को प्राजापत्य ऋषि-गोओं से अभिन्न मानकर कहा गया है कि 'इन्द्र सहस्र ऋषियों (ऋषिप्राणों-गौओं) से बली होकर समुद्र के समान विस्तार पाता है।[141] इन्द्र के द्वारा प्रदत्त सहस्र रक्षा-साधन (सहस्र — ऊतिः)[142] सूर्य की सहस्र रश्मियाँ ही ज्ञात होती है जिनके कारण इन्द्र को सहस्राक्ष[143] भी कहा गया है। इन्द्र को सहस्रधनदाताओं में प्रशस्त[144] कहने का कारण भी उसका यह गोदा (गोदाता)[145] स्वरूप ही है। देवताओं के साथ विविध प्रकार से सहस्र संख्या संयुक्त हो जाने का कारण इन्द्र व उसकी सहस्र किरणें ही हैं।

सौरमण्डल की साहस्री-गो का सम्बन्ध विष्णु के परम पद में स्थित मधु-उत्स[146] से ज्ञात होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गो ही साहस्र या शतधार उत्स है।[147] सौरमण्डल की गो विराट् कही गई है। स्वायम्भुव-त्रयीवेद रूप-चतुष्कल-और पारमेष्ठ्य अथर्वरूपा-षट्कला-सुब्रह्म प्रकृति के दाम्पत्य भाव से दशावयव-विराट् का उद्भव होता है। इस विराट् विश्व में पारमेष्ठ्य गो भी विराट् दशावयव-दशाक्षर छन्द की तरह) रूप में रहती है। पारमेष्ठ्य सौम्य या वैष्णव गोतत्त्व सौरमण्डल का सृजन करके उसमें प्रवेश कर जाता है और इन्द्र प्राण से समन्वित होकर रहता है।[148] यजुर्वेद में गो को अदिति और विराज् कहा गया है।[149] प्रकरण में आगे साहस्री मही (गो) का उल्लेख भी हुआ है[150] जिसका सम्बन्ध सूर्य से व्यंजित होता है।[151] इससे प्रकट है कि सौरमण्डल की गो विराज् कही जाती है।

---

140 ऋ० 7।55।7
141 अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। ऋग्वेद 8।3।4
142 ऋ० 8।34।7 तु० ऋ० 3।30।7
143 " 10।161।3
144 " ऋ०1।17।5 तुलनीय 8।34।14, 8।78।1
145 " 3।30।21, 1।4।2, 4।22।10, आदि में गोदाः विशेषण प्रयुक्त।
146 " 1।154।5 (इस उत्स का सम्बन्ध भूरिशृंगा गौओं से ज्ञात होता है।)
147 साहस्रो वा एषः शतधार उत्सः, यद् गौः — शतपथ 7।5।2।34 यजु० वा० सं० 13।49 भी द्रष्टव्य
148 संस्कृति और सभ्यता पृ० 589
149 यजु० वा. सं. 13।43 तुलनीय तांड्य म० ब्रा० 4।9।3 (विराजो वा एतद् रूपं यद् गौः)
150 वही 13।44
151 यजु० वा० सं० 13।45-46

विराज् धेनु जब इन्द्र से समन्वित होती है तो उसके शतक्रतु[152] स्वरूप के कारण सहस्ररूपा हो जाती है।[151]अ "सहस्र गौओं को 33 देवताओं के साथ 30-30 (अहर्गण) के हिसाब से बाँटने पर 990 प्राण (या रश्मियाँ) गोतत्त्व कहे जाते हैं, शेष दस गौएँ या एक दशावयवाविराट 34वाँ प्रजापति है।[153] इन दस में भी 9 की न्यूनाविराट् है जिससे ये प्रजायें उत्पन्न होती हैं—न्यूना द्वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते।[154] दशाक्षरपूर्ण विराट् से सृष्टि नहीं होती 9 अक्षर के न्यून विराट् से ही होती है।[155] शेष एक गो पारमेष्ठिनी-अमृतगवी, कामगवी या सोम्या गो है।[156] ये सहस्र गौएँ विष्णु के व्यतिरिक्त शेष रूप को प्रकट करती है। पुराणों के अनुसार सहस्र मुखों वाले अनन्त पर विष्णु अधिष्ठित रहते हैं। गो सार्पराज्ञी भी कही गई है।[157] सम्भवतः पुराणों में सर्पाकृति-शेष की कल्पना का आधार यही हो।

ऊपर जिस साहस्री गो का वर्णन किया गया है उसका समस्त देवताओं से सम्बन्ध सिद्ध है इसलिए उसे वैश्वदेवी गो[158] कहा जाता है जो ब्रह्मगवी का ही रूप है और देवों की मनोता भी है।[159]

आन्तरिक्ष्य-रौद्री गो

साहस्री गो की 333 महिमाएँ द्युलोक में रहती हैं, 333 अन्तरिक्ष में और 333 पृथ्वी लोक में।[160] इन गौओं में व्याप्त इन्द्र सौरमण्डल में मघवा कहलाता है; अन्तरिक्ष में मरुत्वान् और पृथ्वी में वासव कहलाता है। अन्तरिक्ष की गो सरस्वती भी कहलाती है।[161] पूर्वोक्त स्वायंभुवमण्डल की सरस्वती से इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है। स्वायंभुव मण्डल में वह सत्यावाक् के रूप में वेदमय ब्रह्मा से अभिन्न मानी जाती है जब कि मध्यम लोक में वह पारमेष्ठिनी ऋतावाक् से उद्भूत, इन्द्र से संयुक्त और 'स्वर' तथा अग्नि से संयुक्त होकर ध्वनि के उद्भव में कारणभूता

---

151 अ सहस्राक्षरा वै परमाविराट् तां० म० ब्रा० 25।9।4

152 ऋग्वेद 1।30।1, 1।51।2, 1।54।6 3।51।2 4।30।16 आदि

153 वेद का स्वरूप विचार – पं० मोतीलाल शर्मा पृ० 40-41

154 तैत्तिरीय ब्राह्मण 11।1।2।4

155 दशमहाविद्या—पं० मोतीलाल शर्मा—कल्याण शक्ति अंक (पृ० 101) में प्रकाशित निबन्ध।

156 संस्कृति और सभ्यता पृ० 589-90 तथा शतपथ 6।5।2।17, ऐ० ब्रा० 4।15 कौ० ब्रा० 27।4 भी द्रष्टव्य।

157 कौ०ब्रा० 27।4

158 वैश्वदेवी वै गोः—गोपथ उ० 3।19

159 शांखायन ब्राह्मण 10।6, ऐ० 2।10 आदि

160 संस्कृति और सभ्यता पृ० 589-90

161 निघण्टु 5।5 में सरस्वती नाम मध्यमस्थानीय देवताओं में पठित है।

होती है। उसे भी मरुत्वान् इन्द्र की तरह मरुत्वती[162] कहा गया है। 'आप:' को भी गो मरुत्वती[163] कहा गया है जिनके गो से अभिन्न होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयंभू से सम्बद्ध पराप्रकृति रूप सरस्वती ही अन्तरिक्षीय आपस्तत्व से संयुक्त होकर मरुत्वती माध्यमिका वाक् बन गई है। अन्तरिक्ष में वह देवी और नदी (प्रवहमान जलों) के रूप में अवस्थित है जबकि स्वयंभू प्रजापति के लोक में वह शुद्ध वाग्रूपिणी है।[164]

सरस्वती वाक् को मध्यम स्थान में मरुतों का सहयोग मिला है। ये मरुत् आपस्तत्त्व के प्रेरक अग्नि रूप हैं। इनका उद्भव माता पृश्नि और पिता रुद्र से हुआ है।[165] पृश्नि को ही कदाचित् रौद्री गो कहा गया है।[166] अन्तरिक्ष में व्याप्त रुद्र नामक अग्नि[167] जलीय अंश से शान्त होने पर सौम्य बन जाते हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में रुद्र का नाम सोम भी प्रचलित है। अत: सोम्या गो रौद्री गो से अभिन्न ज्ञात होती है। इनमें अन्तर केवल गुण-धर्म का है। स्थान तो अन्तरिक्ष ही है।

अन्तरिक्षस्थ गो का नाम अदिति भी है।[168] अदिति का यह स्वरूप द्युस्थानीय आदित्यों की जन्मदात्री अदिति से भिन्न ज्ञात होता है। डा० फतहसिंह ने अदिति के दो रूपों—सारी सृष्टि को भक्षण करने वाली सृष्टि का पोषण करने वाली–का उल्लेख किया है।[169] ऐसा ज्ञात होता है कि अदिति की यह द्विधा प्रकृति अन्तरिक्षस्थ गो की है। वह रौद्री रूप में भक्षक है और सौम्या रूप में पोषणकर्त्री। आदित्यादि सौरतत्त्वों की उत्पादिका अदिति अखंडनीया-प्रकृति (√ दो अवखण्डने धातु से) है। ऋग्वेद में कहा गया है कि अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति।[170] यहां अदिति का प्रथम स्वरूप अविभाजित असीम प्रकृति का द्योतक है और दूसरा अन्तरिक्षीय अदिति का।[170अ]

---

162 ऋग्वेद 2।30।8 163 ऋ० 1।80।4

164 निघण्टु 1।11, 5।5 और 1।13 में सरस्वती शब्द वाक्, पद और नदी नामों में पठित हैं।

165 ऋग्वेद 2।34।2 तुलनीय-ऋग्वेद 1।114।6,9, 2।33।1, 1।23।10 5।52।16, 6।66।3 आदि

166 शतपथ 5।2।4।13 (यद्गौस्तेन रौद्री); तै० ब्रा० 2।2।5।2

167 रुद्र नामक गरमी—डा० सुधीरकुमार गुप्त, वेदलावण्यम् भाग 2 भूमिका पृ० 9

168 निघण्टु 5।5 में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में अदिति नाम पठित।

169 वैदिकदर्शन पृ० 101-102 दो रूपों का आधार दो व्युत्पत्तियाँ— 1 अत्तीति तथा 2 अद्यते इति।

170 ऋग्वेद 10।72।4

170अ Woodroffe : World as power: Power as continuity P. 74-80

अन्तरिक्षीय देवताओं की प्रमुख विशेषता है रसवृष्टि। गो भी रस प्रदान करती है। अन्तरिक्ष में सूर्य किरणों से संयुक्त सोमतत्त्व का पार्थिव-आग्नेय-रश्मियों से विनिमय चला करता है। इसको सोमक्रयण की संज्ञा दी जाती है। हविर्यज्ञों में सोमक्रयणी बछिया देकर सोम खरीदने की क्रिया सम्पन्न की जाती है वह अन्तरिक्षीय रश्मि-व्यापार की प्रतीक मानी जा सकती है।

पृथिवीमण्डल की--आग्नेयी या वासवी गो

पार्थिव वसु-अग्नि से अनुप्राणित, सौरी व अन्तरिक्षस्था गौओं की तरह 333, महिमा भावों में विभक्त गो आग्नेयी कही गई है।[171] वसुओं से सम्बद्ध होने से वासवी भी इसी का नाम है।[172] पृथिवीमण्डल में स्वयं पृथिवी भी गो कही गई है। वह देवताओं के लिए हव्यपदार्थों को उत्पन्न करती है और अग्नि उनको वहन करके देवताओं तक पहुँचाता है। अग्नि इस धेनु का वत्स है।[173] उसे वृषभ भी कहा गया है।[174]

पंचनाम्नी गो और उसके पंचदोह

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि स्वायंभुव मण्डल से लेकर पृथ्वीमण्डल तक गो व उसके दोहों का विस्तार है। डा० फतहसिंह के अनुसार पाँच धाम इन्द्रलोक, देवलोक, मनुष्यलोक, असुरलोक और ऋषिलोक हैं। विराज् नामक गो इन धामों में विस्तृत नामरूपात्मक सृष्टि के लिए दूध देती फिरती है। विराज् जीवादि की पोषक भी है और पोषण-पदार्थों की स्रष्टा भी। वह इन धामों में उत्क्रमण करती हुई दूध देती है।[175] अथर्ववेद में विराज् को पंचनाम्नी गो भी कहा गया है। उसी के पंचदोह प्रसिद्ध हैं।[176] ऋग्वेद में पंचनाम्नी गो का नाम नहीं मिलता; परन्तु 'पंचोक्षा'[177] का उल्लेख अवश्य मिलता है। उनका सम्बन्ध उपर्युक्त पांच लोकों से ज्ञात होता है। जो 5 दिव्य-उक्षा सेक्ता ब्रह्माण्ड में विविध सृजक-शक्तियों को अपने-अपने व्यापार में लगाकर उनके सृजन-सामर्थ्य से सिंचित कर देते हैं, वे हैं —

---

171 शतपथ 7।5।2।9

172 संस्कृति और सभ्यता—पृ० 589-90

173 ऋग्वेद 3।55।4, 1।95।4

174 ऋग्वेद 5।2।12 तुलनीय 10।8।2

175 वैदिकदर्शन पृ० 230 [ऋषिलोक स्वायंभुव मण्डल का, इन्द्रलोक सौरमण्डल का, देवलोक परमेष्ठी मण्डल का, असुरलोक अन्तरिक्ष मण्डल का और मनुष्य लोक पृथिवीमण्डल का पर्याय है।]

176 अथर्ववेद—8।9।15

177 अमी ये पंचोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। ऋ० 1।105।10
[डा० सुधीरकुमार गुप्त ने उक्षों को सृजकशक्तियाँ माना है]

स्वयंभू प्रजापति— स्वायम्भुवी गो का सेक्ता,
विष्णु परष्ठी—पारमेष्ठिनी गो का सेक्ता,
इन्द्र—सौरी गो का सेक्ता,
रुद्र—आन्तरीक्ष्य गो का सेक्ता, तथा
अग्नि—पार्थिव, वासवी गो का सेक्ता ।

ये पंचोक्षा पाँच मण्डलों की सृजकशक्ति—गौओं में वीर्य सेचन करते हैं जिससे उनमें वात्सल्य भाव का प्रतीक दुग्ध–पोषकतत्त्व उत्पन्न होता है । डॉ वासुदेव-शरण अग्रवाल के अनुसार जल में वृषभ का शुक्र या आग्नेय गुण घृतकण के रूप में संयुक्त होने पर दुग्ध बनता है ।[178] उपर्युक्त पाँच सेक्तावृषभ अग्नि के ही विविध रूप हैं जो आपस्तत्त्व-गौओं में घृत-प्रकाश सृजन सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं । इन गौओं में निहित घृत रूप सृजनसामर्थ्य में अग्नि व्याप्त रहता है । इसीलिए घृत को अग्नि का प्रियधाम कहा गया है ।[179] उपर्युक्त पाँच धाम भी घृत की स्थिति के अनुसार ही कल्पित किये गए ज्ञात होते हैं ।

पांच धामों या मण्डलों की गौएँ जब सृजन कार्य में प्रवृत्त होती हैं तो उसे 'दोह' की संज्ञा दी गई ज्ञात होती है । सृजन कार्य अन्ततः मन, प्राण और वाक् तत्त्वों की सम-क्रिया का द्योतक है ।[180] मनस्तत्त्व के लिए प्राणतत्त्व से सगर्भा होकर वाक् दूहन क्रिया में प्रवृत्त होती है । वाक् का वाक् नाम भी मन और प्राण को गतियुक्त करने के कारण ही हुआ है—उश्च (प्राण:) अश्च (मन:) इति व: तमंचति इति वाक् । 'प्रणव' के अ, उ और म् अक्षरों का भी त्रिवृद् भाव से सम्बन्ध ज्ञात होता है जिससे विश्वरूप माना गया है ।[181]

प्रत्येक मण्डल या धाम में कुछ तत्त्व मन रूप है कुछ प्राण रूप और वाक् उनको अपने से मिलाकर अव्यक्त से व्यक्तावस्था में ला देती है । वाक् या गो का दोहन सर्वत्र मन-वत्स के लिए ही होता है ।

ऋषिलोक का दोहन

जब विराज् गो स्वयंभू प्रजापति रूप उक्षा से सिक्त होकर उत्क्रमण करती

---

178 वैदिक विज्ञान और भारतीय—भूमिका पृ० 19
179 एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद्घृतम् । तै०ब्रा० 1।1।6
180 'त्रिवृद् वा इदं सर्वम् ।' डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने त्रिवृत् भाव की संज्ञा मन, प्राण, वाक् मानी है । वेद विद्या पृ० 87
181 ओमितीदं सर्वम्—तैत्तिरीयोपनिषद् 1।8।1 माण्डूक्योपनिषद् 1।1 भी देखें ।

[कदाचित् प्रणव शब्द में भी प्र—और ण प्राण और मन के आद्यन्त प्रतीक हों और 'व' दोनों के संयुक्त रूप का सूचक हो । यह संयोग मिथुन प्रक्रिया से होता है । तु० क० मोनोस्लेबिक ओरिजिन ऑफ दी वैदिक लैंग्वेज—सुधीर कुमार गुप्त ।

है तो ऋषिलोक या स्वायंभुवमण्डल में उसे ऋषि ब्रह्मण्वती के नाम से पुकारते हैं और बृहस्पति दोग्धा बन कर व सोम को वत्स बना कर, छन्द के पात्र में ब्रह्म व तप का दोहन कर लिया करते हैं।[182] ऋषि 7 है जिनके उपजीव्य ब्रह्म और तप है।[183] ऐसा ज्ञात होता है कि बृहस्पति ने जिस धेनु का दोहन किया वह सप्तर्षिरूपा स्वायंभुवी गो है। सप्तगुह्यनाम[184] इसी गो के होने सम्भव हैं। कदाचित् बृहस्पति को सप्तगु[185] कहने का कारण भी उनका यह दोहन ही है। बृहस्पति को सप्तास्य[186] कहने का सम्बन्ध भी दोहन से ज्ञात होता है।[186] एक मंत्र के अनुसार सोम (वत्स) भी सप्तमुखों (सप्तास्येभि:) से रसहरण करके समस्त रूपाकृतियों को व्याप्त कर लेता है।[187] सप्तशीर्ष वाली, ऋतप्रजाता बृहती (विराज्--गो)[188] को प्राप्त करके उसमे विश्वजन्य उक्थ (सृष्टि का उत्पादक संगीत) प्राप्त कर लेना बृहस्पति का अलौकिक (तुरीयम्) कार्य है[189] और ब्रह्मण्वती विराज के दोहन से अभिन्न ज्ञात होता है। सातमुखों से जिन सप्तर्षियों को दुहा उनका परमरूप अन्तत: एक है,[189] वही गोरूप है। बृहस्पति ने उसे ही दुहा।

पितृलोक का दोहन

विराज् ने परमेष्ठी उक्षा से सिक्त होकर पितरों के निवासस्थान में उत्क्रमण किया। वहाँ उसे स्वधा कहकर पुकारा गया। राजा यम उसका वत्स हुआ, मार्त्यव अन्तक दोग्धा, रजत पात्र में उससे स्वधा का दोहन किया गया जो पितृगण की उपजीव्य है।[190] ऋग्वेद में यम की अविनाशी 'गव्यूति' का उल्लेख मिलता है।[191] ऋषि अंगिरा ही पितृलोक में पितर बन जाते ज्ञात होते हैं। आंगिरस पितरों से भिन्न सौम्य भृगु व अथर्वा पितर हैं।[192] 'नवग्वा:' नवनीत (घृत)-प्रिय

---

182 अथर्ववेद 8।10।4 (13-16)

183 वही मंत्र 16

184 ऋग्वेद 1।164।3 (ग्रिफिथ का अनुवाद)

185 ऋग्वेद 10।47।6 (सप्तगु इस सूक्त का ऋषि भी है। डॉ० सुधीरकुमार गुप्त (ऋग्वेद के ऋषि उनका सन्देश व दर्शन) के अनुसार ऋषिनाम मंत्रार्थ के सूक्ष्म संकेत हैं। अत: यह व्यक्ति वाचक नाम नहीं है वरन् बृहस्पति के कर्मों का सूचक है।)

186 ऋग्वेद 4।50।4

187 " 9।111।1

188 वैदिक दर्शन पृ० 199 यहाँ विराज् वाक्, बृहती आदि को समानार्थक माना गया है।

189 ऋ० 10।82।2(ऋषि गौओं से अभिन्न हैं। अत: गोदोहन ऋषिदोहन है।)

190 अथर्ववेद 8।10।(4)। 5-8।

191 ऋ० 10।14।2

192 " 10।14।6 इस मन्त्र में दोनों तरह के पितरों का नाम आता है।

अंगिरस पितरों का नाम है जिनकी गति नित्यनवीन बनी रहती है।[193] उनके साथ बहुधा उल्लिखित दशग्वा' दस माह में सिद्धि पाने वाले भृगु पितर हैं।[194] एक मन्त्र में मार्गदर्शी पूर्वज ऋषियों का उल्लेख हुआ है।[195] इससे पितरों से पूर्व ऋषियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। 'दशग्वाः' का सम्बन्ध सौरी दशाक्षरा विराट् की प्राथमिक अवस्था से तथा 'नवग्वाः' का न्यूना विराट् से होना सम्भव है।

पितृगण के साथ स्वधा का सम्बन्ध बहुधा उल्लिखित है।[196] अंगिराओं ने अपने तप से गो को उत्पन्न किया।[197] देवों व पितरों से परामर्श करके प्रजापति ने गो मनुष्यों को दी।[198] पितृगण अरुणी गौओं के बीच में बैठते हैं[199] इतना होने पर भी ऋग्वेद में पितृलोक के दोग्धा अन्तक का नाम नहीं आया है। यम के वत्सकर्म का उल्लेख भी नहीं मिलता। एक मन्त्र के अनुसार त्रिष्टुप् गायत्री आदि छन्द यम को अवगत हुए।[200] इससे पता चलता है कि यम का सम्बन्ध स्वाम्भुव मण्डल के दोहनपात्र–छन्दों से है। यम के साथ चार आँखों वाले, शबलवर्ण वाले, पथ-रक्षक, प्राणों से तृप्त होने वाले (असुतृपा) उसके दो दूतों—सरमा देवशुनि के पुत्रों का उल्लेख भी मिलता है।[201] डा० फतहसिंह ने सारमेय श्वानों को रात्रि व दिन माना है।[202] यज्ञ द्वारा अथर्वा ने जिस मार्ग का वितान किया और जिस पर व्रतपा, कान्त-सूर्य कर्मरत हुए वह दिन व रात्रि रूपी श्वानों द्वारा रक्षित ज्ञात होता है। उस मार्ग द्वारा ही गौएँ आईं या प्राप्त हुईं। कविपुत्र उशना ने तब यम के अमृत-स्वरूप यज्ञ का प्रवर्तन किया।[203] ऋग्वेद में यम-जननी

---

193 ऋ. 1।36।6, 5।45।7, 11, 6।6।3, 22।2, 10।14।6 आदि उनकी नवगति व नवनीतप्रियता के लिए देखें ऋग्वेद 1।62।4 पर स्कन्दस्वामी भाष्य। तुलनीय 10।154।1

194 ऋ० 1।62।4, 3।39।5, 5।29।12 आदि।

195 ऋ० 10।14।15

196 ऋ० 10।14।7, 10।15।3, 13, 14

197 " 10।169।2

198 " 10।168।4

199 " 10।15।7

200 ऋ० 10।14।16

201 " 10।14।10-12

202 Yama and Pitrs–Journal of the Benaras Hindu University May Number 1939

203 यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्यजातममृतं यजामहे॥
ऋग्वेद 1।83।5

[स्कन्दस्वामी ने यहाँ यम को शाकपूणि की साक्षी से यज्ञ अथवा (उसका प्रवर्तक) आदित्य माना है।]

(यमसू:)[204] का उल्लेख भी हुआ है जो दो यमों (यमौ) – इन्द्र और अग्नि को जन्म देती ज्ञात होती है।[205] अश्विनीकुमार भी यम (यमौ) कहे गये हैं।[206] डॉ० फतहसिंह के अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में त्रिवृत् रथ को चलाने वाले 'अश्वनौ' हैं जो यथार्थ में 'दिवः दुहित्रा' या दो उषाएँ (उषारात्रि) हैं।[207] ये गति-आगति, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, आकाश-पृथिवी, उषा-रात्रि, प्राण अपान उदय-अस्त आदि द्वन्द्वों को प्रकट करते हैं और केवल उषा या केवल रात्रि कहे जाते हैं।[208] यम इन सबका नियमन करता है। नियमन करने के कारण ही द्यावापृथिवी को भी 'यम्यौ' (यम्या) कहा गया हैं।[209] यम और उससे सम्बद्ध सृजन शक्तियों के नियमन कार्य का एकदेशीकरण भी पितृलोक में हो जाता है।[210] ऋग्वेद में अन्य (यमन व्यापार में) सहयोगियों के साथ यम के अपने निवास-स्थान में पान करने का (सम्भवत: गोदुग्ध का, जिसे यम वत्स बनकर प्राप्त करता है) उल्लेख मिलता है।[211] पितरों को ऋतुओं से अभिन्न माना गया है।[211अ] इसलिए ऋतुओं के प्रवर्तक संवत्सर की प्रथम रात्रि (अष्टका) को अथर्ववेद में यम की धेनु कहा गया है। व्युष्टियों में यह उषा की प्रथम व्युष्टि है (अर्थात् सृजन का प्रारम्भ यहीं से होता है।) जो उत्तरोत्तर दोहन करती है।[212] यम सृजन की इस प्राथमिक अवस्था को ही गो मानकर उसकी दूहन सामर्थ्य को जगाने के लिए वत्स बनता है।

इन्द्र लोक का दोहन

इन्द्र देवलोक का अधिपति माना जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, असुर देवलोक पर आक्रमण करते हैं और इन्द्र उनका उत्क्षेपण व वध करता रहता है। असुर अन्धकारमय लोक में रहते हैं और देव प्रकाशधाम में। प्रकाश

---

204 ऋ० 3।39।3

205 " 6।59।2 — 206 ऋ० 2।39।2

207 वैदि० दर्शन पृ० 168 — 208 वही पृ० 168-69

209 ऋ० 9।68।3 यम्या संयती विममे। (यहाँ यमन व्यापार निर्माण का सूचक है।)

210 यम की व्युत्पत्ति यास्क ने (नि० 10।3।6) √ यम् उपरामे से मानी है। इससे यह व्यंजना भी निकलती है कि सृजन सामर्थ्य अन्य दिशाओं से उपरत होकर एकदेशी कृत होकर कार्य करती है। रात्रि और उषा में रात्रि कार्यों से उपरत करती है और उषा शक्ति का एकदेशी कृत करके कर्मरत होने को प्रेरित करती है।

211 ऋ० 1।135।1

211अ शतपथ 2।6।142 मनुस्मृति 3।217

212 अथर्ववेद 3।10।1 [संवत्सर और उसकी व्युष्टियों का परिचय आगे दिया जायेगा]

और अन्धकार का संग्राम आपस्तत्त्व के प्रकाशित व अप्रकाशित रूपों से सम्बन्ध रखने के कारण परमेष्ठी मण्डल से भी सम्बद्ध है; परन्तु उसका प्रवर्तक सूर्य है अत: इन्द्रलोक में उसका उल्लेख किया गया है ।

विराज् ने इन्द्र से सिक्त होकर उत्क्रमण किया । वह देवताओं में गई और वहाँ उसे ऊर्जा कहकर पुकारा गया । इन्द्र उसका वत्स बना, चमस पात्र बना और सविता ने देवों के उपजीव्य ऊर्ज् को दुहा ।[213]

इन्द्र असुरों से निरुद्ध गौओं को जीतता है, उन्हें प्राप्त करता है, उनका पालन करता है और गौएँ उसके लिए प्रचुर दुग्ध दुहती हैं ।[214] उसे गौएँ बहुत प्रिय हैं ।[215] अथर्ववेद में वशा गो का उल्लेख है[216] जिसे डा० फतहसिंह ने प्रकृति का वाचक माना है[217] उसमें व्याप्त वशी नामक योद्धा इन्द्र ही है[218] जो उनका स्वामी है ।[219] सविता में दोग्धा के सब गुण पाये जाते हैं । गायों को यातना देकर विष के समान दुग्ध पीने वाले दुष्टों को वह उच्छिन्न कर डालता है ।[220] सविता के साथ अन्य धेनुओं से पृथक् एक धेनु--वरूत्री (वाक्) का उल्लेख मिलता है ।[221] कदाचित् इन्द्र वत्स के लिए इसी धेनु का दोहन किया जाता है । दूध दुहते हुए सविता की उसकी घृतस्नुत भुजाओं से सूचना मिल जाती है ।[222] एक मंत्र के अनुसार वह यज्ञार्ह देवों के लिए अमृतत्त्व के उत्तम भाग को उत्पन्न करता है ।[223] सम्भवत: यह अमृतत्त्व का भाग उसके द्वारा दुहा गया सौरी गो का दुग्ध हो । इन्द्र को वत्स कहने से उपलक्षणा से यह भी समझा जा सकता है कि सारे देवता गो के वत्स हैं । ऋग्वेद के एक मन्त्र में वृहती धेनु को 'पुरुपुत्रा' कदाचित् इसी उद्देश्य से कहा गया है, इन्द्र के सहस्र पराक्रमों के अनुरूप ही वह सहस्र धारा का दूहन करती है ।[224]

इन्द्र से सम्बद्ध अन्तरिक्षीय अन्य दोहन

इन्द्र से सम्बद्ध, सूर्य से उत्पन्न गन्धर्व और अप्सरस् प्राणतत्त्व हैं । इनमें गन्धर्व

---

213 अथर्ववेद 8।10।5 (1-4)
114 द्रष्टव्य—'गो तथा अन्य देवता' अनुच्छेद का 'इन्द्र व गो' अंश ।
215 ऋ० 1।84।11
216 अथर्ववेद 10।10
217 वैदिक समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना—पृ०7
218 ऋ० 1।101।4
219 ऋ० 8।69।2, 10।47।1, 10।108।3 आदि
220 ऋ० 10।87।18
221 ऋ० 7।38।5
222 घृतेन पाणी अभिप्रष्णुते—ऋग्वेद 7।71।1
223 ऋ० 4।54।2
224 ऋ० 10।74।4 तुलनीय ऋग्वेद 10।133।7

पुरुष हैं अप्सरायें स्त्री रूप। यजुर्वेद के अनुसार अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, विश्वव्यचा वात, भुज्यु-सुपर्ण यज्ञ, विश्वकर्मा प्रजापति—मन गन्धर्व हैं और इनसे सम्बद्ध क्रमशः औषधि रूपा मुद् नामक, मरीचि-रूपा आयुव नामक, नक्षत्ररूपा भेकुरि नामक, आप:रूपा उर्ज नामक, दक्षिणारूपा स्तावा नामक तथा ऋक्सामरूपा एष्टयः नामक अप्सराएँ हैं।[225] द्यावा-पृथिवी की तरह गन्धर्व और अप्सराएँ सृजन शक्तियों के पुरुष व स्त्री रूप युग्म के द्योतक हैं। पुराणों में 12 आदित्यों से सम्बद्ध गंधर्व और अप्सराओं के नाम मिलते हैं।[226] गन्धर्व और अप्सराएँ आदित्य द्वारा प्रवर्तित ज्योतिष्टोम के यजमान व यजमानपत्नी जान पड़ते हैं।

गन्धर्वों व अप्सराओं का दोहन

विराज् ने उत्क्रमण किया, वह गन्धर्वाप्सरसों के पास आई। उन्होंने पुण्य-गन्धा कह कर उसका आह्वान किया। चित्ररथ सौर्यवचस उसका वत्स बना, वसु-रुचि सौर्यवर्चस ने पुष्कर पत्र में उससे पुण्यगन्ध का दोहन किया जो गन्धर्वाप्सरसों का उपजीव्य होती है।[227]

ऋग्वेद में गंधर्व और अप्सरस् शब्दों का प्रयोग तो हुआ है, परन्तु उसके दोहन का उल्लेख नहीं मिलता। एक मन्त्र के अनुसार गन्धर्व के ध्रुवपद में मेधावी घृतयुक्तपय पीते हैं।[228] गन्धर्वों के साथ पय का इतना ही सम्बन्ध ऋग्वेद में उल्लिखित है, परन्तु सोम,[229] आदित्य[230] आदि को भी गन्धर्व कहा गया है। उनके लिए दोहनादि का पृथक विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

सर्पों का दोहन

सर्पों का दोहन डा० फतहसिंह ने कद्रू नामक माया[231] के पुत्र[232] माना है। अन्धकारमयी तथा बन्धनात्मिका सर्प राज्ञी कद्रू को उन्होंने देवमया सार्पराज्ञी सुपर्णी की भी माँ माना है।[233] इस दृष्टि से उनके अनुसार 'पृश्नि गौ' पिण्डाण्ड में जीवनी शक्तिरूपी अन्तर्ज्योति ब्रह्माण्ड में प्रकाशमान सूर्य है। इस दृष्टि से वह वाक् है और आगमग्रन्थों की सुप्त कुण्डलिनी भी है जो जागने पर सुपर्णी कहलाती

---

225 यजुर्वेद 18।38-43

226 विष्णुपुराण 2।10।1-22

227 अथर्ववेद 8।10 (5) 5-8

228 तयोरिद् घृतवत् पयो विप्रारिहन्ति धीतिभिः।
गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे॥ ऋ० 1।22।14

229 ऋ० 9।86।36

230 " 9।83।4, 85।12

231 वैदिकदर्शन पृ० 150 कद्रू–असुर माया है—वैदिकदर्शन पृ० 155

232 वही पृ० 155

233 वही पृ० 156

है।[234] ऋग्वेद में कद्रू शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, परन्तु एक मंत्र में 'कद्रीची'[235] गो का विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिसे 'कद्रू' अर्थवाची माना जा सकता है। वहाँ उसका अर्थ है—'अज्ञात लक्ष्य से विचरण करने वाली।'[236] अन्धकारमय अज्ञात लोकों में विचरण करने से ही वह सर्पों को जन्म देती है।

सर्पों के लिए भी विराज् धेनु दूहन करती है। वह उत्क्रमण करके जब उनके पास जाती है तब वे उसे विषवती कह कर पुकारते हैं। वैशालेय तक्षक वत्स बनता है और धृतराष्ट्र ऐरावत अलाबु पात्र में सर्पों के उपजीव्य विष का दोहन कर लेता है।[237]

यजुर्वेद में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अनेक रूपों में व्याप्त सर्पों का वर्णन है।[238] ऋग्वेद में ऐसा वर्णन नहीं मिलता। असुरों को अहि अवश्य कहा गया है।[239] √ अहि-गतौ, √ अहि आप्यायने अथवा √ अह् व्याप्तौ धातु से व्युत्पन्न 'अहि' व √ सृप्-गतौ से व्युत्पन्न सर्प शब्द सृजन प्रक्रिया के विशेष गतिभाव के ही वाचक हैं।

इतरजनों का दोहन

विराज् उत्क्रमण करके इतरजनों के पास पहुँची। उन्होंने कहा – हे तिरोधे, यहाँ आओ।

कुबेर वैश्रवण वत्स बना। रजतनाभि काबेरक ने उसे दुहा और आम-पात्र में तिरोध को ही दुहा जो इतरजनों का उपजीव्य है।[240]

अग्नि आदि देवताओं के तिरोहित रूप[241] ही इतरजन ज्ञात होते हैं। उन्हें विराज् की 'तिरोध' शक्ति प्राप्त होती है। वे तिरोहित रहते हुए भी सृजन कार्य में प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद में तिरोध दोहन का वर्णन नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि देवताओं के तिरोहित रूप के साथ इसको अथर्ववेद में ही संयुक्त किया गया है।

---

234 वही पृ० 157
235 ऋ० 1।164।17
236 Dr. V. S. Agrawal—Vision in Long darkness P. 67
237 अथर्ववेद 8।10।5 (13-16)
238 यजुर्वेद वा० सं० 13।6-8
239 ऋ० 1।32।5,8,13, 79।1, 2।31।6, 5।41।16, 6।49।14 आदि।
240 अथर्ववेद 8।10।5 (9-12)
241 'तिरोहित अग्नि' का उल्लेख ऋ० 3 9।5 में हुआ है। इसी तरह प्रत्येक देवता के तिरोहित रूप सम्भव है। उन्हें तिरोध शक्ति विराज् से ही मिलती है।

असुरों का दोहन

देवों को महत् के कारण असुरत्व की प्राप्ति हुई है।[242] अतः सामान्यतया सभी देवों को ऋग्वेद में असुर कहा गया है।[243] देवों में देवत्व भी रहता है। इसीलिए वे देव-शत्रु असुरों से भिन्न हो जाते हैं।

विराज् धेनु उत्क्रमण करके असुरों के पास गई। उन्होंने उसका आह्वान किया—'माया आओ।'

प्रह्लाद पुत्र विरोचन उसका वत्स हुआ। आत्रस-पाज था। द्विमूर्धात्व्यं ने उससे असुरों की उपजीव्य माया को दुहा[244]

ऋग्वेद में शुष्ण,[245] वृत्र[246] आदि मायावी असुरों तथा अदेवी माया[247] का उल्लेख मिलता है। मायावी असुरों का वध इन्द्र माया द्वारा ही करता है।[248] इन्द्र अपनी माया द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है।[249] इसीलिए उसे 'मायी' भी कहा गया है।[250] अग्नि[251], अश्विनी[252], मित्रावरुण[253], सूर्य[254], सोम[255] आदि देवताओं के साथ भी माया का उल्लेख हुआ है। वरुण की जिह्वा माया को कहा गया है।[256] वरुण की माया का 'मही' नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[257] मही वाक् और गो का वाचक भी है। अतएव देवताओं के साथ संयुक्त गो या वाक् कही जा सकती है। देवताओं में सृजन-कार्य की सामर्थ्य दैवी वाक् से ही उत्पन्न होती है; परन्तु असुरों में वह तमस्प्राय कर्म-बल की जनक होती है। जिसे देवता नष्ट करने को तत्पर रहते हैं। ऋग्वेद में इसे ही अधेन्वा वाक् कहा गया है जो माया बल से

---

242 महद्देवानामसुरत्वमेकम् 3।55।1-22

243 द्रष्टव्य 'गो व अन्य देवता' परिच्छेद।

यथा ऋग्वेद	1।24।14	(वरुण)
	1।25।10	(सविता)
	1।54।3	(इन्द्र)
	1।64।2	(मरुत्)

244 अथर्ववेद 8।10।4 (1-4)

245 ऋ० 1।11।7

246 ऋ० 1।32।4; 1।51।5

247 " 5।2।9

248 " 1।51।5, 5।30।6, 10।147।2

249 " 3।53।8, 6।47।18

250 " 10।99।10

251 " 1।114।1, 3।20।3, 3।27।7

252 " 5।78।6, 6।63।5

253 " 1।151।9 तुलनीय 10।147।5

254 ऋ० 1।160।3

255 " 9।83।3

256 " 9।73।9

257 5।85।5-6 (हिन्दी ऋग्वेद में माया का अर्थ प्रज्ञा बल किया गया है।)

विचरण करती है। यह पुष्पवती व फलवती नहीं होती इसलिए सृजन कार्य में असमर्थ है।[258] देवताओं के दिव्यबल से संयुक्त होने पर ही यह सृजन कार्य में समर्थ होती है।

महद्, माया और असुरत्व ऋग्वेद में समानार्थक शब्द ज्ञात होते हैं जो देवों की सृजन सामर्थ्य के वाचक हैं। देवीशक्तियों का सृष्टि में पुरुरूप होना उन्हीं के कारण सिद्ध है।

मनुष्यलोक का दोहन

पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार इन्द्र अक्षर पुरुष के द्वारा चारों ओर प्राण प्रसारित किए जाते हैं, तब एक तरफ जाने वाले प्राणों का समूह, एक मनु नाम का प्राण पृथक् बन जाता है। उसके पुरुष, अश्व, गो, अज और अवि ये पाँच भेद हो जाते हैं। इनके परस्पर तारतम्य से अनन्त प्राणी बन जाते हैं।[259]

मनु सौरतत्त्व है। डा० फतहसिंह के अनुसार सप्तहोताओं द्वारा मनु आदित्यों के लिए प्रथम यज्ञ करता है।[260] मनु और मनु का यज्ञ एक हैं और इनसे सारे भुवन की सृष्टि होती है।[261] विविध प्राणियों का विकास पृथ्वी पर होता है। अतः पृथिवीमण्डल को मनुष्यलोक भी कहा जाता है मनुष्यलोक का दोहन पृथिवी के प्राणियों के निमित्त होता है।

विराज् धेनु उत्क्रमण करके मनुष्यों के पास आई। मनुष्यों ने कहा—'इरावती आओ।' वैवस्वत मनु वत्स बना। पृथिवी-पात्र में वैन्य पृथी ने मनुष्यों के उपजीव्य कृषि व सस्य को दुहा।[262]

ऋग्वेद में मनुष्यों के साथ इळा का उल्लेख मिलता है।[263] मित्र और वरुण की इरावती धेनुओं का वर्णन भी हुआ है। कदाचित् ऐसी धेनुएँ तीन है जिनके तीन वृषभ तीन लोकों में अधिष्ठित हैं।[264] इनमें से अन्तरिक्षस्थित इरावती वाक् को पजन्य से सम्बद्ध किया गया है, यह अरुणवर्णा है और इसका कार्य वर्षा करना है।[265] अन्तरिक्षस्थित वाक् के अतिरिक्त दो अन्य इरावती वाक् द्यावापृथिवी है। इनकी मनुष्यों के लिए अन्नादि प्रदान करने की इच्छा का उल्लेख हुआ है।[266] ये

---

258 ऋ० 10।71।5

259 वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति—पृ० 133

260 वैदिक दर्शन—पृ० 105 ऋ० 10।63।7 भी देखें।

261 वही पृ० 106। ऋ० 4।56।6,58।9,6।70।3 भी देखें।

262 अथर्ववेद 8।10।4 (9—12)

263 ऋग्वेद 3।4।8, 7।2।8 तुलनीय 10।110।8

264 ऋग्वेद 5।69।2 इरावतीर्वरुण धेनवो वां मित्र।

265 ऋग्वेद 5।63।6 तुलना करें ऋ० 5।83।4

266 ऋग्वेद 7।99।3

तीनों, जो एक विराज धेनु के ही पृथक्-पृथक् रूप हैं, मनुष्य के लिए कृषि व सस्य का दूहन करती हैं।

इन तीन इरावती धेनुओं का क्षेत्र मनु प्राण के विचरण का क्षेत्र है। पार्थिव प्रजा मनु की है।[267]

यज्ञ और यज्ञपदी गो

ऋग्वेद में इरावती धेनुओं द्वारा मानवी प्रजा को प्रवर्तित करने के कार्य को यज्ञ कहा गया है। मनु ही इस कार्य को करने वाला है अतः उसे भी यज्ञ कहा गया है। इसी प्रसंग में अदिति को सर्वताति-सब यज्ञ क्रियाओं का विस्तार करने वाली कहा गया है।[268]

मनु की प्रजा का उल्लेख ऊपर किया गया है। उसको पिता भी कहा गया है।[269] अतः जैसा कि परवर्ती साहित्य में माना गया है, ऋग्वेद में भी उसका प्रजापति रूप प्रस्तुत हुआ है। ऋग्वेद में प्रजापति के यज्ञ का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है। यह यज्ञ अनेक तन्तुओं द्वारा विश्व में फैला हुआ है। देवगण अपने कर्मों द्वारा इसका विस्तार करते हैं और पितृगण वस्त्र की तरह इसका वयन करते हैं।[270] पुरुष इसका सन्तान व अन्त करने वाला है, जो नाक (स्वर्ग) से इसका सन्तान करता है। सब तेजपुंज देवता इसमें आसीन होकर साम वितान में भाग लेते हैं।[271] विविध छन्द अग्नि, सवितादि देवताओं के सहायक हुए।[272] सारे देवता जगत् में प्रविष्ट हो गए जिससे ऋषि, पितर व मनुष्य हुए।[273] डा० फतहसिंह के अनुसार यह यज्ञ पुरुषसूक्त के यज्ञ के समान ही है, जहाँ देवलोग पुरुष का यजन करके नानारूपात्मक सृष्टि करते है।[274] उनके अनुसार यज्ञ का अर्थ ही नानारूपात्मक सृष्टि है।[275]

यज्ञ का प्रवर्तन वेद से होता है। वेद प्रतिष्ठा-तत्त्व ब्रह्मा का अधिष्ठान है। पं० मधुसूदन झा के अनुसार केन्द्रस्थ अग्नि से प्रवर्तमान एकविंशस्तोम तक अन्नादाग्नि समुच्चित वाक् ऋक् है, आदित्य से प्रवर्तमान ब्रह्म में सोमाहुति रूप, प्राणाग्नि समुच्चिता वाक् साम है, इन ऋक् और साम के मध्य में चर-स्थिर भेद से द्विधा विभक्त वाक् यजुः है—गतिमान् भाव यत्-वायु है और स्थितिमान् भाव आकाश—जू है। दोनों का सन्धान यजुः है। वायुआकाशरूप यजुः से ही सब यज्ञ,

---

267 ऋग्वेद 1।96।2

268 यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे।
ऋ० 10।100।5

269 ऋग्वेद 2।33।13 तुलनीय 1।80।16

270 ऋ० 10।130 1

271 ऋ० 10।130।2

272 वही मन्त्र 4 व 5

273 वही मन्त्र 5 व 6

274 वैदिक दर्शन पृ० 106

275 वही पृ० 106

प्रजा लोक और धर्म प्रवर्तित होते हैं। नानारूपात्मक सृष्टि का आधार यजुः से प्रवर्तित यज्ञ ही है। एकविंश से त्रयस्त्रिंश स्तोम पर्यन्त वाक् उक्त अग्निमयी त्रयी से भिन्न सोममयी वाक् है।[276]

वेद से क्रमपूर्वक विविध प्रकार के देवता उत्पन्न हुए जिनका संगमन संगतिकरण ही यज्ञ है जो विष्णु से अभिन्न है।[277] भगवद्गीता में यज्ञ को ही अभीष्ट देने वाली कामदुघा कहा गया है।[278] पं० गिरधर शर्मा के अनुसार अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है।[279] अग्नि अन्नाद है सोम अन्न। अग्नि केन्द्रस्थ सत्य है जो विकासशील है और केन्द्र से बाहर निकल कर व्याप्त होता है। इसके विपरीत सोम सकोचशील है और संकुचित होकर अग्नि में गिरता है। यही अग्नि में सोमाहुति है। अग्नि में गिर कर सोम अग्निर्मय होकर विकासशीलता ग्रहण कर लेने से पुनः बहिर्गत हो जाता है। दूर प्रसृत होकर वह पुनः सोम रूप हो जाता है। यह चक्र अनवतरत चला करता है। यही प्राकृत यज्ञ है।[280]

ऋग्वेद में आदित्य में यज्ञ की स्थिति मानी गई है।[281] आदित्य अग्नि का द्युस्थित रूप है। अतः अग्नि को यज्ञ कहने से भी यही व्यंजित होता है कि आदित्य से ही यज्ञ प्रवर्तित होता है।[282] आदित्य की सप्तरश्मियाँ इस यज्ञ का सन्तान करती हैं।[283] सप्तविप्राः,[284] सप्तसिन्धवः,[285] सप्तनद्यः[286] सप्तयह्वी,[287] सप्त अश्वाः,[288] सप्त होताः,[289] सप्त कारवः[290] आदि पद समानार्थक और 'सप्तरश्मयः' के वाचक जान पड़ते हैं। इन्हीं के कारण यज्ञ 'सप्ततन्तु' कहा गया है।[291] रश्मियाँ

---

276 विज्ञानविद्युत—पृ० 7 व 8
277 यज्ञो वै विष्णुः शतपथ—3।5।3।2
278 श्रीमद्भगवद्गीता 3।10
279 वेदविज्ञान बिन्दुः—पृ० 41
280 वही पृ० 41
281 ऋ० 8।18।19
282 ऋ०10।20।6, तुलनीय 10।51।9, 10।88।8
283 " 1।105।9 तुलनीय 1।105।12 यहाँ सत्यरूप यज्ञ का विस्तारक सूर्य कहा गया है।
284 ऋ० 1।62।4, 3।7।7, 31।5, 4।2।15
285 " 1।32।12, 35।8, 2।12।3, 12, 4।28।1
286 " 1।102।2
287 " 1।71।7, 72।8, 3।1।4
288 " 1।50।8 तुलनीय मंत्र 9 तथा 1।164।2
289 " 3।10।4, 8।60।16
290 " 4।16।3
291 " 1।164।5

प्रधानतया अग्निमयी होती हैं उनसे संयुक्त होकर सृजन कार्य में प्रवृत्त होने वाली आप: भी सप्तसंख्यक हैं।[292]

सूर्य पृथिवी पर पर्जन्य वायु के द्वारा सोममय भार्गव वृष्टि करता है और पृथिवी सूर्य पर आग्नेयवायु द्वारा अंगिरा पानी बरसाती है।[293] इस प्रकार समान वर्षण से जगत् की प्रतिष्ठा है।

इस यज्ञ में आदित्य गो है, सप्तरश्मियाँ गो हैं, आप: गो है।[294] वेद से यज्ञ प्रवर्तित हुआ इसलिए ये सब वाक् रूप भी है। गति और शब्द से ही यह सृजन चल रहा है। यज्ञ का ही दूसरा नाम मेध है इसका अर्थ भी संगतिकरण (√मेधृ–संगमने से) है। गो रूप सूर्य और गोरूप रश्मियों का गोमेध प्रवर्तित हो रहा है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार सूर्य रूपी गो के गोमेध से ही उसकी रश्मियां चारों ओर फैलकर सब पदार्थों की रचना कर रही हैं।[295]

सृष्टि-यज्ञ का आधार होने से ही गो को अथर्ववेद में यज्ञपदी[296] कहा गया है। परवर्ती साहित्य में गो में यज्ञ की प्रतिष्ठा[297] मानने का भी यही कारण ज्ञात होता है।

इस यज्ञ का प्रवर्तन सृष्टि की प्रथम उषा से होता है। उषा के पहले सृष्टि की अव्यक्तावस्था-रात्रि थी। उसमें गौएँ असुरों (तमोभूत प्राणतत्त्व) से आच्छादित थीं। इन्द्र ने अपने पराक्रम से असुरों को विनष्ट करके उषा, गो और आदित्य को प्रकट किया।[298] तम से आच्छन्न गौएँ ही कदाचित् स्तरी (√स्तृञ्--आच्छादने से व्युत्पन्न) थीं अर्थात् सृजन कार्य में असमर्थ थी अश्विन् आदि देवताओं ने इस स्तरी गो को सूती (सृजक) बनाया।[298]

ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र ने असुरों के सप्तपुरों को तोड़ा।[300] पुरभेदन के साथ गोओं की मुक्ति का सम्बन्ध है। अत: सात नाम वाली गौएँ[301] और सप्त वाणी:[302] का सम्बन्ध सप्तपुर भेदन से ध्वनित होता है। एक मंत्र में पर्वतों की

---

292 ऋ० 8।96।1, 10।104।8
293 " 1।164।51 तथा वेद का स्वरूप विचार – पं मोतीलाल शर्मा पृ० 40
294 'ऋग्वेद में गो प्रतीक के रूप में' अनुच्छेद देखें।
295 वेदविद्या–पृ० 112
296 अथर्ववेद 10।10।6 (यज्ञ: पद्यते गम्यते यया सा यज्ञपदी)
297 गोषु यज्ञा: प्रतिष्ठिता:—महाभारत अनु० प० 78।8
298 ऋ० 1।32।1,2,4,6।30।5,3।31।4,10।138।2
299 " 1।117।22 तुलनीय 1।112।3
300 " 1।63।7,174।3,6।20।10,7।18 13
301 " 1।164।3 तुलनीय सप्तधाम—ऋ० 1।22।16,4।7।5
गौएँ भी तेजोमय है।
302 ऋ० 1।164।24,3।1।6,3।7।1

21 चोटियों के भेदन का भी उल्लेख है।[303] 21 नदियों[304] और गौओं के 21 नामों[305] या अग्नि के 21 गुह्य पदों[306] का उद्भव इन्द्र की इस विजय से हुआ ज्ञात होता है। इन विविध रूपों से गो यज्ञ का प्रवर्तन करती हुई सृजन कार्य में प्रवृत्त हो रही है।

शरीरस्थ यज्ञ और दोहन-कर्म

शरीर निर्माण में वन या प्रज्ञा के निर्माता अव्यय--पुरुष, प्राण शक्ति के प्रेरक अक्षर पुरुष और पंच भूतों के निर्माता क्षर पुरुष का योग रहता है। विराट् पुरुष प्रवर्तित यज्ञ से ही शरीर में मन, प्राण और भूत के अंश आ रहे हैं।[307]

डा० फतहसिंह के अनुसार नानारूपात्मक सृष्टि (—यज्ञ) मनोमय में होती है जो सप्तशीर्षस्थ प्राणों में अपनी शक्ति विभक्त करता है।[308] मन सप्तधा विभक्त होकर प्राण में समाता है प्राण अन्नाद बन कर वाक् से पोषण पाता है। पुनः वाक् से अन्न ग्रहण करके प्राण पुष्ट होता जिसके सूक्ष्म अंश से मन का निर्माण होता है इस प्रकार मन से वाक् की ओर और वाक् से मन की ओर प्रवृत्ति ही यज्ञ है।[309] यह परिवृत्ति चक्र चल रहा है। मन, प्राण और वाक् से प्रवर्तित होने से यह त्रिवृत् है, पचकोशमय शरीर में चलने से 'पंचयाम' व सप्त शीर्षण्य प्राणों से प्रवर्तित होने से सप्ततन्तु कहा गया ज्ञात होता है।[310] समस्त (इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देव शरीर में इस चेतना स्वरूप यज्ञ का वितान करते रहते हैं।[311]

शरीर में सौर गो बुद्धि है, आन्तरिक्ष्य-प्रज्ञानमन और वासवी प्राणरूपा।[312] मैत्रायणी आरण्यक में 5 ज्ञानेन्द्रियों की रश्मि (गो) कहा गया है।[313] प्राणों को ऋषभ तथा मन को वत्स कहा गया है।[314] इन्द्रियों द्वारा प्रवर्तित सभी व्यापार इन्द्रप्राण द्वारा अधिष्ठित हैं। वही इन इन्द्रियों का सेक्ता वृषभ है। उससे सिक्त

---

303 ऋ० 8।96।2   304 ऋ० 10।64।8

305 " 7।87।4 8।46।26 ऋ० 4।1।16 भी देखें।

306 ऋग्वेद 1।72।6

307 डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल–वेदविद्या पृ० 113

308 वैदिकदर्शन पृ. 106

309 पं० मधुसूदन झा–दशवाद रहस्यम्–पृ० 13-14
ऐतरेय ब्राह्मण की वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमोयज्ञः साक्षी से पं०गिरधर शर्मा ने भी इसका अनुमोदन किया है। व वैदिक विज्ञान व. भा. सं. पृ. 94

310 ऋ० 10।52।4

311 " 8।13।18

312 पं० मोतीलाल शर्मा—संस्कृति व सभ्यता पृ० 591-92

313 मैत्रायणी आरण्यकम—2।6 (गो व रश्मि समानार्थक हैं।)

314 बृहदारण्यकोपनिषद् 5।8।1

होकर ये इन्द्रियां मन-वत्स के लिए अभीष्ट दोहन करती हैं। इसी कारण कदाचित् ऐन्द्रियकज्ञान को गोचर कहा जाता है।

अनेक पदी व सहस्राक्षरा गो

ऋग्वेद में वरुण की गौरी वाक् (गो) का उल्लेख मिलता है जो एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी हो गई और परमव्योम में वही सहस्राक्षरा है। उसने शब्दवती होकर आदि सलिलों का तक्षण किया।[315]

इस मन्त्र में विविध पदों के द्वारा पाँच प्रकार की गतियों का उल्लेख हुआ है और इस प्रकार यह अथर्ववेद की पंचनाम्नी गो से अभिन्न ज्ञात होती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार भी पाद या चरण गति का प्रतीक है।[316] उनके अनुसार एकपदी का अर्थ है—जब गतियाँ केन्द्र में स्थित होती हैं। स्थिति गति और निवृत्ति के मिलने से आती है[317] जो ब्रह्मा में समाहित है। अतः एकपदी गो ब्रह्माण्ड के स्वायंभुवमण्डल की ब्रह्मा के शरीर में संयुक्त स्वायंभुवी गो ज्ञात होती है जो ऋषियों के रूप में प्रकट होकर बार्हस्पत्या नाम से सृजन में प्रवृत्त होती है।

द्विपदी गो वाक् का वह रूप है जिसमें मूल तत्त्व द्विधा विभक्त हो जाता है।[318] तीन गुह्य पद व एक पाद से मनुष्यों की वाणी बनने वाली गो चतुष्पदी है।[319] आठ वसुओं से सम्बद्ध गो[320] अष्टापदी कही गई है और नवपदी पूर्वोक्त न्यूना विराट् ज्ञात होती है जिससे विश्व का सृजन होता है। नव अक्षरों के बृहती छन्द को सूर्य का अधिष्ठान माना गया है। अतएव नवपदी सूर्य द्वारा प्रवर्तित यज्ञ की आधार—यज्ञपदी है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार परमव्योम अव्यक्त आकाश—अमृता वाक् के स्थान का नाम है। यह अर्थमयी वाक् है जबकि भौतिक मर्त्यावाक् शब्दराशि है। छन्दोबद्ध वाक् का स्थान मर्त्याकोश में है उसी तरह सहस्र (अनन्त) अक्षर वाली गो का स्रोत परमाकाश (परम व्योम) है।[321]

महाधेनु

ऋग्वेद में अनेक देवताओं को एक ही विशिष्ट सत्ता के विविध रूप मानने की ओर झुकाव देखा जाता है[322]—

---

315 ऋग्वेद 1।164।41
316 गौरी—वैदिकधर्म-अगस्त 1963 व कादम्बिनी जून 1964
317 ऐतरेय आरण्यक 2।3।5
318 डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—गौरी—कादम्बिनी जून 1964
319 ऋग्वेद 1।164।45
320 ऋग्वेद 1।164।27 (वसुपत्नी)
321 गौरी—कादम्बिनी—जून 1964
तथा
Vision in Long darkness—153–55
322 एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ऋ० 1।164।46
इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते ऋ० 6।47।18

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।।323

इस मंत्र में उस एक सत्ता को अग्नि व सूर्य कहने के साथ ही समस्त सृष्टि को प्रकाशित करने वाली एक उषा भी कहा गया है। उषा गौओं की जननी और स्वयं गोरूप है।324 पुराणों में भी सब गौओं का एकत्व उनकी माता सुरभि में देखा जाता है।325 ऋग्वेद में देवों के महद्रूप असुरत्व को एक कहने से भी326 यह ध्वनित होता है कि ऋग्वेद में प्रतीक रूप से अनेक तत्त्वों की ओर संकेत करने वाले गो शब्द द्वारा एक ही मौलिक गति-तत्त्व की ओर ध्यान दिलाया गया है। ऋत के सदन में वह एक धेनु अग्नि की परिचर्या करती है।327 अपने अन्य धेनुरूपों के साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है।328 अतः स्पष्ट है कि विराज्, वाक्, उषा, रात्रि, बृहती, ब्रह्ममाया आदि के नाम से विविध देव शक्तियों के साथ सयुक्त गौएँ वस्तुतः एक ही प्रकृति गो के विविध रूप हैं। यद्यपि ये गौएँ सृजन कार्य में उनसे पृथक् पृथक् रूपों से ही सहयोग करती हैं फिर भी डा० फतहसिंह के अनुसार इस विभिन्नता में एकता विद्यमान है और अन्ततोगत्वा एक धेनु ही— ऋषि, धाम, यक्ष आदि नाना रूपों में व्यक्त होता है और उसके बाहर कुछ भी नहीं है।329 वह सृजन देव की सामर्थ्य मात्र ही नहीं है वरन् उस देव से अभिन्न भी है।330 सारे देवता उसी के अङ्ग बन जाते हैं।331 कदाचित् इसीलिए उसका 'सर्वनाम्नी' कहा गया है।332 यह वाग्धेनु ही अपने स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार स्तनों से333 सबको पुष्ट करके सारे विश्व को ही अपने में समाहित किए हुए है। मनुस्मृति के अनुसार यह विनश्वर जन्म मरणादि के भय से भीषण भौतिक संसार ब्रह्म से स्थावरपर्यन्त गतिमात्र है—

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनी ।।334

323 ऋ० 8।58।2
324 देखो 'गो व अन्यदेवता' परिच्छेद ।
325 दैवीभागवतपुराण 9।1।124 (सुरभी च गवां प्रसूः) तथा 9।49।2
आर्या ब्राह्मी महाधेनुः— माकण्डेय पुराण (दुर्गासप्त शती) प्राधानिक रहस्य श्लोक 17
326 ऋ० 3।55।1-22
327 ऋ० 3।7।2
328 " 3।38।5
329 वैदिकदर्शन—पृ० 247 । अथर्ववेद 8।9।26 भी देखें ।
330 यथा इमा या गावः स जनास इन्द्रः— ऋ० 6।28।5
331 अथर्ववेद 9।7
332 अथर्ववेद 7।75।2
333 बृहदारण्यकोपनिषद् 5।8।1
334 मनुस्मृति 1।50

दशम अनुच्छेद : उपसंहार

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर सृष्टि-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। सामान्यतया प्रतीक प्राकृतिक जगत् से ग्रहण किये जाते हैं; परन्तु शब्द अपनी सामर्थ्य से परम समर्थ प्रतीक हो सकता है। ऋग्वेद के शब्दों में ऐसी सामर्थ्य विशेष रूप से देखी जाती है क्योंकि उसमें वे रूढ़ नहीं हो पाये हैं और उनका स्वरूप-निर्माण सार्थक ध्वनियों से हुआ है, जो उदात्तादि स्वरों से अर्थ स्पष्ट करती हैं। ध्वनियाँ साधारण संवेदना की सूचक है। ऋग्वेद में न केवल भिन्न-भिन्न अर्थों के सूचक समानवर्ण वाले अनेक शब्दों का श्लिष्ट-रूप ही मिलता है, वरन् विविध संवेदनाओं की सूचना देने वाली ध्वनियों के स्तर भी उदात्तस्वर में आश्लिष्ट हो गये हैं। इसी कारण वर्णसाम्य के कारण एक दिखाई पड़ने वाले शब्द के भी अनेक अर्थ होते हुए देखे हैं क्योंकि मूलत: स्वरभेद के कारण वे अलग-अलग शब्द हैं। इस दृष्टिकोण से ऋग्वेद में प्रयुक्त गो शब्द एक नहीं है, वरन् विविधगतिभावों को सूचित करने वाले अनेक गो शब्दों का प्रयोग हुआ है।

गो शब्द का धात्वर्थ 'गतिभाव' है। सृष्टि की प्रत्येक क्रिया—सृजनप्रक्रिया भी गति ही है। अत: गो शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त विविध 'गो' शब्दों द्वारा सूचित विविध प्रकार की गतियों का द्योतक है। यह उन समस्त भावों का शब्द-मयमूर्त-आधार है। अमूर्त भावों का मूर्त आधार प्रदान करने के कारण गो शब्द ऋग्वेद में प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

गो प्रतीक

गो शब्द ऋग्वेद में पृथ्वी, रश्मि, आदित्य, वाक् पशुविशेष आदि का प्रतीक है। ऋग्वेद में सृजन के लिए प्रथनशीला प्रकृति को पृथ्वी कहा गया है। प्रकाशन व्यापार या प्रकाश का नियमन करना रश्मि का व्यङ्ग्यार्थ है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश रश्मि से नियन्त्रित होकर गमन करता है वैसे ही भाव का उन्मेष व प्रकाशन भी नियमित होने से रश्मि कहा जाता है। भावोन्मेष का केन्द्र प्रज्ञान-मन है। प्रत्येक मानवीय-क्रिया सूक्ष्म-रूप से इच्छा में प्रविष्ट है। इच्छा शक्ति का केन्द्र पराशक्ति में है जहाँ से प्रकाशरश्मि की तरह प्रज्ञारश्मि का उदय होता है। सूर्य-रश्मियाँ सूर्य से उत्पन्न होकर प्राणियों को क्रिया-व्यापार के लिए प्रेरित करती हैं। प्रज्ञारश्मियाँ भी यही कार्य करती हैं। इस प्रकार प्रथन–गति से पृथिवी, प्रकाशयुक्त गति रश्मियाँ और [illegible] रश्मियाँ गो हैं

रश्मियों का उत्पादक और स्वयं गतिरूप होने से सूर्य गो है। सूर्य की जननी अदिति—जनन-व्यापार रूप गति के कारण गो है। सत्व, रज और तम की स्वस्व व्यापार में निरत प्रवृत्ति के कारण प्रकृति गो है। प्रकृति के वाचक पृश्नि, वशा आदि नामों को भी पर्याय माना गया है।

सृजन भी गति है। प्रकाशन व्यापार और अनुभावन व्यापार भी सृजन ही है। अनुभावन व्यापार का प्रकाश से सम्बन्ध प्रज्ञा द्वारा हृदय में और शब्द द्वारा बाह्य वातावरण में होता है। शब्द भी सृजन और गति ही है। जल भी गति करता है। अतः 'आपः' गो हैं। सृष्टि की अव्यक्तावस्था-अप्रकेत सलिल अवस्था थी। उस समय गो अप्रसूता (स्तरी) थी। सृजक शक्तियों के प्रवर्तन ने उसे प्रसूता बना दिया। प्रसूता हो जाना व्यक्तावस्था में प्रकाशन भी है। 'आपः' का कृष्ण रूप अव्यक्तावस्था का और प्रकाश रूप व्यक्तावस्था का द्योतक है। नित्य रात्रि और दिन के रूप में प्रलय व सृजन चलता रहता है। इस प्रकार की कालपुरुष की गति और गति का दिक् तत्त्व में प्रतिष्ठित होना गो रूप है।

गो के पुत्र

गति या शक्ति का स्पन्दन गो है। सारे देवता अपनी शक्तियों से अपने-2 व्यापार में लगे रहते हैं। वे स्वयं शक्ति रूप हैं, उनकी सम्मिलित शक्ति अदिति, विराज्, वशा, पृश्नि आदि नामों वाली गो है। उस एक मात्र व्यापक शक्ति-तत्त्व से देव-शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। अतः सारे देवता अदिति के पुत्र हैं। जहाँ जन्य-जनक भाव अभिप्रेत नहीं है। वहाँ देवताओं को अदिति या गो से अभिन्न कहा गया है।

ऋषभ या वृषभ

इन्द्रदेवता, अग्निदेवता आदि अधिकांश शब्दों में देवनाम पुंलिंग और देवता शब्द स्त्रीलिंग है। ऐसे प्रयोगों में यह बताने की प्रवृत्ति जान पड़ती है कि इन्द्र का पुं-भाव उसके शक्तिरूप स्त्री-भाव से अभिन्न है। अपने महत् रूप असुरत्व से ही देवों का शक्ति-शक्तिमान् समन्वित रूप है। दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर महत् (गोतत्त्व) में चैतन्यतत्त्व स्पन्दित हो रहा है। प्रतीकरूप से इस बात को शक्ति में शक्तिमान् का वीर्य सेचन कार्य कहा गया है। यह कार्य ही वैदिक यज्ञ है। इस रूप में शक्ति के प्रवर्तक देवता ऋषभ, वृषभ या उक्ष हैं। ऋग्वेद में सामान्यतया देवताओं को गोपति, गोपा, वृषभ आदि विशेषण प्रदान करने की प्रवृत्ति का मूल देवशक्तियों को इस प्रकार सेचक कहना ही ज्ञात होता है।

दोहन कर्म

शक्ति को गतिभाव के कारण गो मानने पर स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों को उसके दूहन का परिणाम मान लिया गया है और कुछ देवताओं को विशेषतया वत्स, दोग्धा आदि के रूप में स्वीकार किया गया है। दोहन कर्म भी इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया का ही प्रतीकात्मक रूप है।

परवर्ती साहित्य में गो विषयक वैदिक-विचारों की झलक

ऋग्वेदेतर संहिताओं में गो

यजुर्वेद में अघ्न्या के इडा, रन्ता, हव्या आदि नाम उल्लिखित हैं। घृत और मधु बरसाने वाली विराज् नाम की अक्षीयमाणा कामदुघा का वर्णन भी मिलता है।[1] घृत स्रवित करने वाली गिरा का वर्णन भी है। पृथ्वी भी घृतवती, मधुदुघा कही गई है।[2] एक मंत्र में अदिति से यजमान के लिए कामधरण होने की प्रार्थना है।[3] अथर्ववेद में विराज्, ब्रह्मगवी, शतौदना, पृश्नि, वशा आदि के नामों से गो का रहस्यात्मक वर्णन मिलता है।[4] इन सब प्रसंगों में सृजक शक्ति का ही गतिभेद से विविध रूपों में व्याख्यान है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में गो

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्तरिक्ष गौ है।[5] श्री कपालिशास्त्री के अनुसार त्रिकद्रुक दिनों को पिण्डाण्ड में देह, मन और प्राण का वाचक माना जा सकता है।[6] देवताओं के मन को ओतप्रोत रखने वाले 3 मनोताओं में एक गो भी है।[7] ये मनोता 3 सृजक तत्त्व हैं और परस्पर अभिन्न हैं। गवामयन या संवत्सर यज्ञ का वर्णन भी मिलता है।[8] यह समय की गति का प्रतीकात्मक वर्णन ज्ञात होता है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में परमेष्ठी मण्डल में प्रवर्तमान स्वाराज्य-यज्ञ का वर्णन मिलता है।[9] कविपुत्र उशना की कामदुघा (साम विशेष का नाम) उल्लिखित है।[10] बलभेदन व गोविमुक्ति की प्रतीक गाथा का उल्लेख भी मिलता है।[11] शबली कामधेनु[12] पृश्नि से अभिन्न ज्ञात होती है। पृश्नि को छान्दोग्य ब्राह्मण में सायण ने बुद्धि माना है।[13] जैमिनीय ब्राह्मण में दैवी, मानुषी और यज्ञिया विराज् का उल्लेख है। ये लोक दैवीविराज् हैं, बहिष्पवमानी यज्ञिया विराज् है और पुरुषान्तर्गत प्राण मानुषी विराज् है। मानुषी विराज् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भोक्ता तथा गो, अश्व,

---

1 यवेवा 17।3

2 यवेवा 34।45 यहां द्यावापृथिवी के विशेषण घृतवती आदि है।

3 यवेवा 3।27

4 परिशिष्ट में इनका स्वरूप द्रष्टव्य है। विराज् का सविस्तार वर्णन अनुच्छेद 4 में आ चुका है।

5 ऐब्रा० 18।1

6 ऋसिभा—पृ० 346

7 ऐब्रा० 6।10

8 ऐब्रा० 18।3

9 ताम ब्रा० 19।13।1,3

10 ताम ब्रा० 6।5।20

11 ताम ब्रा० 19।7।1-7

12 ताम ब्रा० 21।3।1-7

13 छाब्रा— 1।5।8 पर भाष्य

अजा, अवि, व्रीहि और यव उपभोग्य हैं।[14] अन्यत्र सहस्रतमी गो का वर्णन है। गो रूप सहस्र प्राणों से संप्राणन किया जाता है और तब वह कामदुघा बनती है।[15] सहस्रतमी आहुति से गो उत्पन्न होती है जिसमें समस्त भोग प्रतिष्ठित हैं।[16] अथर्ववेद में उल्लिखित महानाम्नी गो को जैमिनीय ब्राह्मण में सौर लोक में प्रतिष्ठित माना गया है।[17] शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी गो का प्रतीकात्मक वर्णन मिलता है।

आरण्यक—उपनिषद् ग्रन्थों में गो

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार वाक् को वुद्धि व घृताची (—गो) कहा गया गया है।[18] वाक् ही अभिलाषाओं का दोहन करने से कामधेनु है।[19] प्राण सूद दोहा कामधेनु है।[20] तैत्तिरीय आरण्यक में भूमि (—पत्नी) और व्योम (—पति) के मिथुन से बृहस्पति, रुद्र और सरमा पुत्री का जन्म कहा गया है।[21] गो प्राप्ति में यह इंद्र की सहायता करती है। इसमें अदिति सब भूतों की माता, प्रजापति का उत्कृष्टतम रूप, सत्यस्वरूपा तथा अमृता, उर्वी, पृथ्वी, मही आदि नाम वाली है[22] तथा गो आपः और मेधा है।[23] मैत्रायणी आरण्यक में पंचज्ञानेन्द्रियाँ रश्मि (—गो) हैं और कर्मेन्द्रियाँ अश्व।[24] बृहदारण्यकोपनिषद् में वाक् धेनु है, मन वत्स और प्राण ऋषभ है।[25] उपनिषदों के अनुसार सूर्य व विष्णु गो है,[26] विष्णु गविष्ठ है,[27] वरिष्ठा गो वसुओं को धारण करने वाली धरित्री है,[28] इड़ा, पिंगलादि नाड़ियाँ भी गो हैं।[29] अनाद्यनन्तवती त्रिगुणात्मिका प्रकृति गो है,[30] गुणत्रययुक्त प्रकृति-धेनु का गोमय विद्या, मूत्र उपनिषद् और वत्स स्मृतियाँ हैं।[31] अथर्वशिरोपनिषद् में रुद्र ने स्वयं को गो से अभिन्न कहा है।[32] नारायणोपनिषद् में मेधा ही विश्व रूपा गो और हिरण्यवर्णा जगती है।[33] कठोपनिषद् के अनुसार सर्वदेवतामयी

---

14 जैबा—1।252
15 जैब्रा—2।252—53
16 जैब्रा—2।263
17 सौर्या हि महानाम्नयः जैब्रा 3।85
18 ऐ आ 1।1।4
19 ऐ आ 3।3।10
20 ऐ आ 4।1।17
21 तैआ 1।10
22 तैआ 10।21
23 तैआ 10।42, 10।22
24 मैआ 2।6
25 बृ उ 5।8।1
26 परमात्मिकोपनिषद् 5।5
27 वही 2।1
28 वही 10।1
29 योगचूड़ार्णाम उपनिषद् 15-21
30 मंत्रिकोपनिषद् 5-7
31 बृज्जाबालोपनिषद् 3।2-3
32 अथर्वशिरोपनिषद् 1
33 नारायणोपनिषद् 43

अदिति प्राण से उत्पन्न होकर बुद्धि रूपी गुहा में रहती है, वह ब्रह्मरूप ही है।[34] ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार गो प्रज्ञान मन में प्रतिष्ठित है।[35] तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदवाणी में व्याप्त विश्वरूप वृषभ का वर्णन मिलता है जो छन्दों में व्याप्त अमृत-तत्त्व से उत्पन्न है और इंद्र से अभिन्न है।[36]

पुराणों में गो

पुराणों में अदिति देवमाता और सुरभि गौओं की माता उल्लिखित है।[37अ] सुरभि का उद्भव गो लोक में हुआ।[37आ] वह बुद्धि की अधिष्ठात्री है।[38] गो के देवमयशरीर,[39] (पृथुद्वारा) दोहन[40] आदि का आधार अथर्ववेद है। पुराणों से सम्बद्ध शैव, वैष्णव और शाक्त विचारधाराओं में गो को शक्तितत्त्व का द्योतक माना गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पुरों में रहने वाली त्रिपुरसुन्दरी बुद्धि की अधीश्वरी व वेदगर्भा कामधेनु है।[41]

सूत्र व स्मृति ग्रन्थों में गो

सूत्र ग्रन्थों में वैदिकमंत्रों के विनियोग व उनके कर्मकाण्डीय उपयोग का वर्णन है, अतः उनमें गो का अर्थ पशु गो ही मिलता है। उसके प्रतीक अर्थ का उल्लेख सामान्यतया मिलता मालूम नहीं पड़ता है। स्मृतियों में भी प्रतीक वर्णन नहीं है। मनुस्मृति में अवश्य ही एक श्लोक में ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सृष्टि को गति मात्र कहा गया है।[42]

मध्यकालीन साहित्य में गो

महात्माबुद्ध ने आर्यों के गोचर में लीन विद्वानों का उल्लेख किया है।[43] यहाँ गोचर इच्छा, ज्ञान, क्रिया की विचरण भूमि प्रज्ञान मन का वाचक ज्ञात होता है। उत्तरराम चरित में कामनाओं का दोहन करने वाली, दरिद्रता का नाश व कीर्ति का विस्तार करने वाली मंगलदायिनी माता वाक् का उल्लेख है जिसे धेनु-रूपिणी कहा गया है।[44] कबीरदास व सूरदास ने भी गो को प्रतीकरूप में वर्णन का विषय बनाया है।[45]

---

34 कउ 2।1।7

35 ऐउ 3।1।3

36 तैउ 1।4।1

37अ देमापु 9।1।124

37आ देमापु 9।49।2

38 देमापु 9।2।65

39 पपु सृष्टि खण्ड 15।35 भूमिखण्ड 29।33।75

40 पपु सृष्टि खण्ड 50।135

41 मार्कण्डेय पुराण—दुर्गासप्तशती—प्राधानिकरहस्य श्लोक 23

42 मनु—1।50

43 धम्मपद

44 उत्तररामचरित 5।31

45 देखो अनुच्छेद 1

लोक साहित्य में गो

लोकगीतों में सामान्यतया गो के पशुरूप का ही वर्णन आता है, परन्तु कहीं कहीं प्रतीक वर्णन भी मिल जाता है। राजस्थानी गीतों 'धोरी, धूमरि, कपिला' गो त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अभिन्न ज्ञात होती है। हाड़ौती के 'हीडो' नामक दीपावली उत्सव पर गाये जाने वाले लोक गीत के अनुसार पृथ्वी के प्राणियों का भार उठाने में महिषी, अजा, मनुष्य आदि के पुत्र समर्थ न हुए तबै विष्णु के आदेश से गो के पुत्र—वृषभ ने पृथ्वी का भार उठाने की स्वीकृति दे दी। कृषिकर्म द्वारा वह नित्य अपने कार्य में रत रहता है।

इस प्रकार गो के जिस प्रतीकात्मक अर्थ को ऋग्वेद में देखा जाता है। उसका विस्तार परवर्ती काल में भी होता रहा है जिसके द्वारा लोकजीवन में गो की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

परिशिष्ट १

वशा और उसका स्वरूप

अथर्ववेद में वशा के दो सूक्त मिलते हैं। ऋग्वेद में भी वशा का उल्लेख हुआ है। वेदों के सायणादि भाष्यकारों ने वशा को वन्ध्या गो माना है अथर्ववेद में वशा के दुग्धादि का वर्णन भी मिलता है। अतः वशा को वन्ध्या मानना उचित नहीं जान पड़ता। इसके विपरीत पं० सातवलेकर ने तो वशा को दुधारू गाय माना है।

वशा शब्द √वश-कान्ती धातु से व्युत्पन्न है। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—कान्ति-युक्त अथवा अभिलषणीय।

ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार हृदय से तष्ट, अग्नि के लिए हवि रूप में ऋचा ही उक्ष और वशा का रूप धारण कर लेती है—

आ ते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि।
ते ते भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत॥ (ऋग्वेद 6।16।47)

वशा के ऋण का उल्लेख मिलता है जिसे ब्रह्मणस्पति प्राप्त करता है (ऋ० 2।24।13) सम्भवतः वशा का ऋण, वशा से प्राप्त घृतदुग्धादि अन्न हों, जिनकी आहुति दी जाती है। वशान्न अग्नि के लिए समर्पित किया भी जाता है (ऋ० 8।43।11)। वशा (वशा द्वारा प्राप्त अन्न) से अग्नि को आहुत करने का भी यही भाव ज्ञात होता है (ऋ० 2।7।5)। यज्ञ में उपकल्पित वशा धेनु को अश्व, ऋषभ आदि के साथ ही छोड़ दिया जाता है (ऋ० 10।91।14)।

इन प्रसंगों में वशा गो या उससे प्राप्त अभिलषणीय अन्न है। ऋग्वेद में कुछ अन्य मन्त्रों में वशा का रहस्यात्मक रूप भी मिलता है। एक मन्त्र में दस वशाओं का उल्लेख है (ऋ० 6।63।9)। कदाचित् जिन वशाओं का अनुगमन करता हुआ अश्विन्-द्वय में से एक का रथ यज्ञ में प्रवेश करता है (ऋ० 1।181।5) ये वे ही वशाएँ हैं। स्तुत होकर इंद्र भी इन वशाओं का अनुगमन करता है (ऋ० 1।82।3)। ऐसा करता हुआ वह सोम पान करता व अतीव ओजस्वी हो जाता है 8।4।10)। आपः के न्ययन और समुद्र के निवेशन से अन्य मार्ग का अवलम्बन

लेकर अग्नि भी इन वशाओं का अनुगमन करता है। (ऋ० 10।142।7)। यहाँ आप: का न्ययन सृष्टि की पूर्वावस्था—सलिलावस्था ज्ञात होती है और वशाओं का इन देवताओं द्वारा अनुगमन सृजन में प्रवृत्त वशा के कार्यों में योगदान माना जा सकता है। दस वशाएँ विराट् (दशाक्षरा) से अभिन्न ज्ञात होती हैं। सृजन प्रक्रिया को रोकने वाली आसुरी शक्तियाँ दशधा विभक्त थीं, जिन्हें 'दश वृत्राणि' कहा गया है (अवे० 20।21।6)। इंद्र अपने सहस्र-वीर्यों से इन वृत्रों का वध कर देता है। उसका यह कार्य दस आसुरी शक्तियों को पराजित करके दशधा विभक्त होकर सृजन में प्रवृत्त होने वाली वशा का अनुगमन ही माना जाना उचित है। निर्माण कार्य में कुशल ऋभु भी इन्द्र के साथ रथारोही होकर वशाओं की श्री के साथ होते हैं अर्थात् सृजन में प्रवृत्त वशाओं की तरह शोभान्वित होते हैं (ऋ० 3।60।4)। वशा के समान गृह-निर्माण से प्रवृत्त होने वाली नव-वधू को वशिनी कहा गया है (ऋ० 10।85।26)। इससे स्पष्ट है कि वशा सृजन-कार्य में प्रवृत्त प्रकृति को कहा गया है। डा० फतहसिंह ने "वैदिक समाज-शास्त्र में यज्ञ की कल्पना" पुस्तिका में प्रकृति को अथर्ववेद के साक्ष्य से वशा गाय माना है जिसमें वशी नामक यक्ष या योद्धा व्याप्त है तथा जिसके चार भाग हैं—1. व्यापक-तत्त्व, 2. अमृत-तत्त्व, 3. यज्ञ-तत्त्व और 4. मूर्त-तत्त्व।

ऋग्वेद में देवताओं के कर्मों में एक कर्म अप्रसूता गो को पुष्ट व प्रसूता बनाना भी उल्लिखित है (अधेनुं स्तर्यम् अपिन्वतं गाम्। 1।117।20)। कदाचित् प्रकृति की साम्यावस्था को अप्रसूता गो कहा गया हो और वशा शब्द उनके उस रूप को भी संकेतित करता हो। सायणादि ने वशा को वन्ध्या गो इस रूप में माना हो तब तो वशा के वर्णन से उनकी मान्यता का विरोध नहीं रह जाता। कबीर की भी मान्यता है—जो व्यावे तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।

यह गो (कामधेनु–कबीरदास) गर्भिणी होने की दशा में ही अमृत बरसाती है, प्रसूता होने पर दूध देना बन्द कर देती है।

कुछ भी हो वन्ध्या शब्द के प्रचलित अर्थ से तो वशा का स्वरूप भिन्न है। प्रकृति सृजन में प्रवृत्त होने व इस प्रकार जगत् को अपने गर्भ में धारण करने पर ही वशा कही जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जब कोई रस परिशिष्ट नहीं रहा तो वह मैत्रा-वारुणी वशा हो गई। इसलिए वह प्रजनन नहीं करती। इस से ही रेतस् उत्पन्न होता है और रेतस् से पशु होते हैं। यह तो अपने में से ही होती है अतः अपने में ही यज्ञ का अनुवर्तन करती है (4।5।1।9)।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि वशा सारी सृष्टि को अपने में ही धारण करती है और ऐसे किसी रस का पता नहीं चलता जिससे वशा व सृष्टि में भेद का आभास हो इसीलिये उसको प्रसूता नहीं माना जाता।

इसे पृथिवी रूप वशा—पृश्नि भी कहा गया है (शब्रा० 1।8।3।15 व 5।1।3।3)। पृथिवी सृजन कार्य के लिये प्रयत्नशीला प्रकृति का ही नाम है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जो 'वश' स्रवित हुआ वही वशा हो गया (ऐब्रा० 3।26)। वशा शब्द के इच्छा, संकल्प, शक्ति, उत्पत्ति आदि अर्थ हैं। प्रजापति के काम (संकल्प-सृजनेच्छा) का दोहन करने के कारण प्रकृति को 'कामदुघा' कहा जाता है। 'वश' से वशा का होना भी इसी भाव का द्योतक ज्ञात होता है। इच्छा या संकल्प शक्ति के प्रवर्तक शक्तिमान् को ही वशा कहा गया है। ऋग्वेद में इंद्र का नाम 'वशी' है (ऋ० 1।101।4, 8।13।9, 8।67।8, 10।152।2)। उसे संस्रष्टा या संसृष्टजित् कह कर (ऋ0 10।103।3) उसको सृजन कार्य से संयुक्त माना गया है। स्थावर और जंगम के आधार तथा उनके सर्जक सवितादेव को भी वशी कहा गया है (ऋ० 4।53।6)।

ऋग्वेद के सृष्टि का व्याख्यान करने वाले एक सूक्त (ऋ० 10।190) के अनुसार अर्णव समुद्र (प्रकृति की सलिलावस्था) से संवत्सर (कालात्मक)-प्रजापति उत्पन्न हुआ जिसने अहोरात्र को धारण किया, उनको व्याप्त करता हुआ विश्वोत्पादन में समर्थ हिरण्यगर्भ (वशी) उत्पन्न हुआ (ऋ० 10।190।2)। उस धाता ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को यथापूर्व बनाया (ऋ० 10।190।3)।

अथर्ववेद में वशा के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राजा वरुण की सत्यावशा का उल्लेख भी मिलता है (अवे० 1।10।1)। वरुण के द्वारा अथर्वन् को दी गई सुदुघा पृश्नि—धेनु से यह अभिन्न ज्ञात होती है, इसे नित्यवत्सा और शक्ति के अनुकूल शरीर धारण करने वाली कहा गया है (यथावशं तन्वः कल्पयाति —अवे० 7।104।1)। 'नित्यवत्सा' विशेषण वशा के उपर्युक्त स्वरूप की ओर, कि वह सदा गर्भिणी रहती है और प्रसूता नहीं होती, अतः इस रूप में वन्ध्या है, संकेत करता है। वह अपने इसी रूप से सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है और प्राणियों के लिए पोषक अन्न प्रदान करती है।

अथर्ववेद में भी दशमी वशा का उल्लेख है (अवे० 4।4।7), जिनकी समानता ऋग्वेद की दस वशाओं से खोजी जा सकती है।

वरुण के साथ वशा के सम्बन्ध का उल्लेख ऊपर किया गया है। अथर्ववेद में वरुण की पृश्नि के विषय में एक रोचक संवाद मिलता है। वरुण ने उसे अथर्वन् को दे दिया परन्तु उसकी योग्यता के विषय में सन्देह होने से उसे वापस मांगा। अथर्वन् ने पूछा—'दक्षिणा में देकर पृश्नि को वापस लेने की क्यों अभिलाषा करते हो?'

वरुण ने कहा—'कामनावश पृश्नि को वापस नहीं मांगा जा रहा है। मांगने का कारण यह है कि वह केवल ध्यान करने वाले और इस प्रकार अपने को अधिकारी प्रमाणित करने वाले को ही दी जाती है।'

अथर्वा बोला—'वरुण सत्य कहता हूँ मैं ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप है। सहज बोध के कारण मैं जातवेदा हूँ। जिस व्रत को मैं धारण करता हूँ उसे दास या आर्य हिंसित नहीं कर सकते।'

वरुण अथर्वा की इस योग्यता से प्रभावित हुआ। उसने अथर्वा को लोकों से ऊपर उनमें व्याप्त रहने वाले एक तत्त्व से परिचय कराया और पृश्नि अथर्वा के पास ही रहने दी (अवे० 5।11)।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'उरुज्योति' में इस पृश्नि को प्रकृति ही माना है। कान्तदर्शिनी प्रज्ञा वाला अथर्वन् जैसा मानव ही इस प्रकृति रूपी गो का स्वामी होने व उसके स्तन्यपान करने की योग्यता रखता है।

अथर्ववेद में दो सूक्त वशा के हैं। एक सूक्त (अवे० 10।10) में उसे वन्दनीया व अघ्न्या कहा गया है (मं० 1)। 'सप्तप्रवतः', 'सप्तपरावतः' और 'यज्ञ के शिर' को जानने वाला ही वशा को ग्रहण कर सकता है (मं० 2)। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध वशा के व्यापक तत्त्व से, द्वितीय का अमृततत्त्व से और तृतीय का यज्ञतत्त्व से ज्ञात होता है। इन तीन रूपों से वशा इस स्थूल जगत को धारण किये हुए है। प्रकृति इस अन्तिम रूप में जड़ तत्त्व है।

द्युलोक, पृथिवी लोक और आपः को सुरक्षित करती हुई वशा सहस्र धाराओं में दुग्ध प्रदान करने वाली है (मं० 4)। सौ कांस्यपात्र लेकर, सौ दुहने वालों से युक्त तथा सौ रक्षकों से रक्षित इस गौ को वे ही देवता जानते हैं जो गो में प्राण धारण करते हैं (मं० 5)। देवों के निकट गमन करने वाला वशा यज्ञपदी, अन्नप्रदात्री, स्वधा-प्राण, पर्जन्यपत्नी और पृथिवी के समान पोषिका है (मं० 6)।

यह वशा विश्वरूपिणी है। पर्जन्य इसका ऊधस् है और विद्युत् स्तन है। देवगण इस पर आश्रित हैं (मं० 7) यह राष्ट्र का पोषण करती है (मं० 8)। ऋतावरी वशा को इन्द्र ने सहस्र पात्र भर कर सोमरस पिलाया (मं० 9)। इंद्र से वियुक्त होकर जब यह (वृत्र रूपी) ऋषभ से संयुक्त हो जाती है तो इन्द्र इस पर क्रोध करता है (मं० 10)। क्रोध में वह वशा के दूध को ले लेता है जिसे स्वर्ग तीन पात्रों में रख लेता है (मं० 11)। सोमरूपी दुग्ध को वशा उन तीन पात्रों में ही ले लेती है (मं० 12)। सोम से संगत वशा प्राणियों के साथ मिलकर समुद्र (जगत्) में प्रतिष्ठित होती है (मं० 13)। ऋचाओं और सामों को धारण करती हुई

समुद्र पर नृत्य करने लगती है (मं०14)। महिमा में उसने समुद्र को भी तिरस्कृत कर दिया (मं० 15)। कालरूप अश्व समुद्र होकर वशा के ऊपर आरूढ़ हो गया (मं० 16)।

यह वशा देवताओं की (सम्भवतः समस्त शक्ति तत्वों की) माता है। यज्ञ ही उसका आयुध है। चित्त उसी यज्ञ से उत्पन्न होता है(मं० 18)। ब्रह्म के ऊर्ध्वभाग से एक बिन्दु ऊपर चला गया। वशा उसी से उत्पन्न हुई (मं० 19)। गाथा, बल, यज्ञ, रश्मियाँ, गति, भक्षणशक्ति, ओषधियाँ आदि उसी से उत्पन्न हुई (मं० 20-21)।

वशा वरुण के उदर में प्रविष्ट है। ब्रह्मा से आहूत होकर, उसके मार्गदर्शन में वशा अप्रसूता होने पर भी सृजन में प्रवृत्त हुई। सृष्टि का यह परिवृद्ध (ब्रह्म) रूप वशा का बन्धु हुआ (मं० 22-23)।

वशा का स्वामी-वशी योद्धाओं को (सम्भवतः सत्य-असत्य,देव-असुर,पाप-पुण्य, द्यावापृथिवी, अग्नि-सोम आदि द्वन्द्व जिनका संघर्ष सृष्टि का आधार है) प्रेरित करता है। यज्ञ उसकी सामर्थ्य है और वशा उन सामर्थ्यों की आँख है (मं० 24)।

वशा यज्ञ को ग्रहण करती और सूय को धारण करती है। ब्रह्म के साथ ओदन वशा में प्रविष्ट है (मं० 25)। वैदिक सृष्टि विज्ञान के अनुसार यह सारा ब्रह्माण्ड धर्मपात्र के समान है जिसमें ब्रह्मोदन पक रहा है। वशा में ही ब्रह्मोदन-पाक प्रतिष्ठित हो रहा है।

वशा अपने अमृतत्व से अमृतरूपा है और मूर्तरूप से मर्त्यधर्मा। देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि तत्वों से बना हुआ यह जगत् (इन्द्रं सर्वम्) वशा ही है। (मं० 26)।

वरुण की तीन जिह्वाओं में से मध्य में विराजने वाली एक वशा है (मंत्र 28)। वरुण की एक जिह्वा वाक् (जिह्वा निघण्टु 1।11 में वाक् का नाम है) का निष्क्रिय रूप है और तीसरा रौद्र रूप (जिससे सृष्टि में प्रलय होता है)। मध्यमा राष्ट्री (प्रकाशमाना–मंत्र के 'मध्ये रजति' से तुलनीय) वाक् ही सृजन में योग देती है। वशा भी सृजक शक्ति है। इन तीनों का संयुक्त रूप कदाचित् पृश्नि हो उसके विविध वर्ण त्रिविध शक्तियां हों। वशा के कर्मसामर्थ्य (वीर्य) को चतुर्धा भी कहा गया है—आपः (व्याप्ति धर्मा), अमृत (पोषण धर्मा), यज्ञ (सृजक) और पशु (क्षर, मूर्त-तत्व)।

वशा द्यौः, पृथिवी, विष्णु और प्रजापति है (मं० 30) अतः व्याप्ति धर्मा है। साध्यदेव, वसु आदि उसके पुत्र दुग्ध को पीकर स्वर्गधाम में भी दूध का ही वर्णन करते हैं। इस प्रकार वशा के पोषण सामर्थ्य का उल्लेख है। कोई उससे सोमरस

निकाल लेते हैं और घृत की उपासना करते हैं। सोम और घृत आनन्द और प्रमाण के वाचक हैं और यज्ञ में प्रवृत्ति के कारण हैं। यज्ञरत रहने वाले विद्वान् को गो देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है (मं० ?2)। इस वशा में सत्य, यज्ञ, ज्ञान, वेद और तप विद्यमान हैं (मं० 33) वह देवता और मनुष्यों की उपजीव्या है। जहाँ तक सूर्य चमकता है वहाँ तक विस्तृत यह भौतिक जगत् वशा ही है (मं० 34)।

इस सूक्त में विविध देवशक्तियों से मिलकर सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होने वाली तथा चार प्रकार से स्वयं को सृष्टि में परिवर्तित कर देने वाली प्रकृति का विश्व-रूपिणी गौ के रूप में वर्णन है।

दूसरे वशासूक्त (अवे–12।4) में वशा को कामनाओं का दोहन करने वाली (मं० 35।36), अनेक प्रकार से सृजन में प्रवृत्त होकर विविध पदार्थों के रूपों का निर्माण करने वाली (मं० 29), यज्ञ से निर्मित (मं० 41), स्वधाकार से पितरों को व यज्ञ से देवताओं को तृप्त करने वाली (मं० 32), देवताओं का भाग (मं० 21), देवताओं की निधि (मं० 17) तथा देवों की गो (मं० 12) कहा गया है।

मित्रावरुण के साथ वशा का सम्बन्ध ऊपर बताया गया है। इस रूप में यह सांख्य की महत्प्रकृति के तुल्य है। इसका पिण्डगत रूप बुद्धि और उसकी वृत्तियाँ हैं। भक्त कवि सूरदास ने अपनी इच्छा शक्ति को गो मान कर गो-चारण-दक्ष कृष्ण से उसे चराने की प्रार्थना की है—

माधो जू यह मेरी इक गाय।

* * * * * *

हित करि मिलै लेहु गोकुलपति अपने गोधन मांह।

अथर्ववेद में इसी तरह पिण्डगत वशा को देवों व उनसे प्रेरित कर्मों के लिये समर्पित करने की प्रेरणा दी गई है (अवे० सू० 12।4)। आपाततः इन मंत्रों से गो-दान में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व इन मंत्रों का आत्मनिवेदन के लिए मनुष्य को तैयार करना है। इस प्रसंग में ब्राह्मण की याचना का तात्पर्य अन्तरात्मा की पुकार से हो सकता है। यहाँ संकल्प रूपी गो को हिंसित करने की अपेक्षा उसके उदात्तीकरण (Sublimation) को महत्त्व दिया गया है। ऐसी समर्पित गो के विषय में देवता भी कहते हैं कि यह विद्वान् की गो है (मं० 22)।

एक मंत्र (मं० 28) के अनुसार ऋचाओं को सुनकर जो गोपति अपनी गो को अन्यत्र दूसरी गौओं के साथ विचरने देता है, उसके आयु व ऐश्वर्य नष्ट हो जाते हैं और देवता क्रोध करके उसे काट डालते हैं (मं० 28)। एक मंत्र के

अनुसार जो मन से संकल्प किया जाता है वह अन्य देवों के पास जाता है और तब संकल्प (वशा) को प्रेरित करने के लिए हृदय की पुकार सुनाई पड़ती है (मं० 31)। अन्य गौओं के साथ जब यह गो (अभिलषणीय वशा) विचरण करती है तो बड़ी सन्तप्त होती है और गोपति के लिए विष ही दुहती है (मं० 39)। ऐतरेय उपनिषद् में वश प्रज्ञान का नाम है (3।1।2) अतः मनस्तत्व का वाचक है। यहाँ ऐतरेय उपनिषद् के साक्ष्य से इन वशा के तीन प्रकारों में (मं० 44, 46।47) विलिप्ती (विशेष प्रकार से विषयों में लिप्त-भोमतमा), सूतवशा (इच्छानुसार जन्म लेने वाली) और वशा (सामान्य इच्छाएँ) ये तीन प्रकार की उल्लिखित हैं। मंत्रों में वशा संकल्प या मति का पर्याय माना जा सकता है। मेधा शक्ति को देवार्पित करके तदनुकूल कार्यों में दत्तचित्त हो जाना ही ऐसे मंत्रों का अभिप्रेत भाग ज्ञात होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ब्रह्म की सृजनशक्ति का वशा के नाम से वर्णन किया गया है। उसका पिण्डगत रूप ज्ञानेन्द्रियों की प्रेरक मेधा या मति से अभिन्न है। जिस तरह वशा विविध देवशक्तियों से संयुक्त होकर सृजन में प्रवृत्त रहती है उसी तरह संकल्प शक्ति को देवार्पित करके कर्मरत हो जाने की प्रेरणा देना वशा वर्णन में वेदों का लक्ष्य ज्ञात होता है।

परिशिष्ट-२

ब्रह्मगवी

ऋग्वेद में प्रयुक्त सृजन-शक्ति के अनेक नामों में से एक बृहती भी हैं। बृहती शब्द एकवचन में प्रयुक्त होने पर द्युलोक का वाचक है और सृजक-शक्ति के उस मूल रूप को प्रकट करता है जिसके अदिति (अखण्डनीया) पराशक्ति आदि नाम हैं। इसे बृहेद्दिवा (ऋग्वेद 2।31।4, 5।41।19, 42।12, 10।64।10, 68।8) भी कहा गया है। सृजन में प्रयुक्त होने पर यह बृहती ही स्वयं को द्विधा विभक्त कर लेती है—द्यावा-पृथिवी के रूप में। डा० फतहसिंह के अनुसार यह एक ही देवता है और ब्रह्माण्ड के दो मूल भागों का संयुक्त रूप है (वैदिक-दर्शन पृ० 78-79)। इन्हीं से आकाश और पृथिवी के जोड़े का उद्भव हुआ है जिनमें से द्युलोक सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण अग्नि और सेचन-सामर्थ्य के कारण बृहदुक्षा (ऋ० 10।69।7) कहा गया है। पृथिवी रूपी गो बृहदुक्षा से सिंचित होकर सृजन में प्रवृत्त होती है। बृहती के इस सर्जक रूप का मूल बृहती का प्रथम रूप है। उस प्रथम रूप को ऋग्वेद में देवों की माता, अदिति का मुख, यज्ञ की प्रज्ञापिका, शब्द रूप में ब्रह्म की प्रशस्ति का गान करने वाली बृहती उषा कहा गया है—

माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहतीविभाहि।
पृशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे॥

(ऋ० 1।113।19)

ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती साहित्य में बृहती का ही ब्राह्मी, ब्रह्माणी आदि के रूप में विकास हुआ। ये सब सर्जक-शक्ति के नाम हैं। डा० फतहसिंह के अनुसार शक्ति का अस्तित्व शक्तिमान् के बिना नहीं रह सकता। अतः बृहती के के साथ बृहस्पति और ब्रह्मणपति का उल्लेख भी किया जाता है। बृहस्पति शब्द का प्रथमांश √ बृहि-शब्दे धातु से और ब्रह्मणस्पति का √ प्रथमांश बृह-वृद्धौ धातु से व्युत्पन्न है। यद्यपि सामान्यतया इन्हें अग्नि माना जाता है, परन्तु यास्क ने प्रथम को बृहत् का पालक तथा द्वितीय को ब्रह्म का पालक कह कर दोनों में सूक्ष्म भेद स्वीकार किया है। बृहस्पति नाम शब्द रूप गतिभाव का व्यंजक है। ब्रह्मणपति वृद्धि रूप गतिभाव का वाचक शब्द है। बृहती शब्द √ बृह-वृद्धौ तथा √ बृहि-शब्दे से व्युत्पन्न दो शब्दों का समन्वित होता है और इस प्रकार वह बृहस्पति और ब्रह्मणपति दोनों की शक्ति का वाचक है।

ज्येष्ठराज ब्रह्मणस्पति (ऋग्वेद 2।23।1) और उसकी शक्ति बृहद्दिवा-बृहती सृजन की पूर्वावस्था मानी जा सकती है। यह रूप विराज्, स्वराज् और सम्राज् से ऊपर की स्थिति का द्योतक है। डा० सुधीर कुमार गुप्त ने अपने "A study of the uses of the word ब्राह्मण in the four Ved Samhitas" नामक लेख में ब्राह्मण को परमोच्च-सृजक शक्ति या आदिसलिल की अवस्था माना है। सृजन में प्रवृत्त होने पर ब्रह्मणस्पति ही बृहस्पति बन जाता है और जैसा कि स्वायंभुवी गौ का विवेचन करते हुए (अनु० 9) कहा जा चुका है, 7 छन्दों, 7 ऋषियों आदि विविध रूपों से बृहस्पति का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सप्तशीर्ष्णी-बृहती (ऋ० 10।67।1) का सम्बंध इसी सृजन से ज्ञात होता है।

विश्व को गर्भ में धारण किए हुए "बृहतीः आपः" (ऋ० 10।121।7) भी वही है तथा स्वायंभुवी—गो से अभिन्न है। यह बृहती ही अथर्ववेद में ब्रह्मगवी के नाम से प्रसिद्ध है। डा० सुधीर कुमार गुप्त ने भी ब्रह्मगवी को उपर्युक्त निबन्ध में "वर्द्धमान सृजन शक्ति" माना है। ब्रह्म के सृजन कार्य-रूप गति भाव की द्योतक होने से अथवा ब्रह्म से अधिष्ठित होने से ब्रह्मगवी नाम हो गया ज्ञात होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से बृहस्पति मनोमय पुरुष का ज्ञान पक्ष है और ब्रह्मणस्पति विज्ञानमय कोश का स्वामी। इन दोनों रूपों को डा० फतहसिंह के अनुसार ब्रह्मा नाम से प्रकट किया जा सकता है (वैदिक दर्शन पृ० 175)। ब्रह्मगवी इन दोनों रूपों से सम्बद्ध हो सकती है। इसे वाक् से अभिन्न माना जा सकता है क्योंकि वाक् को ब्रह्म भी कहा जाता है। वाग्वै ब्रह्म (ऐब्रा० 6।3 ? गो ब्रा० 1।3।10)।

अथर्ववेद में ब्रह्मगवी के तीन सूक्त हैं। एक सूक्त (अवे० 5।18) में 15 मंत्र हैं। इनमें कहा गया है कि ब्राह्मण की गो को राजन्य न खावे—ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः (मंत्र 1)। पं० सातवलेकर ने इसका भाव यह माना है कि ब्राह्मण का अपमान न करे (गो को प्र० ख० पृ० 108)। श्री अभय विद्यालंकार ने यहाँ "वाणी को रोकना व बांधना" अर्थ लिया है। (ब्राह्मण की गो—पृ० 16)

डा० सुधीर कुमार गुप्त के अनुसार ब्रह्मगवी अजेय है। यह अव्युत्पन्न वाक् है जो मानवी वाणी के रूप में विकसित होती है। यहां ब्राह्मण भी सृष्टि के रूप में व्याकृत परमदेवता है जो आद्य-आपः से अभिन्न है (A study of the uses of the word ब्राह्मण in the four Ved-Samhitas).

ऐसा ज्ञात होता है कि यहाँ आधिदैविक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों की ओर संकेत है। आधिदैविक पक्ष में ब्रह्मणस्पति व बृहस्पति की शक्ति स्वायंभुवी गो जब सृजन में प्रवृत्त होती है तब उसे दुर्धर्ष जानकर आसुरी शक्तियाँ रोक नहीं सकतीं यह भाव संकेतित जान पड़ता है। इसी तरह आध्यात्मिक पक्ष में ज्ञानशक्ति और इच्छा शक्ति के संयोग से उत्पन्न संकल्प को क्रिया रूप में परिणत होने से रोका नहीं जा सकता यह भाव व्यंजित होता है। आगे सूक्त के भावों से इस मान्यता की पुष्टि होगी।

"अक्षद्रुग्धः" अर्थात् आत्मद्रोही या सृजन भाव से द्रोह करने वाला पापी राजन्य अर्थात् राजा वरुण आदि के असुरत्व भाव की समर्थक आसुरी शक्ति अपने

द्रोह-कार्य से ही पराजित हो जाती है। वे यदि ब्राह्मण की गो को खा जाय तो आज ही जीवित रह सकती हैं कल तो निस्संदेह नहीं अर्थात् सृजन भाव में प्रवृत्त वाणी व आदि शक्ति को अधिक समय तक दबाया नहीं जा सकता (मं० 2)। यह खाई या दबाई जाने योग्य नहीं है। यह विषैली नागिन के समान विज्ञानमय या सूर्यमण्डल (-चर्म में) व्याप्त रहती है (मं० 3)। यह विरोधी बल को नष्ट कर देती है और निरोधक शक्ति को नष्ट करने के लिए घातक विष के समान है (मं० 4)। जो देवद्रोही इसे मृदु जानकर नष्ट करता है, इन्द्र उसके हृदय में जलन उत्पन्न कर देता है। जिससे वह लोकों में निरावृत्त हो जाय (मं० 5)।

सृजन शक्ति अव्याकृत होने पर भी हिंसा करने योग्य नहीं होती। सोम उसका अंशहर और इन्द्र रक्षक है (मं० 6)। निरोधक शक्तियां उसे आक्रान्त कर लें तो भी शतशल्यों के समान पीड़ा देने के कारण उसे अधिक समय छुपाया नहीं जा सकता। स्वादु समझकर इसे खाने वाला मलिन बुद्धि नष्ट हो जाता है (मं० 7)। ब्राह्मण की जिह्वा प्रत्यंचा है, शब्द बाण की नोंक, दांत तप से प्रदीप्त बाण के सरकण्डे होते हैं। इसके वह देव द्रोहियों को बींध देता है (मं० 8)। ब्राह्मण के द्वारा तीक्ष्ण शरों का संधान व्यर्थ नहीं होता (मं० 9)। ब्राह्मण की गो को बांधकर सामर्थ्यशील वैतहव्य भी पराजित हुए (मं. 10)। वैतहव्यों ने गो को मारा नहीं था केवल उसके सृजन कार्य को ही रोका था क्योंकि अगले मन्त्र के अनुसार उस रोकी हुई गो ने वैतहव्यों को पराजित कर दिया था जिन्होंने केसर प्रावन्धा की अजा को भी पकाया था (मं. 11)। इस मन्त्र की अन्तिम पंक्ति का अर्थ अस्पष्ट है। केवल इतना ही पता चलता है कि गो-निरोधक शक्तियां अजा के कार्य में भी व्याघात उपस्थित करती हैं। यह अजा श्वेताश्वरोपनिषद् (4।5) की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अभिन्न ज्ञात होती है।

सृजनशक्ति के विरोधी अकल्पित रूप से पराजित होते हैं (मंत्र 12)। देवबंधु (तुलनीय गोबन्धवः ऋग्वेद) ब्राह्मण का हिंसक देवद्रोही होकर मर्त्यलोक में ही भ्रमित होता रहता है और अस्थि-शेष हो जाता है। पितृलोक तक वह जा भी नहीं सकता (मंत्र 13)। यहां पितृलोक की ओर संकेत है जिससे ऊपर स्वायंभुवी गो का क्षेत्र होता है।

ज्ञानी लोग अग्नि को पदवाय, सोम को दायाद और इन्द्र को अभिशस्ता कहते (मंत्र 14) हैं। गो व पशुओं के पालनकर्त्ता, ब्राह्मण का बाण भयंकर है, साँप के समान विषैला बाण ब्राह्मणद्रोही को वेध देते हैं (मंत्र 15)।

15 मंत्रों का एक और सूत्र ब्रह्मगवी का है। इसमें भी ऐसे ही भाव हैं।

अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त, किन्तु द्युलोक को स्पर्श न करने वाला, वैतहव्य सृंजय भृगु का अपमान करने से पराभूत हुआ (अवे. 5।19।1)। इस मंत्र से स्पष्ट ही निरोधक शक्तियों का स्थान अत्यन्त वृद्धि के उपरान्त भी सृजक शक्ति के केन्द्र द्युलोक से नीचे बताया गया है। भृगु का अपमान करने से ही वे पराजित हो गई। ऐसा ज्ञात होता है कि यह भृगु ऋग्वेद का नेम भार्गव (शब्दार्थ आधा

परिपक्व ऋ० 8।100 का ऋषि) है इसी कारण वैतहव्य उसका अपमान करने में सफल हो सके।

आंगिरस बृहत्साम ब्राह्मण को सताने वाले बुरी तरह नष्ट हुए (मंत्र 2)। ब्राह्मण का अपमान करने वाले का जीव ही दयनीय हो जाता है (मं. 3)।

परिपक्व होती हुई सृजन में प्रवृत्त होती हुई ब्रह्मगवी को उद्वेजित करे या रोके तो राष्ट्र का तेज समूल नष्ट हो जाता है और सेचक शक्तियाँ भी उत्पन्न नहीं होती।

इसका आशसन क्रूर कर्म है और दूध पीना भी पितरों के प्रति अपराध है (मं. 5) ब्राह्मण हिंसक कष्टकर स्थानों को प्राप्त होते हैं (मं. 6)। अष्टापदी, चतुरक्षी, चतुः-श्रोत्रा, चतुर्हनुः, दो मुखों वाली, दो जिह्वा वाली वह गो ब्राह्मण हिंसक के राष्ट्र को हिला देती है (मं. 7) ब्रह्मघाती राष्ट्र दुःखों से भरा रहता है (मं. 8, 9)।

वरुण के कथन के अनुसार ब्राह्मण की गो अर्थात् सृजन शक्ति को हिंसित करके राष्ट्र में कोई नहीं जागता (मं. 10)। उसमें वर्षा नहीं होती, समिति उसकी सहायता नहीं करती न मित्र उसकी इच्छा पूरी करते हैं (9 अवे० 5।19।15) ।

इन दोनों सूक्तों में ब्रह्मगवी की दुर्धर्ष शक्ति का उल्लेख है। ब्रह्मगवी के विषय में पर्याप्त जानकारी एक अन्य सूक्त (अवे० 12।5) से मिलती है जिसमें 73 मंत्र हैं।

इस सूक्त के अनुसार ब्रह्मगवी श्रम और तप से उत्पन्न हुई ब्रह्मा द्वारा ग्रहण की गई और ऋत में आश्रित है (अवे० 12।5।1)। यह सत्य से आवृत्त है, श्री से वेष्टित है और यश से घिरी हुई है (अवे० 12।5।2) यह यज्ञ में प्रतिष्ठित है (मं० 3) ब्रह्मगवी को छीनने वाले की जीवन में कहीं प्रतिष्ठा नहीं हो सकती (मं० 7।11)।

ब्रह्मगवी के भीमरूप का उल्लेख इस सूक्त में भी है (मं. 12)। वह सारी भयंकर बातों व मृत्यु से उपेत है (मं. 13)। ब्राह्मणों की गो दुराधर्ष है (मं. 17)। दौड़ती हुई—अर्थात् कार्यरत होने पर वह वज्र कही जाती है और हाँकी जाने पर अग्नि रूप बनती है (मं० 18)। अपेक्षा होने पर वह महादेव जैसी हो जाती है (मं० 19)। वह मृत्यु और रोगों का कारण है। (मं० 21, 22) वह उसका हनन या निरोध कृत्या के समान घातक है (मं० 39)। एक मंत्र में गो को वैश्व देवा कहा गया है (मं. 53)। वह उसकी गति को रोकने वाली शक्तियों को नष्ट भ्रष्ट करने की सामर्थ्य रखती है।

इन सूक्तों में प्रमुख बाते निम्नलिखित हैं:—

1. इन सूक्तों में √पच्, √अश् आदि धातुओं का प्रयोग लाक्षणिक है।
2. ब्रह्मगवी दुर्धर्ष है।
3. वह अखाद्या है। इससे साधारण पशु गो के अखाद्या होने की बात भी ध्वनित होती है।

4. पितृलोक के ऊपर स्वयंभू मण्डल में ब्रह्मगवी की स्थिति है ।

अथर्ववेद में ब्रह्मजाया का एक सूक्त (अथर्ववेद 5।17) और मिलता है । ब्रह्मजाया से ब्रह्मगवी अभिन्न ज्ञात होती है ।

इस सूक्त के अनुसार जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया का निरोध होता है वहां पृश्नि दूहती नहीं है । न गोएँ मंगलकारिणी होती हैं और वृषभ भार का वहन भी नहीं कर पाते । (अवे. 5।17।12-18) ।

ऋग्वेद में भी एक सूक्त (10।109) में ब्रह्मजाया का वर्णन मिलता है । यहाँ बृहस्पति की पत्नी जुहू को ब्रह्मजाया कहा गया है । अतः ब्रह्मजाया बार्हस्पत्या गो का नाम ज्ञात होता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में जुहू द्यौ: (3।3। ।1) कही गई है । इसमें भी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि होती है ।

उपर्युक्त सूक्तों में ब्रह्मगवी, ब्रह्मजाया आदि का वर्णन करते हुए शुभ संकल्पों को कार्य रूप में परिणत करने से विरत न होने तथा समाज में ब्राह्मण मुखिया से नीयमान जनता की वाणी को न दबाकर जनतांत्रिक भावना का निर्वाह करने का वर्णन है ।

परिशिष्ट— ३

शतौदना गो

क्षीरौदन पकाने का उल्लेख तो ऋग्वेद में भी है परन्तु ओदन का रहस्यात्मक व्याख्यान अथर्ववेद में ही मिलता है। ऋग्वेद में केवल एक मंत्र अथर्ववेद के विचारों का समर्थक मिलता है जिसमें इन्द्र के विशेष ओदन में जीवन के लिए नाना कर्म करने का उल्लेख है। पशु जैसे यव को पोषण के लिए ग्रहण करते हैं वैसे ही कर्मशील प्राणी इस ओदन को स्वीकार करते हैं—

अस्य वृष्णो व्योदन उरु क्रमिष्ट जीवसे। यवं न पश्व आददे।

(ऋ० 8।63।9)

यह संसार अग्नि सोममय है। अग्नि द्वारा 'आप:' (सोम) से विशेष रूपों की सृष्टि होती है। इसी विचार को इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि अग्नि द्वारा ओदन पकाया जा रहा है। यह सारा ब्रह्माण्ड एक घर्म पात्र है जिसमें यह ओदन पक रहा है। ओदन का पकाने वाला ब्रह्म होने से इसे ब्रह्मौदन कहा जाता है और इसी तरह ओदन पाक का कार्य पंच-अक्षर-पुरुषों द्वारा सम्पन्न होने से इसे पंचौदन भी कहा जाता है। ओदन-पाक से ब्रह्म दो भागों में विभक्त हो गया। उसके प्रवर्ग्य अंश से पितृ, देव और मानव सृष्टि हुई। प्रवर्ग्य दशाक्षर विराट् माना जाता है जिसके अक्षर 33 स्तोम, 1000 पृष्ठ, 6 ऋतु, 7 छन्द, 3 सवन, ऋषि, पितृ, असुर, गन्धर्व, देवता और मनु प्राण, 5 पशु शुक्र, और वीर्य हैं। प्रवर्ग्य अंश के सृष्टि रूप में प्रवर्तित हो जाने पर अवशिष्ट रूप में बचा हुआ अंश उच्छिष्ट कहलाया। अथर्ववेद के अनुसार नामरूपात्मक समस्त भूत जात विश्व उच्छिष्ट में समाहित हैं, यज्ञांग भी उच्छिष्ट में प्रतिष्ठित हैं, ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत् सब उच्छिष्ट के अंग हैं (अवे 11।7) प्रवर्ग्य का कारण भी उच्छिष्ट ही है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ओदन परमेष्ठी है–परमेष्ठी वा एष: यदोदन (1।7।10।6) ब्रह्माण्ड के परमेष्ठी मण्डल में और मानव शरीर के विज्ञानमय कोष में सृजन शक्तियों की कर्म-प्रवृत्ति ही ओदन है। अथर्ववेद की शतौदना गो (अवे. 10।9) इन कर्म-प्रवृत्तियों को ही प्रकट करती है॥

शतौदना गो इन्द्र द्वारा प्रदत्त है (म० 1)। इसका चर्म यज्ञवेदी है, राम बर्हि आसन है (अत: वह यज्ञ रूपा ज्ञात होती है) (म० 2)। उसके बाल प्रोक्षणी हैं और जीभ मार्जन करती है वह शुद्ध यज्ञिया होकर द्युलोक तक जाती है (म. 3)। शतौदना को जो पुष्ट करता है वह मानो कामप्र यज्ञ करता है

(म. 4)। शतौदना का दाता त्रिदिव में आरोहण करता है (मं. 5)। हिरण्मयी ज्योति से युक्त शतौदना प्रदान करने वाला स्वर्गीय व पार्थिव सभी लोकों को पाता है (मं. 6)। शतौदना नामक दिव्य गो को शान्ति प्रदान करने वालों से वह डरती ही है (मं. 7)।

सारे देवता शतौदना की रक्षा करते हैं (म. 8-9)। वह घृत प्रवाह देने वाली है तथा स्वर्ग तक उसकी गति है (म. 11)। पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्युलोक स्थित प्राणियों के लिए शतौदना दधि व घी का दोहन करती है (मं. 12)। यह शरीर के सम्पूर्ण अंगों की सामर्थ्य के साथ घृतादि दूहती है (मं. 13-24)। वह उसके पोषक को स्वर्ग में पहुंचाती है (मं. 25)। सृजक शक्तियों के हाथ में (ब्रह्मणां हस्तेषु) पृथक्-पृथक् रूप से शक्ति प्रदान करना (मं. 26) शतौदना का ही कार्य है।

इस प्रकार शतौदना गौ के सूक्त में सृजक शक्ति और उसके कार्यों की ओर संकेत किया गया है।

परिशिष्ट--४

विराज् का सृजन कार्य

विराज् वाक् का नाम है। उसकी दोहन प्रक्रिया का उल्लेख प्रबन्ध में हुआ है। उसके द्वारा प्रवर्तित सृजन की अन्य प्रक्रियाओं का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

डा० फतहसिंह ने वृत्र को वाक् या माया की निष्क्रिय अवस्था मानी है। (वेद पृ० 202) इसी वृत्र से सूर्य की उत्पत्ति होती है—वृत्राज्जातो दिवाकरः (अवे)। यह वृत्र भी विश्वरूप कहा गया है। वृत्र के मर जाने पर अर्थात् उसकी आवरक स्थिति समाप्त हो जाने पर 'आपः' का उद्भव होता है, जो सृष्टि के कारण बताये गये हैं। आपः और गौ अभिन्न हैं। इन आपः को वाक् या प्रकृति की शवला या विराज नामक विश्व रूप गाय माना जा सकता है। यह गो ही सृजन कार्य में प्रवृत्त होती है।

अथर्ववेद के एक मंत्र (8।9।10) के अनुसार डा० फतहसिंह ने वैदिक दर्शन में सृष्टि की पांच प्रक्रियाओं का उल्लेख व विवेचन मिलता है। ये पांच प्रक्रियायें हैं—मिथुनत्व की प्रक्रिया, ऋतु प्रक्रिया, कल्प प्रक्रिया, दोहन प्रक्रिया और व्युष्टि प्रक्रिया। वैदिक दर्शन के आधार पर इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है--

मिथुनत्व-प्रक्रिया—

सलिल, सरिर, सर्व, सर या आपः के नाम से अभिहित अव्याकृत प्रकृति सक्रिय होकर प्रकृति और पुरुष के रूप में व्याकृत हो जाती है। ये दोनों विराज् के दो बछड़े हैं जो सलिल से उत्पन्न हुये हैं (अवे. 8।9।1)। दोनों बछड़े बृहस्पति व बृहती-प्राण व वाक् है। इन्हें ब्रह्म और बृहती भी कहा जा सकता है (वेद पृ. 209-10)। ब्रह्म या प्रजापति से पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ के रसाग्नि, वायु, आदित्य उत्पन्न होते हैं। प्रलय के पश्चात् अर्क या आपः उत्पन्न होता है जिससे पृथ्वी और अग्नि नाम का तेजस् उत्पन्न होता है जो स्वयं को आदित्य, वायु और प्राण में व्याकृत कर लेता है। इन तत्वों से आगे सृजन चलता है। ब्रह्म-बृहती के युग्म से प्रारम्भ होने के कारण यह प्रक्रिया मिथुनत्व प्रक्रिया कहलाती है। आगे का सृजन व्यापार भी इसी क्रम से चलता है।

व्युष्टि प्रक्रिया—

प्रलयोपरान्त प्रकृति के द्वारा सृजन में प्रवृत्त होने पर अर्क और उससे अग्नि,

वायु और आदित्य उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ संवत्सर से हुआ जो स्वयं आत्मा व वाक् से उत्पन्न है। संवत्सर और वाक् से व्युष्टि प्रक्रिया द्वारा सृजन चलता रहता है। संवत्सर या सूर्य रात्रि या एकाष्टका वाक् से संयुक्त रहता है जो उसकी प्रतिमा मानी जाती है। संवत्सर की कल्पना का आधार यह है कि सृष्टि या व्युष्टि काल के अन्तर्गत होती है। संवत्सर और वाक् से व्युष्टि रूप सृजन चलता है। पांच प्रकार की सृजन की अवस्थायें या उषायें हैं--

1. रात्रि या एकाष्टका
2. ऊर्ज को उत्पन्न करने वाली उषा
3. प्रजा से सम्बद्ध उषा
4. देवयु-राष्ट्र की रक्षिका उषा
5. ऋषियों से सम्बद्ध उषा

ये उषायें इन्द्र, देवों, मनुष्यों, असुरों व पितरों तथा ऋषियों के पांच धामों में होती है।

दोहन प्रक्रिया—

विराज् का दोहन उपर्युक्त पांच धामों में होता है। जिनमें देव, मनुष्य, पितृगण, असुर, गन्धर्वाप्सरस, इतरजन, सर्प आदि अपने अपने अभीष्ट पदार्थ दुह कर विराज् से पोषण पाते हैं।

कल्प प्रक्रिया—

कल्प प्रक्रिया में भी पांच अवस्थायें होती हैं जो अवान्तर-अवस्थाओं से मिल कर एक कल्प का निर्माण करती है। यह एक कल्प अनेक कल्पों या प्राणों के रूप में बदल कर सृजन का कारण बनता है। अवान्तर कल्पों की सृष्टि करने वाला मुख्य कल्प ब्रह्म व वाक् का संयुक्त तत्व अग्नि—सोम है। मुख्य कल्प स्वर युक्त बृहदर्की या बृहदर्क है जिससे जगती, त्रिष्टुप, गायत्री और अनुष्टुप नामक कल्पों का आविर्भाव होता है।

ऋतु प्रक्रिया—

विराज् की ऋतुएँ पाँच, छह, सात या एक हैं। ऋतु प्रक्रिया का सम्बन्ध ऋतु से है। ऋग्वेद में भी ऋत् द्वारा सत्य से मिल कर सृजन में प्रवृत्त होने का उल्लेख है।

इन क्रियाओं से विराज् के पांच रूपों की प्रतीति होती है परन्तु इस विभिन्नता में भी एकता है। अन्ततोगत्वा नाना रूपों में व्यक्त शक्तियाँ एक गौ, एक ऋषि, एक धाम, एक यक्ष या एक ही ऋतु मानी जा सकती है, जिसके बाहर कुछ भी नहीं है।

परिशिष्ट–५

गवामयन सत्र और त्रिकद्रुक–दिन

प्रबन्ध में उल्लिखित गवामयन व त्रिकद्रुकों का यहां विस्तार से विवेचन किया जा रहा है। नष्ट गोधन की प्राप्ति के लिए गवामयन सत्र किया जाता है। यह सत्र संवत्सर पर्यन्त चलने वाला है। गो-लाभ का साधन होने से इसका नाम गवालम्भ हो गया है। प्रज्ञा-बल की प्राप्ति के लिए संवत्सर-पर्यन्त की जाने वाली विशेष साधना ही गवामयन ज्ञात होती है।

प्रज्ञा-बल की सिद्धि के लिए की जाने वाली इस विशेष साधना की कल्पना संवत्सर काल से ली गई ज्ञात होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र (10।85) के अनुसार अघा या मघा नक्षत्र में सूर्य की गौओं की शक्ति क्षीण हो जाती है—अघासु हन्यते गावः। इन क्षीण गौओं को सूर्य द्वारा प्रवर्तित गवामयन–सत्र द्वारा पुनः शक्ति प्राप्त होती है। सूर्य इस यज्ञ का होता है। उसकी सप्त रश्मियों को ही सात होता कहा गया ज्ञात होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित अदिति के आठ पुत्रों की कल्पना का आधार भी कदाचित् यही है। इनमें से आठवां अदिति पुत्र-आदित्य इन्द्र ज्ञात होता है जिसकी गौएँ कभी क्षीण नहीं होतीं। उसका अध्रिगु (ऋ. 1।61।1) विशेषण इस बात को सूचित करता है। आदित्य के आठवें रूप को प्रदर्शित करने वाली रश्मि ही कदाचित् चन्द्रमा में प्रकाशित होती है। फाल्गुन महीने में सूर्य की गौओं-रश्मियों के पुनः शक्ति सम्पन्न होने के विषय में कल्पना की गई ज्ञात होती है कि उस एक अक्षीण रश्मि से अन्य रश्मियां शक्ति ग्रहण करती हैं। कदाचित् सोमपान करके बलवान् होकर इन्द्र के द्वारा गोविमुक्ति की गाथा का मूल यह प्राकृतिक घटना हो। प्रतिवर्ष सूर्य की गौओं-रश्मियों के क्षीण होने और पुनः पुष्ट होने या खोई हुई गौओं के प्राप्त हो जाने का गवामयन-सत्र चला करता है। इस प्राकृतिक-सत्र के आधार पर गवामयन या गवालम्भ यज्ञ किया जाता है।

गवामयन सत्र में वर्ष के 6 महीने बीत जाने पर विषुवत् नामक दिन होता है। इसके पहले के चार और पीछे के चार मिला कर कुल नव दिन विशेष भावों के आठ दिन आठ दिशाओं के और नवां ऊर्ध्व स्थित स्वर्ग लोक का प्रतीक है। इनमें प्रथम दिन अर्थात् विषुवत् दिन के पूर्व का चौथा विश्वजित् कहलाता है जिस दिन विश्वजित् नामक एकाह यज्ञ किया जाता है। इसी तरह विषुवत् के बाद का चौथा दिन अभिजित् कहलाता है। इनके बीच के सात दिन 'परः सामानः' नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—
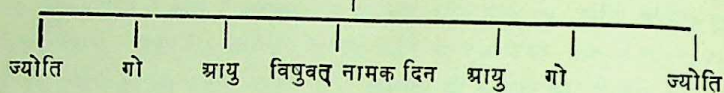
इनमें से ज्योति, गो और आयु ये तीनों त्रिकद्रुक कहे जाते हैं। ये सोमपान के विशेष दिन हैं। ऋग्वेद में भी त्रिकद्रुकों में इन्द्र द्वारा सोम पीने व प्रहर्षित होने का उल्लेख मिलता है। (ऋ० 1।32।3,2।11।17,2।15।1,2।22।1)। यज्ञ में इन्द्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए गौ का स्पर्श—आलम्भ-किया जाता है। या पं० मधुसूदन ओझा के अनुसार विषुवन्नामक दिन को सौर्य पशु का आलम्भ कि जाता है (यज्ञ सरस्वती पृ. 21।3)। सौर्यपशु के आलम्भ करने का तात्पर्य यह होता है कि इन्द्र—प्राणात्मक सूर्य-की प्रतिनिधि गो को ग्रहण किया जाय। इन्द्र को सोम पिलाने के भाव की रूप-समृद्धि के लिए सोमरस के द्रोण कलश को गौओं को सुंघाया जाता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र (यवेवा 8।42) के अनुसार द्रोण कलश सूंघने से गौओं में सोम प्रविष्ट हो जाता है जिससे समग्र गौएँ (सहस्रवीर्य सम्पन्न इन्द्र के लिए सहस्र गौओं का आलम्भ किया जाता है) प्रचुर दुग्ध से सम्पन्न होकर पुनः यजमान को प्राप्त होती हैं।

स्पष्ट है कि गवामयन यज्ञ में प्राकृतिक यज्ञ की तरह गौएँ पुष्ट होकर यजमान को प्राप्त होती हैं। गौओं को सोम पिलाने या सुंघाने को लक्षणा से उनको पुष्टिकर खाद्य खिलाने के रूप में ग्रहण करना उचित है।

त्रिकद्रुकों में ज्योतिक्रतु में रथन्तरसामयुक्त पृष्ठ स्तोत्र, गोक्रतु में बृहत्साम-युक्त पृष्ठ स्तोत्र और आयुक्रतु में वैरूपसामयुक्त पृष्ठ स्तोत्र कर्त्तव्य हैं। इसी तरह विषुवत् नामक दिन के पीछे आयुक्रतु में वैराजसामयुक्त, गो में शाक्वरसामयुक्त और ज्योति में रैवत साम युक्त पृष्ठ स्तोत्र किये जाते हैं। सृष्टि का प्रारम्भ रथन्तर साम माना गया प्रतीत होता है। बृहत् साम बृहती नामक सर्जन शक्ति का सर्जन में प्रवृत्त होना है। बृहती ऋषि-प्राणों के रूप में अनेक रूपों वाली—विरूपा—हो जाती है। तब सौरमण्डल में विराज् की सृष्टि का विस्तार होता है। सर्जक शक्तियाँ इस सृष्टि में सामर्थ्य युक्त शाक्वरी (शक्वर-बल) और रेवती (रयि-अन्न, धन से युक्त) होकर प्रविष्ट होती हैं। उपर्युक्त त्रिकद्रुकों की क्रियाएँ सृष्टि की इस प्रक्रिया की प्रतीक ज्ञात होती हैं।

त्रिकद्रुक शब्द का अर्थ है—कद्रू के तीन। कद्रू को 'वैदिकदर्शन' में डा० फतहसिंह ने सर्जनशीला वाक् को घेर कर रहने वाली असर्जक शक्ति-रूपा-वाक् माना है। कद्रू से ही सर्जनशीला वाक् सुपर्णी उत्पन्न होती है। अतः सर्जन-शीला वाक् के तीन रूप ही त्रिकद्रुक शब्द द्वारा व्यक्त हुए ज्ञात होते हैं। वाक् प्रकृति का ही नाम है जिसके तीन रूप सत्त्व, रज और तम हैं। इनके द्योतक ब्रह्माण्ड में द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवीलोक और इनके अधिष्ठातृ देवता आदित्य,

वायु और अग्नि है तथा शरीर में मन, प्राण और वाक् हैं। ज्योति, गो और आयु नामक दिन इन्हीं के प्रतीक ज्ञात होते हैं।

यद्यपि ज्योति का सम्बन्ध द्युलोक से, गो का अन्तरिक्ष से और आयु का पृथिवी लोक से है परन्तु ये प्रत्येक त्रिवृत्-भाव से 'तीनों लोकों में व्याप्त हैं–अग्नि, विद्युत और आदित्य के रूप में ज्योति, वसुदुहिता, रुद्रमाता और आदित्य-स्वसा के रूप में गो तथा गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती के रूप में आयु तीनों लोकों में व्याप्त हैं। देवता भी इसी प्रकार त्रिवृद्भाव से युक्त होने से त्रिषधस्थ कहे गए हैं। गो प्रकाश स्वरूप होने से ज्योति गति रूप होने से गो और प्रतिष्ठारूप होने से आयु है और इस प्रकार 'त्रिकद्रुक' नाम से अभिहित गो ही है जिसे संवतत्सर-यज्ञ में उपकल्पित किया जाता है।

देवताओं में 3 मनोता अग्नि, सोम और गो हैं। अग्नि आयुरूप और सोम ज्योतिरूप हैं। अतः ये मनोता भी ज्योति, गो और आयु से अभिन्न ज्ञात होते हैं। पं. मोतीलाल शर्मा के अनुसार तत्त्व का पारिभाषिक नाम मनोता है और ज्योति, गो और आयु सूर्य के तीन मनोता हैं। ज्योति-तत्त्व इन्द्रिय प्राणों का आधार है। ज्योतिर्मय 33 देवता इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर शरीर-संचालन के आधार बनते हैं। गो नामक सौर तत्त्व शारीरिक भूतों का आधार है। एक सहस्र गो प्राण भौतिक शरीर का संचालन करते है। ब्रह्माण्ड में सौर गौएँ-रश्मियां यही कार्य करती हैं। आयु नामक पार्थिव-तत्त्व 36000 जीवन सूत्रों या प्राणात्मक आत्मभावों से भूतात्मा का आधार बनता है (देखो संस्कृति व सभ्यता पृष्ठ 294 तथा 37।)।

ऋग्वेद के दो मंत्रों (ऋ. 8।13।18, 92।21) के अनुसार त्रिकद्रुकों में देवों ने चेतना के यज्ञ का विस्तार किया—

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।

यह चेतना का यज्ञ आयु, इन्द्रियों व उनके अधिष्ठाता प्राण शक्तियों तथा मन द्वारा चल रहा है। संवत्सर के प्रतीक के रूप में चलने वाले गवामयन में त्रिकद्रुक की कल्पना शरीर व ब्रह्माण्ड के आधार उपर्युक्त तीन तत्वों के आधार पर हुई है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार त्रिकद्रुक के पहले व पीछे के 6 दिनों में एक ही सर्जन कर्म-बृहत् व्याप्त है जो गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्दों के साथ यज्ञ में समाहित है (ऋ. 10।14।16)। क्योंकि गवामयन के इन परःसामाख्यादि दिनों में पूरे संवत्सर की भावना की जाती है अतः यम का सम्बन्ध पूरे संवत्सर से सिद्ध होता है। फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को अष्टकाधेनु कहा जाता है। गवामयन का प्रारम्भ कदाचित् उस दिन से होता हो। उस अष्टका को संवत्सर रूपी वत्स की जन्मदात्री धेनु माना गया है। इस धेनु को यम से सम्बद्ध (अवे० 3।10।1) मानने का कारण संवत्सर का यम में समाहित होना ज्ञात होता है।

इस प्रकार संवत्सर की नवदिनों में भावना करके प्रज्ञोपलब्धि के लिए विशेष साधना करना ही गवामयन का उद्देश्य प्रतीत होता है। इसमें शरीर गत मन, प्राण और वाक् द्वारा चलने वाले चेतना के यज्ञ को काल-ब्रह्म के साथ संयुक्त किया जाता है, जिससे आयु, गो और ज्योति द्वारा निर्दिष्ट तत्व परमज्योति की उपलब्धि में सहायक बन जाए।

—oo✲oo—

परिशिष्ट-६

गो-सव व गो-मेध

प्रबंध में प्रासंगिक रूप से गो-सव व गोमेध का उल्लेख हुआ है उनका विस्तृत विवेचन करना यहां अभीष्ट है। सव शब्द √षु-प्रसवैश्वर्ययो:-धातु से अथवा √षुञ-अभिषवे धातु से व्युत्पन्न है। धात्वर्थ से गोसव का अर्थ-गोओं का प्रसव, गोओं के एश्वर्य से युक्त होना, गोओं का दोहन करना और गोओं को प्रतीक बनाकर विशेष प्रकार की साधना द्वारा प्रज्ञा शक्ति को दुह लेना ज्ञात होता है। पृथिवी को धान्यादि के प्रसव के लिए उर्वर बना देना भी गोसव ही है। प्रजापति से सर्जक शक्ति का उद्भव होना; सूर्य से गोरूप किरणों प्रादुर्भाव होना, शरीर में प्रज्ञान से इच्छा, ज्ञान, क्रिया का उद्भव आदि गोसव के ही विविध रूप हैं। इन प्राकृतिक व आध्यात्मिक गोसवों के प्रतीक के रूप में गोमेध यज्ञ किया जाता है। गवामयन में काल ब्रह्म की उपासना होती है उसी तरह गोमेध या गोसव में दिक्-तत्व या प्रतिष्ठा-तत्व को उपासना का केन्द्र बनाया जाता है। गो को विशेष श्लाघा का विषय बनाने के कारण गोसव को गोष्टोम भी कहते हैं अथवा गोष्टोम कहने का कारण गोओं का संग्रह (गो + स्तोम-समूह) करना हो।

ताण्ड्य महाब्राह्मण के अनुसार गोसव स्वाराज्य यज्ञ है। इस यज्ञ में अयुत-दस सहस्र गोओं की दक्षिणा दी जाती है। गोओं के तत्काल दुहे हुए दूध से अभिषेक किया जाता है (तामब्रा 19।13।1-7)। परमेष्ठी प्रजापति स्वाराज्य है। यह यज्ञ परमेष्ठी मण्डल में चलने वाली सर्जन प्रक्रिया का प्रतिरूप है।

गोसव के इस वर्णन से व्यंजित होता है कि इस यज्ञ में 10 हजार गोओं को ग्रहण किया जाता है और यज्ञ में उनके दुग्धघृतादि के उपयोग कर लेने के उपरान्त उनको दक्षिणा में दे दिया जाता है। इसमें बृहद्‌ व रथन्तर नामक सामों का अनुष्ठान किया जाता है। गोओं के बीच में रहकर यज्ञ करने से दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है। एक तो प्रचुर घृत दुग्धादि के उपभोग से शरीर की शक्ति बढ़ती है, द्वितीयत: गोओं के बीच में रहकर यज्ञसाधना करने से और गोओं की प्रचुर दक्षिणा

से यज्ञ का फल कई गुना हो जाता है। चाणक्य के अनुसार शीलज्ञ ही गोओं के दुग्धादि का सही मानों में उपभोग करता है। स्पष्ट है कि गोओं में निवास करने से शील की वृद्धि होती है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार बृहत् और रथन्तर साम का अनुष्ठान ही स्वराज्य प्राप्ति का हेतु है। यह षट्त्रिंश युक्त उक्थ्य संस्था रूप होता है (तैब्रा 2।8।6)।

यज्ञ में गोओं का ग्रहण व दान मौलिक-यज्ञकी किस क्रिया की रूपसमृद्धि के लिए है? इस प्रकार का उत्तर इसी प्रसंग से खोजना होगा। गो गतिभाव का द्योतक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ऋक् से सब मूर्तियों या पिण्डों का निर्माण होता है, गतितत्व यजुः है और तेज या मण्डल साम है इन तीनों से विश्व की सृष्टि हुई है——

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वंतेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार आयतन का निर्माण करने वाला यजु या गतितत्व है। यजुः का यत् भाग वायु या गति का संकेत है और जू भाग आकाश या स्थिति तत्व है। (वेदविद्या पृ० 248)। ब्रह्माण्ड का विस्तार या आयतन-यत् आकाश—जू में व्याप्त है। यही इस सृष्टि का अस्ति—भाव है। इस आकाश का सूक्ष्म भाग समस्त गतियों का केन्द्र होता है जिसे खं ब्रह्म या नभ्य प्रजापति कहा जाता है। डा. अग्रवाल के अनुसार वह समस्त गतियां प्राणात्मक कम्पन या स्पन्दन का स्रोत अखण्ड, ध्रुवस्थिति—बिन्दु है। वही प्रत्येक गति का हृदय है (वेदविद्या पृ. 249)। परम स्थिति स्वरूप होने से ही उसे परमेष्ठी कहा जाता है। परमेष्ठी का गोसव इस नभ्य-प्रजापति से सम्बद्ध ज्ञात होता है। नभ्य-प्रजापति या परमेष्ठी से गो या गति का उत्पन्न होना ही गोसव ज्ञात होता है। गो उत्पत्ति के पहले परमेष्टी में ही सूक्ष्म रूप से निवास करती है। परमेष्ठी ही गो का परमपद और विष्णु का गोलोक ज्ञात होता है। यज्ञ विष्णु है। अतः गोओं को यज्ञ में ग्रहण करने से स्वाराज्य या विष्णु और उसके गोलोक—परमेष्ठी मण्डल की रूप समृद्धि की जाती है। जो क्रिया सर्जन के लिए परमेष्ठी मण्डल में होती है वह प्रत्येक पिण्ड में होती है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र से गोएँ-रश्मियां बाहर निकलती रहती हैं वे ही द्रष्टा की आँखों से टकरा कर उसे उस वस्तु का मान कराती है।

प्रश्न होता है कि पिंड में रश्मियाँ आती कहाँ से है? डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार ब्रह्माण्ड की गति का केन्द्र सूर्य है जिससे निरंतर शक्ति का वितरण होता रहता है (वेद विद्या पृ. 112)। सूर्य प्रत्येक वस्तु में अपनी रश्मियों

से शक्ति भरता है वही शक्ति उस वस्तु की रश्मियों में परिणत होती है। सूर्य का रश्मियों द्वारा अन्य पिण्डों से मिलने का यह कार्य गोमेध अर्थात् गोओं द्वारा संगमन (√मेधृ संगमने धातु से व्युत्पन्न) है। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सूर्य रूपी गो के गोमेध से ही उसकी रश्मियाँ चारों ओर फैलकर सब पदार्थों की रचना कर रही हैं (वेद विद्या 12)।

पिण्डाण्ड में विज्ञानमय कोश ही सूर्य है। विशेष साधना द्वारा उसकी प्रज्ञाशक्ति को जाग्रत करना, जिससे वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया को संयत करके चैतन्य तत्व का बोध करा सके—यही गोमेध का स्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार गोसव सर्जन शक्ति के उद्भव और गोमेध उस शक्ति से तादात्म्य स्थापित करने से सम्बन्ध रखता है।

परिशिष्ट–७

विश्वरूपिणी गो

ऋग्वेद में गो को विश्वरूपा कहा गया है (ऋ. 4।33।8), परन्तु इस रूप का ऋग्वेद में वर्णन नहीं मिलता। एक मंत्र अवश्य ही अदिति की महिमा को व्यक्त करता है जिससे गो का विश्वरूप भी व्यञ्जित होता है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पंचजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋ. 1।89।10)

इसी तरह अथर्ववेद में वशा को द्यौः, पृथिवी, विष्णु, प्रजापति आदि से अभिन्न बताया गया है—

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
(अवे. 10।10।30)

अथर्ववेद में विश्वरूपिणी गो का विस्तार से वर्णन मिलता है। अथर्ववेद के एक सूक्त (अवे. 9।7) में, जिसका ब्रह्मा ऋषि और गो देवता है, गो के प्रत्येक अंग को किसी न किसी देवता का स्वरूप माना गया है। इस सूक्त के आधार पर गो का विश्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

गो के अवयवों में देवताओं का स्थान

मंत्र संख्या	गो का अंग संस्कृत नाम	गो का अंग हिन्दी नाम	देवता
1	शृंगे	दोनों सींग	प्रजापति और परमेष्ठी
	शिरः	सिर	इन्द्र
	ललाटः	ललाट	अग्नि
	कृकाटम्	गले का भाग	यम
2	मस्तिष्कः	मस्तिष्क	सोम राजा
	उत्तरहनुः	ऊपर का जबड़ा	द्युलोक
	अधरहनुः	नीचे का जबड़ा	पृथिवी
3	जिह्वा	जीभ	विद्युत्
	दन्ताः	दांत	मरुद्गण
	ग्रीवाः	गरदन	रेवती नक्षत्र
	स्कन्धाः	कन्धे	कृत्तिका नक्षत्र
	वहः	गरदन या कंधे का वह भाग जिस पर जुआ रखा जाता है	सूर्य (घर्मः)

मंत्र संख्या	गो का अंग संस्कृत नाम	गो का अंग हिन्दी नाम	देवता
4	विश्वम्	सब (प्राणायाम)	वायु
	कृष्णाद्र	—	स्वर्णलोक
	निवेष्यः	पृष्ठ प्रदेश की सीमा	विधरणी (धारक शक्ति)
5	क्रोड	गोद	श्येन
	पाजस्यं	पेट	अन्तरिक्ष
	ककुद्	कूबड़	बृहस्पति
	कीकसाः	हड्डी	बृहती
6	पृष्टवः	पीठ का भाग	देवपत्नियां
	पर्शवः	पसलियाँ	उपसद इष्टियाँ
7	अंसौ	दोनों कंधे	मित्र व वरुण
	दोषणी	दोनों बाहु भाग	त्वष्टा व अर्यमा
	बाहू	दोनों बाहु	महादेव
8	भसद्	गुह्य भाग(-योनि)	इन्द्राणी
	पुच्छम्	पूंछ	वायु
	बालाः	बाल	पवमान
9	श्रेणी	नितम्ब	ब्राह्मण और क्षत्रिय
	उरू	दो राने	बल
10	अष्ठीवन्तौः	टखने	सविता और धाता
	जंघा	जंघाएँ	गन्धर्व
	कुष्ठिका	खुर भाग	अप्सराएं
	शफाः	खुर	अदिति
11	हृदयः	हृदय	चेतना (चैतन्य)
	यकृत्		मेधा-बुद्धि
	पुरीतत्	आंतें	व्रत (यज्ञ नियम)
12	कुक्षि	कोंख	क्षुधा
	वनिष्ठुः	बड़ी आंत	इरा (अन्न या इला देवी)
	प्लाशयः	छोटी आंत	पर्वत
13	वृक्कौ	गुर्दे	क्रोध
	अण्डौ	वृषभ के अण्डकोष	मन्यु (उत्सार)
	शेषः	वृषभ की जननेन्द्रिय	प्रजा
14	सूची	नाड़ी	नदी
	स्तनाः	स्तन	वर्षा का पति मेघ
	ऊधस्	दुग्धाशय	गरजने वाला मेघ

मंत्र संख्या	गो का अंग संस्कृत नाम	गो का अंग हिन्दी नाम	देवता
15	चर्म	चमड़ा	विश्वव्यपा: —व्यापक आकाश
	लोमानि	लोम	औषधियां
	रूपम्	रूप	नक्षत्र, तारागण
16	गुदा	गुदा	देवजन-देवलोक
	आंत्राणि	आंतें	मनुष्य
	उदरम्	पेट	भक्षक प्राणी
17	लोहितम्	रक्त	राक्षस
	ऊबध्यम्	अपचित अन्न	इतरजन
18	पीव:	मेद	अभ्र
	मज्जा	मज्जा	निधन-मृत्यु

गो के उठने, बैठने आदि कर्मों को भी देवों से सम्बद्ध दिखाया गया है—

मंत्र संख्या	गोकर्म	सम्बद्ध देवता
19	गो का बैठना	अग्नि
20	गो का उठना	अश्विनौ
	पूर्व में ठहरना	इन्द्र
21	दक्षिण में ठहरना	यम
	पश्चिम में ठहरना	सविता

गो के कतिपय कर्मों और उपयोगों से विशेष स्थिति प्राप्त होती है—

मंत्र संख्या	गोकर्म अथवा गो का उपयोग	प्राप्त विशेष स्थिति
22	गो को घास मिलने से	सोम राजा होता है
23	गो को देखने से	मित्र प्राप्त होता है
	गो के लौटने से	आनन्द मिलता है
24	बैल जोतने पर	वैश्वदेव की प्राप्ति
	बैल के जुते होने पर	प्रजापति की प्राप्ति
	छोड़ देने पर	सर्व-सब कुछ की प्राप्ति

यह गो का विश्वरूप और सर्वरूप है। इस बात को जो जानता है उसे विश्व-रूपी और सर्वरूपी पशु (–गो) प्राप्त होते हैं (मंत्र 25–26)। पुराणों में गो के सर्वदेवमय स्वरूप का वर्णन मिलता है, उसका मूल अथर्ववेद का यह वर्णन ही ज्ञात होता है।

परिशिष्ट ८

अनड्वान्

अनड्वान् गो के पुमान् पक्ष का द्योतक है और वह भी सृजन तत्त्व का बोधक है। ऋग्वेद के विचारों की पुष्टि में यहाँ गो के पुमान् पक्ष को प्रस्तुत किया जा रहा है। सृष्टि शकट का वहन करने वाले (अनसं वहति इति अनड्वान्) दिव्यतत्त्व ब्रह्म को अनड्वान् कहा गया है। अथर्ववेद में एक सूक्त (4।11) में अनड्वान् का वर्णन मिलता है। मृग्वंगिरा ऋषि-दृष्ट इस सूक्त में 12 मंत्र हैं।

इस सूक्त के अनुसार अनड्वान् द्युलोक, पृथिवी, विस्तृत अन्तरिक्ष, विविध दिशाओं और छह उर्मियों को धारण करता है। वह समस्त भुवनों में प्रविष्ट है (मंत्र 1)। अनड्वान् इन्द्र है वह सब प्राणियों के लिए प्रकाशित होता है और तीन मार्गों का निर्माण करता है। वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का दूहन करता हुआ देवों के व्रतों का पालन करता है (मंत्र 2)। इन्द्र मनुष्यों में उत्पन्न होता और तप्त धर्म के समान प्रदीप्त होता हुआ विचरण करता है। जो इस बात को जानता हुआ अनड्वान् (से उत्पन्न अन्न) का सेवन नहीं करता वह उत्तम प्रजा से युक्त होकर उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होगा (मंत्र 3)।

अनड्वान् पुण्यों के फल का लोक में दूहन करता है। पवित्र करने वाला यह देव पहले से इस साधक को पूर्ण करता है। पर्जन्य इसकी धाराएँ हैं, मरुत् इसका दुग्धाशय है, यज्ञ ही दूध है और इसका दोहन ही दक्षिणा है (मन्त्र 4)। इस अनड्वान् का न यज्ञकर्त्ता अधिपति है, न यज्ञ, न दाता इसका स्वामी है और न प्रतिग्रहीता। वह स्वयं विश्वविजयी, विश्व का पोषक और विश्वकर्मा है। उस चार पैर वाले प्रदीप्त स्वरूप वाले (धर्म) के विषय में हमें बताओ (मंत्र 5)।

अनड्वान् से देवता शरीर को छोड़कर अमृत की नाभि रूपी स्वर्ग पर आरूढ़ हुए, उस प्रदीप्त (धर्म) के व्रत द्वारा और तप द्वारा यश के इच्छुक हम पुण्य कामों से प्राप्त लोकों को प्राप्त करेंगे (मंत्र 6)। रूप से इन्द्र और वहन सामर्थ्य से अग्निस्वरूप अनड्वान् विविध प्रकार से प्रकाशमान (विराट्) परमेष्ठी प्रजापति है। वह समस्त मानवों और उसके कर्मों में व्याप्त है। विश्वशकट की वहन-सामर्थ्य में भी वह ओत-प्रोत है। वह सबको सुदृढ़ करता व धारण करता है (मन्त्र 7)।

यह वहन कर्म (वहः) अनड्वान् का मध्यम कर्म है। इसका इतना ही सामर्थ्य पूर्व में और इतना पश्चात् समाहित है अर्थात् वर्तमान सृष्टि के पूर्व में भी इसने वहन कर्म किया है और आगे भी करेगा (मं. 8)। जो कभी न गिरने वाले सृष्टिवाहक अनड्वान् के सात दोह-कर्मों को जानता है वह सप्तर्षियों को

जानता है और प्रजा व लोक को प्राप्त करता है (मंत्र 9)। यहां सप्त ऋषियों का सम्बन्ध व्यंजना से सात दोहों से जुड़ता है। ऋषि पद गति विशेष का द्योतक है। अतः सृष्टिकर्म की प्रवर्तक सात गतियाँ ही अनड्वान् के सात दोहन-कर्म ज्ञात होते हैं।

यह अनड्वान् पांवों से गति को दूर करता व जंघाओं से अन्न को ऊपर खींचता है। श्रम करके अनड्वान् और कृषक अन्न को प्राप्त करते हैं (मंत्र 10) यहाँ ब्रह्म और उसकी सृजकशक्ति का कृषि कर्म से साम्य स्थापित करके सबको श्रम करने के लिए प्रेरित किया गया है।

प्रजापति अनड्वान् के व्रत की बारह रात्रियाँ कही गई हैं। उनमें जो ब्रह्म को जानता है वह अनड्वान् के व्रत को भी जानता है (मं. 11)। प्रातःकाल, सायंकाल और मध्यदिन में इसका दोहन होता है। इस अविनाशी अनड्वान् के दोहन-कर्मों को हम जानते हैं (मंत्र 12)।

इस सूक्त में सृष्टि कर्म करने वाली शक्ति अनड्वान् के रूप में वर्णित है। अन्तिम मन्त्र में उसके दोहन कर्मों का उल्लेख होने से उसका वर्णन गो के रूप में करने की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि सृजक शक्ति के वर्णन में लिंग का भेद नहीं माना गया है। गो शब्द का उभयलिंगी होना भी इसी बात को सिद्ध करता है। यद्यपि सृजन कार्य का वर्णन, सृजन शक्ति को स्त्रीलिंगवाची मान कर गो, वाक्, बृहती, आपः आदि नामों से करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु यहाँ उसे पुल्लिंग के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में भी वैराजऋषभदृष्ट सूक्त (10।166) में ऐसी ही प्रवृत्ति अपनाई गई है। वहाँ भी ऋषभ इन्द्र का पर्याय है जिसके गोपत्ति (मंत्र 1), शत्रुनाशक (मं. 2), वाचस्पति (मं० 3) आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उसका युद्ध सृजन-विरोधी आसुरी शक्तियों में चलता है और युद्ध में विजय प्राप्त करके वह मूर्धन्य बन जाता है (मं. 5)।

ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी ऋषभ सूक्त (9।4) मिलता है जिसका ऋषि ब्रह्मा है। √बृह धातु से व्युत्पन्न ब्रह्मा शब्द सृष्टि की वृद्धि-विस्तार का संकेत है। इस सूक्त में सृष्टि-प्रक्रिया का रोचक वर्णन मिलता है।

सहस्रों प्रकार से प्रदीप्त वृषभ दुग्ध वाला है। यह जल प्रवाहों में विविध रूपों को धारण करता है। यह बार्हस्पत्य-वृषभ दाता यजमान के लिए शुभेच्छु होकर यज्ञ-तन्तु को फैलाता है (मं० 1)। इस मंत्र में बार्हस्पत्य-वृषभ का उल्लेख है जो बार्हस्पत्या या स्वायंभुवी गो का पुं-रूप ज्ञात होता है। यह वृषभ आपः-- आदि सलिल का प्रतिमा रूप था और देवी पृथिवी के समान हित सामर्थ्य से युक्त था। यह वत्सों का पिता और अहिंस्य सृजक-गोओं का पति हमें अनन्त पोषक साधनों से समवेत करता है (मं. 2)।

यह पुरुष होकर भी गर्भ धारण करता है, वृद्ध होकर भी दूध देता है और मेघ रूपी शरीर धारण करता है। अग्नि उस इन्द्र (वृषभ) के लिए हवन किये पदार्थों को देवयानों से ले जाता है (मंत्र 3)। वृषभ-वत्सों और जल प्रवाहों

का पिता और अहिंस्या गोओं का पति है। जेरी युक्त वत्स होकर वह प्रत्येक दोहन में दूध, दही, घी आदि प्रदान करता है क्योंकि यह इसी के वीर्य का प्रभाव है (मं. 4)। जल, औषधियों और घृत का रस यह संचय-दुग्ध-देवताओं का भाग है। इन्द्र ने सोम को पसंद किया उसका अवशिष्ट शरीर बृहद् अद्रि बना (मंत्र 5)। यहाँ अनड्वान् से प्राप्त अन्न-दुग्ध के दो रूपों का उल्लेख है-एक सोम आनन्द तत्त्व और दूसरा प्रज्ञाशक्ति का आवरक अद्रि-निरानंद-तत्व (इन्द्र गोओं की मुक्ति अद्रि से करता है। अतः प्रज्ञारश्मियों का आवरक अद्रि तमोमय निरानंद अवस्था है)।

वृषभ सोमपूर्ण कलश को धारण करने वाला, रूपों का निर्माता और पशुओं का जनक है। उससे सम्बद्ध गोएं हमारे लिए कल्याणकारिणी हों। स्वधा धारक (—स्वधिति) दूर स्थित गोएं भी हमें प्राप्त हों (मं० 6)। यह घृत धारण करता है इसका वीर्य घृत ही है जो सहस्रों का पोषक है। उसे ही यज्ञ कहते हैं। वह इन्द्र के रूप को धारण करने वाला है। दान देने पर वह कल्याण रूप से हमारे पास आता है (मं० 7)। वह इन्द्र का ओज, वरुण की बाहुओं की शक्ति व अश्विन के कंधों का बल धारण करता है। मनीषी लोग कहते हैं कि यह साक्षात् बृहस्पति ही संभृत किया हुआ है (मं० 8)। यहां भी वृषभ को बृहस्पति कहा गया है। अत: यह बार्हस्पत्या गो का ही नाम ज्ञात होता है।

दुग्धवान होकर वृषभ दिव्य प्रजाओं का विस्तार करता है। इन्द्र और सरस्वान् भी वही है। ऋषभ का दान करने वाला उप एक के माध्यम से हजार गोओं का दान करता है (मं० 9)। यहां "जुहोति" और "ददाति" समानार्थक पद हैं। अन्यत्र जहां भी वृषभ, अश्वादि की आहुति का उल्लेख है वहां √हु धातु को दान अर्थ—वाची मानना उचित है।

बृहस्पति व सविता उसे सामर्थ्य देते हैं। त्वष्टा वायु से उसकी आत्मा आपूरित है। अन्तरिक्ष में मन से उसे अर्पण किया जाता है। द्युलोक और पृथिवी उसके लिए (यज्ञ में आसीन होने के लिए) बर्हि है (मं० 10)। इन्द्र की तरह गोओं में शब्द करता हुआ वृषभ गमन करता है उसके उत्तम अंगों की स्तुति की जाती है (मं० 11)। उसके विविध अंग विविध देवशक्तियों के हैं (मं० 12-16)।

गोओं का अवध्यपति वृषभ कानों से कल्याणयुक्त शब्द सुनता है, सींगों से राक्षसों को मारता है और आंखों से आपत्ति का नाश करता है (मंत्र 17)। जो ब्राह्मण को वृषभ देता है वह मानो सैंकड़ों यज्ञ करता है। उससे देवता प्रसन्न रहते हैं और अग्नि दुःख नहीं देते (मं० 18)। ब्राह्मण को वृषभ देने से मन श्रेष्ठ बनता है तथा गोष्ठ में गोओं की पुष्टि होती है (मं० 19)। ऋषभदायी को गो, प्रजा और शारीरिक बल मिलता है (मं० 20)। यह पुष्ट ऋषभ इन्द्र ही है। यह दाता को चैतन्ययुक्त धन (—प्रज्ञा) प्रदान करता है। यह वशी ज्ञानी को सुदुघा-नित्यवत्सा धेनु द्युलोक से दुहे (मं० 21)। नित्यवत्सा धेनु वशा है। बार्हस्पत्य—वृषभ द्युलोक में वशा को वशी (इन्द्र) के लिए प्रदान करता है।

पिंगल वर्ण का वृषभ आकाश से अन्न लाने वाला, इन्द्र के बल से सम्पन्न और विश्व रूप है वह सब को आयु, प्रजा, धन और पोषण प्रदान करता है (मं० 22)। इस मन्त्र में वृषभ को विश्व रूप कहा गया है, यह विश्व रूपा गो से अभिन्न ज्ञात होता है। पिंगल वर्ण का वृषभ सूर्य है।

वृषभ का रेतस् और इन्द्र का वीर्य एक है (मं० 23)। इस वृषभ को गोओं के प्रति धारण करते हैं। वे वशा का अनुगमन करती हुई उसके साथ खेलती हुई विचरण करती रहें। हे उत्तम भाग्य वाली गोओं, सन्तानोत्पादन से विरत न होओ। हमें धन और पुष्टि प्रदान करो (मं० 24)। इस सूक्त से अनड्वान् सूक्त के भावों का समर्थन होता है।

परिशिष्ट ९

गो तथा जरथुस्त्रीमत

भारत की तरह पारस देश में भी गो को धर्म व समाज में पर्याप्त महत्व मिला है। पारसी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता में गो को प्रतीक के रूप में भी ग्रहण किया गया है। अवेस्ता के यस्न 29 में वर्णन मिलता है कि जरथुस्त्र का जन्म गो-रक्षण के लिए हुआ था। पूरा प्रसंग इस प्रकार है—

'तुमसे माता-पृथिवी की आत्मा—गेउस् उर्वा (—गो) ने शिकायत की कि मुझे तुमने (अहुर मज्दा ने) जन्म किस लिए दिया ? मुझे निर्मित किसने किया ? सब ओर विकृति, अपहरण और अत्याचार हैं और मेरे चारों ओर हिंसा और द्वेष का वातावरण है। तुम्हारे अतिरिक्त मुझे कोई सहायक दृष्टिगत नहीं होता। ओ स्वामी ! मुझे कोई बलवान् पुरुष दो जो मेरी रक्षा करे।' (गाथा 1)

'तब माता-पृथिवी के निर्माता ने अश से पूछा—इसका त्राता कौन होगा ? जिससे हम इसकी आत्मा को आराम दे सकें। तुम किसे उसके प्रभु व निर्देशक के रूप में चाहते हो जो सभी विकृतियों को दूर कर दे।' (गाथा 2)

'विश्वजीवन को एकसूत्र में बांधने वाला स्वामी अश, जो किसी प्राणी से घृणा नहीं करता, बोला—जो नीचे जगत् में हैं उनमें एक भी मुझे ऐसा नहीं जान पड़ता जिसके द्वारा असत्य पर सत्य की विजय प्रदर्शित की जा सके। ऐसा व्यक्ति मानवों में बलिष्ठ होना चाहिए, जिसके आह्वान पर हम शीघ्रता पूर्वक प्रतिवचन कह सकें।' (गाथा 3)

'एक अहुरमज्दा भूतकाल में देव और उनके पूजकों की सहायता के लिए की गई प्रार्थना को स्मरण रखता है और भविष्य में भी वही प्रार्थनाएं सुनेगा। वही जानता है कि हमारे लिए सर्वोत्तम क्या है। वह जो चाहता है वही होता है।' (गाथा 4)

'अतः द्रवित हृदय से करबद्ध होकर मेरी और माता-पृथिवी की आत्मा आशान्वित होकर, हे अहुरमज्दा, तुझे इस प्रार्थना सहित सम्बोधित करती है कि कभी पुण्यशील प्राणी हानि-ग्रस्त न हों न उनके शासक शत्रुओं से पराजित हों।' (गाथा 5)।

'तब अहुरमज्दा, जिससे विश्व अनुप्राणित है और जो जीवन के तन्तु का विस्तार करता है, बोला—क्या तुम्हारी दृष्टि में कोई ऐसा समर्थ, पुण्यशीलों में अग्रणी, त्राता नहीं है ? तुमको, गोपा और पृथिवी के रक्षक के रूप में, यही कार्य सौंपा गया था।' (गाथा 6)

'अहुर के पवित्र-शब्द शाश्वत नियम के रूप में चले। मज्दा ने स्वयं इन शब्दों में, उन सब के लिए जो सेवा करते हैं, माता-पृथिवी के सुस्वादु फल निर्दिष्ट किए। रुक कर अहुर-मज्दा ने 'वोहु मनो' से पूछा—तुम्हारी दृष्टि में ऐसा कौन है, जो प्राणिमात्र का उपकार कर सके।' (गाथा 7)

'वहो मनो' ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब अहुरमज्दा ने पुन: कहा—ऐसा एक यहां उपस्थित है, जो मुझे सुज्ञात है। उस अकेले ने हमारे सब आदेशों का पालन किया है। वह पवित्र जरथुस्त्र स्पितमा है। वह स्वयं को मज्दा के शाश्वत नियमों के गीतों और मन्त्रों और मधुर वाणी के माध्यम से प्रकट करने के लिए उत्सुक है। इसलिए हम उसको स्वीकृति देते हैं।' (गाथा 8)

'इस पर माता-पृथिवी की आत्मा विलाप करने लगी—क्या मुझे यह अशक्त आश्रय स्वीकार करना होगा? शक्ति के बिना शब्द मान्य नहीं होते, जबकि वस्तुत: मैं एक सशक्त राजकुमार चाहती थी। क्या कभी कोई ऐसा उत्पन्न होगा जो मेरा स्वप्न पूरा करेगा और अपने दक्षिण हाथ से मेरी रक्षा करेगा।' (गाथा 9)

'हे अहुर, उन पर अनुकम्पा करो, प्रभूत शक्ति प्रदान करो और हे अश, बल दो। हे वोहु मनो, उसे बल दो जिससे वह हमें शान्ति व सुख प्रदान करे क्योंकि हे मज्दा, हम सब स्वीकार करते हैं और तुम्हारे महा-प्रतापी पुत्र को संरक्षक और स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं। (गाथा 10)।

'कब तुम सब अश, वोहु मनो और क्षत्र अपने शुभ चरणन्यास द्वारा हमें अनुगृहीत करोगे? हे मज्दा, इस सदुपदेश का प्रसार होगा इसलिए इसे तुम अपने प्रशस्त—भ्रातृत्व के रूप में स्वीकार करो। अहुर, अब हमारी पथप्रदर्शक सहायता हमें मिली है। अत: तुम्हारी और तुम्हारे इस पुत्र की उत्साह-पूर्वक सेवा करेंगे।' (गाथा 11)

इस यस्न में सर्वत्र गेउस् को माता पृथिवी की आत्मा स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद की गो पृथिवी की तरह यहां भी गेउस् शब्द प्रथनशील प्रकृति का वाचक ज्ञात होता है। श्री कांगा के अवेस्ता कोश में जरथुस्त्र शब्द का अर्थ है—जरत्=स्वर्ण+उस्त्र=प्रभा अर्थात् स्वर्णिम प्रभा से मण्डित।

यह वैदिक हिरण्यगर्भ हो सकता है। तमोमय प्रबल आसुरी-शक्तियों की पराजय सृजक तत्त्व हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव से होती है। ऋग्वेद में कहा गया है कि बृहस्पति ने शब्द करती हुई गौओं के शब्द को सुना। इस प्रसंग में गेउस् की प्रार्थना रूप वाणी से ऋग्वेद के इस मन्त्र के भाव का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। ये शब्द सृजन-कार्य के लिए तत्पर प्राणात्मक सृजक शक्तियों के हो सकते हैं। अश की समानता विद्वानों ने ऋत से खोजी है। वहो मनो को वसु मनु माना जा सकता है। यह अग्निमय सौर-प्राण का वाचक हो सकता है। वैदिक विचारधारा में ऋत की आप: से अभिन्नता है। अत: यहाँ अश और वहो मनो अग्नि और सोम इन दो तत्वों से बनी हुई सृष्टि की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं।

डा० तारापोरवाला ने अपने 'डिवाइन सौंग्ज आफ जरथुस्त्र' नामक ग्रन्थ में गेउस् उर्वा के उर्वा या उर्वन् को मनुष्य के पाँच तत्त्वों में से दूसरा माना है जिसके द्वारा सत्य और असत्य में विवेकदृष्टि प्राप्त होती है जिससे सत्यमार्ग का चयन किया जा सकता है। इस शब्द को उन्होंने √वर् (संस्कृत √वृ) धातु से व्युत्पन्न माना है और इसका वरण करना अर्थ किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि √वृ-आच्छादने और √वृ-वरणे दोनों धातुओं से बने हुए शब्दों का श्लिष्ट रूप है और पंचकोशों में विज्ञानमय कोश का वाचक है। सृजन-शक्ति का प्रादुर्भाव विज्ञानमय कोश में ही होता है अतः गेउस् उर्वा को विज्ञानमय कोश में स्थित परा-शक्ति का वाचक माना जा सकता है। ऋग्वेद में जैसे बौद्धिकवृत्तियों के पराशक्ति में जाने की कामना की जाती है। वैसे ही अवेस्ता में भी 'या क्ष्नविषा गेउश्चा उरवानेम्' (अर्थात् मैं जीवन की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूँ) कह कर विज्ञानमय स्थित पराशक्ति को सन्तुष्ट करने की कामना की गई है।

अवेस्ता में 'गेउस् तषा' के नाम से जीवन के निर्माता का उल्लेख भी मिलता है जो जीवन के रहस्यों को अश में प्रकाशित करता है (यस्न 46।9)। अन्यत्र यह कहा गया है कि असत्यानुयायी अश के पक्ष वालों को रोकते और इस प्रकार सृष्टि का विकास रोकते हैं। (यस्न 46।4)। इन असत्यानुयायियों को ऋग्वेद की पणि, वृत्र, बल आदि आसुरी शक्तियों से अभिन्न माना जा सकता है। माता पृथिवी व उसके पूजकों से प्रेम करने व उनकी रक्षा करने के अहुरमज्दा के आदेश को पालन न करने वाले दुर्जन अन्त में असत्य लोकों में भ्रमण करते हुए नष्ट हो जाते हैं। (यस्न 51।14) अवेस्ता में माता पृथिवी के लिए श्रम करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। (यस्न 48.5) गेउसः उर्वा के उपर्युक्त सन्दर्भ में इन गाथाओं में आध्यात्मिक साधना की ओर संकेत मानना उचित होगा।

एर्वद के० एस० दाबू के अनुसार अवेस्तन भाषा का गो शब्द √गि या √जि (जीना) धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण प्राणी वर्ग, विश्व का प्राण। उनके अनुसार धार्मिक-कार्यों में जीवन की आत्मा (गेउस्) के प्रतीक दूध, घृत आदि ग्रहण किए जाते हैं। यज्ञ में जल, दुग्ध और अंगूर का रस क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश के वाचक माने जाते हैं। गओमस्त जस्त—घी दूध से भरे हाथ ही आहुति अर्पण करने योग्य माने गये हैं। (गो तथा जरदुश्ती मत—कल्याण गो अंक में प्रकाशित पृ०216–18)

श्री दाबू के उपर्युक्त लेख से यह भी पता चलता है कि पारसी मन्दिरों में श्वेत-वृषभ का अभिषेक होता है, कर्मकाण्ड में पूंछ के बालों को अँगूठी में लपेट कर प्रयुक्त किया जाता है और निरंगदीन उत्सव में वृषभ मूत्र को अभिमंत्रित किया जाता है। पारसियों में आशीर्वाद भी गो-वृद्धि का दिया जाता है।

'अर्दाविराफनामा' नामक पुस्तक में वर्णन मिलता है कि नरक में किसी सन्तप्त पुरुष का पैर, गो को चारा डालने के कारण दुःख मुक्त था। डा० तारापोरवाला के अनुसार जरथुस्त्र ने गो-दुग्ध से यज्ञ किया था (डिवाइन सौंग्ज आफ जरथुस्त्र पृ० 67–68)। वेंडिदाद अध्याय 3 के अनुसार गोचर—

भूमि नष्ट करने वालों को पृथिवी की आत्मा शाप देती है और गोचरण स्थान पर पृथिवी प्रसन्न रहती है। प्रो० फीरोज कावस जी दावर (देखो गो अंक—कल्याण पृ० 218—19) के अनुसार पारसी-धर्म में गो को सताना दुष्टता का लक्षण माना गया है।

अवेस्ता के अनुसार छठे गहांबार (युग) में मनुष्य-सृष्टि सुन्दर बैल रूप-गेउश् हूधाओ तथा गाव्योदाद से हुई। ये वैदिक द्यावा--पृथिवी के अनुरूप ज्ञात होते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद की तरह अवेस्ता में भी गो सृजक शक्ति की प्रतीक मानी गई है और पारसी लोगों में गो की प्रतिष्ठा का कारण अवेस्ता है।

संकेत सूची

अग्नि पुराण	अपु	अथर्ववेद	अवे
ऋग्वेद	ऋ.	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐब्रा
ऐतरेय आरण्यक	ऐआ	ऐतरेयोपनिषद्	ऐउ
यजुर्वेद काठक संहिता	यका	यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता	यवेवा
किरातार्जुनीयम्	किरात	गोज्ञानकोश	गोको
गोपथ ब्राह्मणम्	गोब्रा	छान्दोग्योपनिषद्	छाउ
जैमिनीय ब्राह्मण	जैब्रा	ताण्डयमहाब्राह्मणम्	तामब्रा
तैत्तिरीय ब्राह्मणम्	तैब्रा	देवीभागवत पुराणम्	देभापु
निरुक्त	नि०	निघंटु	निघं
पद्म पुराणम्	पपु	बृहद्दारण्यकपनिषद्	बृ. उ.
मत्स्य पुराणम्	मपु	मनुस्मृति	मनु
याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञ	महाभारत	मभा
वाल्मीकि रामायण	वारा	विज्ञान विद्युत	विवि
सामवेद संहिता	सावे	स्कन्द पुराणम्	स्कन्द
वेद लावण्यम्	वेला	वैदिक दर्शन	वैद
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति			वैविभासं
वैदिक साहित्य	वैसा	वैदिक साहित्य और संस्कृति	वैसासं
शतपथ ब्राह्मणम्	शब्रा	शांखायन ब्राह्मणम्	शांब्रा
श्रीमद्भागवत पुराण	भापु	श्रीमद्भगवद् गीता	भगी
वेद रहस्य	वेर	नैषधीयचरितम्	नैषध
शिशुपाल वधम्	शिशु	रघुवंश	रघु
एनसाइक्लो पीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स			इरिए
स्पार्क्स फ्राम दी वैदिक फायर वैदिक एटमोलोजी			वैइ
हिम्स फ्राम दि मिस्टिक फायर	हिमिफा	वैदिक रीडर	वैरी
विजनइन दि लौंग डार्कनेस	विलोडा	वैंकटमाधवभाष्य	वैमा
सायण भाष्य	साभा	दयानन्द भाष्य	दभा

— —

सहायक ग्रन्थ सूची

1 अग्नि पुराण (मनसुखलाल मोर संस्करण—कलकत्ता)
2 अथर्ववेद मूल (पारडी)
3 अथर्ववेद सायण भाष्य और हिन्दी अनुवाद सहित (मुरादाबाद)
4 अथर्ववेदीय कौशिकग-ह्यसूत्रम्—(मुजफ्फरपुर)
5 अमरकोश (मूल)
6 अर्थ शास्त्र कौटिल्य (गैरोला सम्पादित-चौखंबा)
7 अष्टाध्यायी पाणिनि (मूल)
8 अस्यवामीय सूक्तम् कुन्हन् राजा (मद्रास)
9 आख्यातिकः (अजमेर)
10 आपस्तम्ब गृह्यसूत्रम् (मूल)
11 आश्वलायन गृह्यसूत्रम् (मूल)
12 ईशोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
13 उरुज्योति डा. वासुदेवशरण अग्रवाल
14 उत्ताराध्ययन सूत्र (मूल)
15 उत्तररामचरित नाटक भवभूति
16 ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकानां संग्रह : सायण (बलदेव उपाध्याय)
17 ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती
18 ऋग्वेद संहिता सिद्धांजन भाष्य टी. बी. कपालिशास्त्री
19 ऋग्वेद संहिता वेंकटमाधव भाष्य सहित
ऋग्वेद संहिता आलोक भाष्य (अजमेर)
21 ऋग्वेद संहिता रामगोविन्द त्रिवेदी
22 ऋग्वेद संहिता स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत भाष्य संहिता (अजमेर)
23 ऋग्वेद भाष्यम् स्कन्द स्वामी
24 ऋग्वेद संहिता सायण भाष्य सहित
25 ऋग्वेदिक आर्य राहुल सांकृत्यायन
26 ऋग्वेद के ऋषि, उनका सन्देश और दर्शन डा. सुधीर कुमार गुप्त
27 ऐतरेय ब्राह्मणम् सायण भाष्य सहित (पूना)
28 ऐतरेय आरण्यकम् सायण भाष्य सहित (पूना)
29 ऐतरेयोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
30 कठोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
31 कबीर ग्रन्थावली अशोक प्रकाशन—दिल्ली
32 काठक संहिता—यजुर्वेदीय (मूल-पारड़ी)
33 कात्यायन श्रौतसूत्रम् कर्क भाष्य सहित (बनारस)
34 काव्य प्रकाश मम्मट (साहित्य सम्मेलन प्रयाग)

35 कार्तिकेयानुप्रेक्षा (मूल)
36 कल्पवृक्ष डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
37 कृष्णोपनिषद् (मूल)
38 केनोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
39 किरातार्जुनीयम् भारवि
40 कौषीतकि ब्राह्मणम् (मूल)
41 कौषीतकि उपनिषद् (मूल)
42 गद्यपारिजात-विवरण डा. सुधीर कुमार गुप्त
43 गोज्ञान कोश 2 भाग पं० सातवलेकर
44 गोपथब्राह्मणम् गास्ट्रा सम्पादित (मूल)
45 चरक संहिता पं० जयदेव विद्यालंकार सम्पादित (अजमेर)
46 चरित्र पाहुड़ (मूल)
47 चिन्तामणि भाग 2 पं० रामचन्द्र शुक्ल
48 छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
49 छान्दोग्य ब्राह्मणम् (मूल)
50 जैमिनीय ब्राह्मणम् (मूल) डा० रघुवीर द्वारा सम्पादित
51 जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मणम् मूल (लाहौर)
52 तसव्वुफ और सूफीमत डा० चन्द्रवली पाण्डेय
53 तांडल महाब्राह्मणम् सायणभाष्य सहित (बनारस)
54 तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि डा० गोपीनाथ कविराज
55 तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
56 तैत्तिरीयारण्यकम् सायण भाष्य सहित (पूना)
57 तैत्तिरीय संहिता (मूल पारड़ी)
58 दयानन्द ग्रन्थावली अजमेर
59 दुर्गासप्तशती (मूल-गोरखपुर)
60 देवी भागवत पुराण (मनसुखराय मोर संस्करण)
61 धम्मपद (मूल)
62 धर्म रहस्य स्वामी विवेकानन्द
63 धातु पाठः (अजमेर)
64 निघटु-यास्क (अजमेर)
65 निरुक्त-यास्क (पं. सीताराम शास्त्री की हिन्दी व्याख्या सहित)
66 नीति मंजरी द्या द्विवेद
67 नारायणोपनिषद् (मू
68 नाट्य शास्त्र भरत मुनि
69 नैषधीयचरितम् श्री हर्ष
70 न्याय दर्शनम्
71 पद्म पुराण (मनसुखराय मोर संस्करण कलकत्ता)

72 परमात्मिकोपनिषद् (मूल)
73 पृश्नोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
74 वृहद्देवता-शौनक (चौखम्बा)
75 वृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य
76 ब्राह्मण की गौ अभय विद्यालंकार
77 ब्रह्म समन्वय पं. मधुसूदन ओझा (जयपुर)
78 ब्रह्म सिद्धान्त पं. मधुसूदन ओझा (जयपुर)
79 भारत में शक्ति पूजा स्वामी शारदानन्दजी
80 भारतीय प्रतीक विद्या डा० जनार्दन मिश्र
81 भाषा विज्ञान डा० भोलानाथ तिवारी
82 मत्स्य पुराणम् (मनसुखराय मोर संस्करण कलकत्ता)
83 मनु-स्मृति कुल्लूक भट्टीय टीका सहित
84 मंत्रार्थ चन्द्रोदय दामोदर शर्मा
85 महर्षिकुलवैभवम् पं. मधुसूदन ओझा
86 महाभाष्यम् पतंजलि
87 महाभारत (गोरखपुर संस्करण)
88 महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
89 मन्त्रिकोपनिषद् (मूल)
90 मीमांसादर्शनम् आर्यमुनि द्वारा अनूदित और सम्पादित
91 मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य (गोरखपुर)
92 माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य (गोरखपुर)
93 मेघदूतम् डा० सुधीरकुमार गुप्त सम्पादित
94 मैत्रायणी-संहिता मूल (पारडी)
95 मैत्रायणी-आरण्यकम् (पारडी)
96 यजुर्वेद—वाजसनेयी संहिता (मूल पारडी)
97 यज्ञतत्त्वप्रकाश चिन्न स्वामी शास्त्री
98 यज्ञ सरस्वती पं० मधुसूदन ओझा
99 याज्ञवल्क्य स्मृति मिताक्षरा टीका सहित
100 योगचूड़ामणि उपनिषद् (मूल)
101 रामायण वाल्मीकि (मूल-बनारस)
102 रघुवंश कालिदास—संजीवनी टीका सहित

103	वायुपुराणम्	(मूल)
104	वाक्पदीयम्	भर्तृहरि, बनारस
105	विनयपिटक	राहुल सम्पादित
106	विज्ञान विद्युत्	पं० मधुसूदन ओझा
107	विश्वधर्म और दर्शन	सांवलिया बिहारीलाल वर्मा
108	वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन—(शोधप्रबन्ध)	डा० सुधीरकुमार गुप्त
109	वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन का सार	डा० सुधीरकुमार गुप्त
110	वेद रहस्य—3 भाग	श्री अरविन्द
111	वेदलावण्यम्–2 भाग	डा० सुधीरकुमार गुप्त
112	वेद विद्या	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
113	वेद विज्ञान बिन्दु	पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी
114	वैदिक कोश	हंसराज
115	वैदिक दर्शन	डा० फतहसिंह
116	वैदिक छन्दोमीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक
117	वैदिक स्वर मीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक
118	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	पं०गिरधर शर्मा चतुर्वेदी
119	वैदिक देवशास्त्र	डा० सूर्यकान्त
120	वैदिक माइथोलोजी	अनु० रामकुमार राय (चौखंबा)
121	वैदिक सम्पत्ति	पं० रघुनन्दन शर्मा
122	वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी
123	वैदिक साहित्य और संस्कृति	पं० बलदेव उपाध्याय
124	वैदिक समाज-शास्त्र में यज्ञ की कल्पना	डा० फतहसिंह
125	वैशेषिक दर्शनम्	
126	शतपथ ब्राह्मणम्–2 भाग	चिन्न स्वामी सम्पादित
127	शतपथ ब्राह्मणम्	सायण भाष्य सहित, बम्बई
128	शांखायन ब्राह्मणम्	(मूल)
129	शिशुपालवधम्	माघ
130	श्वेताश्वतरोपनिषद्	शांकरभाष्य (गोरखपुर)
131	श्रीमद्भागवत पुराण	(मूल–गोरखपुर)

132 श्रीमद्भगवद् गीता (मूल—गोरखपुर)
133 सामवेद (मूल—पारडी)
134 संहितोपनिषद् ब्राह्मणम् (मूल)
135 सत्य की खोज डा० राधाकृष्णन्
136 सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर
137 संस्कृति और सभ्यता पं० मोतीलाल शर्मा
138 सुत्तनिपात (मूल)
139 सूरसागर नागरी प्रचारिणी सभा
140 स्कन्दपुराणम् (मनसुखराय मोर संस्करण)
141 हिन्दू-सभ्यता राधाकुमुद मुकर्जी
142 हिन्दू-देव-परिवार का विकास डा० सम्पूर्णानन्द
143 वैदिक पदानुक्रम कोष विश्वबन्धु (होशियारपुर)
144 विष्णु-पुराण (गोरखपुर)
145 वेद का स्वरूप विचार पं० मोतीलाल शर्मा जयपुर
146 तर्क से वेद का अर्थ पं० सातवलेकर (पारडी)
147 दशवादरहस्यम् मधुसूदन ओझा (जयपुर)
148 उमासहस्रम् वासिष्ठ गणपति मुनि

पत्र–पत्रिकाएँ

अमृतलता (पारडी)
कादम्बिनी (इलाहाबाद)
कल्याण (गोरखपुर)
नवभारती (श्री गंगानगर)
गंगानाथ झा रिसर्च जरनल (इलाहाबाद)
वेदवाणी (बनारस)
वैदिक धर्म (पारडी)
सविता (अजमेर)
साप्ताहिक हिन्दुस्तान (दिल्ली)
जरनल ऑफ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
राजस्थान यूनिवर्सिटी स्टडीज (जयपुर)
आर्यावर्त (लश्कर)

List of the English - Books

1 Aditi and other deities in Veda—M.P. Pundit
2 Asya Vamiya Hymu—Kunhan Raja
3 Divine Songs of Jarthustra—Taraporewala
4 Drapsa: The Vedic Cycle of Eclipses—Dr. R. Shamshastri
5 Eclipse Cult in the Vedas, Bible and Koran—R. Shamshastri
6 Elements of Comparative Philogy—Taraporewala
7 Encyclopaedia - of Religion and Ethics—Edited by James Hastings Vol 4. III Impression 1954.
8 Garland of Lettrs—Arthur Avalon.
9 Hymns from the Mystic fire—Aurobindo Ghose
10 Hymns from the Rigveda—P. Peterson
11 Mysticism in the Rigveda—T. G. Mainkar
12 On the Veda—Aurobindo Ghose
13 Origin and Evolution of Religion—Hopkins
14 Rigveda—Translated by Wilson.
15 Rigveda—Translated by Griffith
16 Samvede—Translated by Griffith.
17 Savitri an approach and Study—A. B. Purani
18 Sparks from the Vedic fire—V. S. Agrawal.
19 Studies in Vedic Interpretation—A. B. Purani.
20 Studies in Islamic Mysticism—Fares
21 The Tantric Doctrine of Immaculate Conception—Elizabeth Sharpe
22 Vedic Index—-Macdonell and Kieth
23 Vedic Etymology—Fateh Singh
24 Vedic Reader—A. A. Macdonell
25 Vedic Origin of Zoroastrianism—R. R. Kashyap
26 Vision in the Long darkness—V. S. Agrawal
27 World Power:Power as Consciousness—woodroffe
28 World as Power : Power as Reality—Woodroffe
29 World as Power—Power as Cousality and Continuity—Woodroffe
30 Student's Sanskrit English Dictionary—V. S. Apte
31 Sanskrit English Dictionary—Monier Willams.